TEXT FLY WITHIN
THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY
OU_186047
UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—707—25-4-81—10,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81 D483 Accession No. P.G. H3202

Author भाटी, देशराजसिंह

Title दिनकर और उनकी उर्वशी. 1963.

This book should be returned on or before the date last marked below

आलोचनात्मक अध्ययन

दिनकर और उनकी उर्वशी

(उर्वशी का आलोचनात्मक तथा व्याख्यात्मक अध्ययन)

लेखक

प्रो० देशराजसिंह भाटी एम० ए०

प्रकाशक :
अशोक प्रकाशन,
नई सड़क, दिल्ली-६

●

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन हैं
प्रथम संस्करण : १९६३
मूल्य : ७·५०

दिनकर और उनकी उर्वशी

: १ :

दिनकर का जीवनवृत्त

हिन्दी-साहित्य के ओजस्वी कवि श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' का जन्म सन् १६०६ ई० में मुंगेर जिले के सिमरियाघाट नामक ग्राम में एक साधारण से कृषक परिवार में हुआ था। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा सिमरिया के मिडिल स्कूल में ही सम्पन्न हुई। मिडिल पास करने के पश्चात् इन्होंने मुकामाघाट के स्कूल में प्रवेश लिया और वहां से एन्ट्रेंस की परीक्षा उत्तीर्ण की। सन् १६३२ ई० में पटना से बी० ए० ऑनर्स (इतिहास) की परीक्षा पास की।

इसके पश्चात् इन्होंने कर्मक्षेत्र में प्रवेश किया। सन् १६४२ ई० तक इन्होंने एक स्कूल के मुख्याध्यापक का पद सुशोभित ही नहीं किया, बल्कि अपनी कर्म-कुशलता से सफलतापूर्वक अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह भी किया। तदुपरान्त इनकी नियुक्ति सब-रजिस्ट्रार के पद पर हुई। वहां भी इन्होंने अपनी कर्त्तव्य-परायणता का प्रभावशाली प्रमाण दिया। सन् १६४७ ई० में इन्होंने युद्ध-प्रचार-विभाग में डिप्टी-डायरेक्टर के पद पर कार्य किया। तत्पश्चात् कुछ दिनों तक भूमिहार ब्राह्मण कालिज, मुजफ्फरपुर में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष रहे। आजकल ये भारत की संसद् के मनोनीत सदस्य हैं। हिन्दी-जनता के अतिरिक्त भारत सरकार भी आपका अत्यधिक सम्मान करती है और समय-समय पर सम्मान-सूचक मंडलों से तथा विदेशों में शिष्ट मंडलों के साथ भेजकर अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति करती रहती है।

'दिनकर' में काव्य-प्रतिभा जन्म-जात कही जा सकती है। जब ये विद्यार्थी-जीवन में ही थे, तब ही इनकी दो कृतियां—बारदोली-विजय और प्रणभंग प्रकाशित हो चुकी थीं। कालान्तर में यही प्रतिभा चरम विकास की ओर बढ़ती गई। आज कवि तथा चिन्तक के रूप में इनका अपने ही देश में नहीं, विदेशों में भी पर्याप्त सम्मान और प्रभाव है। ये अत्यन्त प्राणवान् व्यक्तित्व-

सम्पन्न कवि हैं। इनके व्यक्तित्व की भावुकता तथा कर्मठता इनके काव्य में सफलता से अभिव्यक्त हुई है।

अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है कि राजनीति में प्रवेश करने के पश्चात् भी इनका साहित्यिक जीवन निरन्तर प्रगतिशील है और अनेक नवीन रचनाओं से हिन्दी मां के गौरव में अभिवृद्धि कर रहा है। हाल ही में इनका 'उर्वशी' महाकाव्य प्रकाशित हुआ है, जिसके प्रकाशन ने हिन्दी-साहित्य में मृतप्राय महाकाव्य-परम्परा को नवजीवन प्रदान कर दिया है। राष्ट्रभाषा के इस सजीव एवं कर्मठ साधक से हिन्दी-मां को अभी बहुत-बहुत आशायें हैं।

भगवान् इन्हें चिरायु, नव-शक्ति और नवीन प्रेरणायें प्रदान करें!

काव्य-प्रेरणा

संस्कृत-काव्यशास्त्र के अग्रणी आचार्य और काव्यप्रकाशकार मम्मट ने काव्य-हेतु इस प्रकार बताये हैं—

'शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥'

अर्थात् शक्ति अथवा कवि-प्रतिभा, निपुणता अथवा व्युत्पत्ति जो लोक-जीवन के अनुभव और निरीक्षण, शास्त्रों के अनुशीलन और काव्य इत्यादि के विवेचन का परिणाम है, तथा अभ्यास या कवि और काव्य-विमर्शक के उपदेश का अनुसरण करना काव्य के हेतु (कारण) कहलाते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि वही व्यक्ति कवि बन सकता है जिसमें कवि-प्रतिभा है, निपुणता है—लोक-जीवन के अनुभव, शास्त्रों का अनुशीलन और काव्य आदि का विवेचन करने की शक्ति है। जो निरन्तर काव्य-रचना में अभ्यास-रत रहता है, अन्य कवि अथवा काव्य-कृतियों का अनुसरण करने का प्रयास करता है। 'दिनकर' के काव्य-प्रेरणा के विषय में भी ये वाक्य अक्षरशः सत्य सिद्ध होते हैं। इनके जीवन की कोई भी ऐसी घटना ज्ञात नहीं, जिससे भावाभिभूत होकर इनकी कविता आंखों से चुपचाप निकलकर अनजाने ही बह निकली हो। इनका काव्य तो सूक्ष्म निरीक्षण, पर्यवेक्षण, विवेचन, अनुसरण और सतत अभ्यासपूर्ण प्रयासों की परिणति है। अपनी काव्य-प्रेरणा के विषय में 'चक्रवाल' की

भूमिका में स्वयं कवि ने जो विचार प्रकट किये हैं तथा इनकी कृतियों से जिन विचारों का अनुमान किया जा सकता है, उनके आधार पर उनकी काव्य-प्रेरणा का स्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट किया जा सकता है—

१. नाटकों और रामलीलाओं का प्रभाव,

२. हिन्दी और अहिन्दी कवियों का प्रभाव,

३. तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव ।

नाटकों और रामलीलाओं का प्रभाव

बालक 'दिनकर' जब कभी भी किसी नाटक अथवा रामलीला को देखते तो उनके गीतों की धुन इनके मस्तिष्क में चक्कर काटने लगती । जब तक ये उन धुनों पर आधृत गीतों की रचना न कर लेते, तब तक इनका मन उदास और खिन्न रहता । इस प्रकार इनका काव्याभ्यास निरन्तर बढ़ता गया । स्वयं कवि ने इस सत्य को इन शब्दों में स्वीकार किया है—

'जहां तक याद है, कविता लिखने की प्रेरणा मुझ में नाटक और रामलीला देखकर उत्पन्न हुई । जब भी मैं नाटक वालों के मुख से कोई गीत सुनता, दूसरे दिन उसी धुन में एक नया गीत बना लेता । —चक्रवाल, पृ० २५

हिन्दी और अहिन्दी कवियों का प्रभाव

हिन्दी कवियों में गोस्वामी तुलसीदास, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी, सुभद्राकुमारी चौहान और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का प्रभाव विशेष रूप से बाल-कवि 'दिनकर' पर पड़ा । इस प्रभाव की स्वीकृति 'दिनकर' ने इस प्रकार दी है—

"यह भी प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति के ही आस-पास की बात है, जब मैं आठ-दस साल का रहा होऊंगा । तब सन् १९२० ई० में कानपुर के प्रताप में 'एक भारतीय आत्मा' की वह कविता छपी जिसे उन्होंने लोकमान्य तिलक की मृत्यु पर लिखा था । इस कविता का मुझ पर अत्यन्त प्रभाव पड़ा······ पत्र-पत्रिकाओं से रस पाकर जब मैं समकालीन काव्य-पुस्तकों की ओर बढ़ा तब मुझे भारत-भारती मिली, जयद्रथ-वध और शकुन्तला तथा किसान

पढ़ने का अवसर मिला एवं जब श्री रामनरेश त्रिपाठी का 'पथिक' निकला, मैं उस ग्रन्थ में आपाद-मस्तिष्क डूब गया। 'पथिक' मुझे इतना पसन्द आया जितना और कोई ग्रन्थ नहीं रुचा था। उन्हीं दिनों मैंने 'पथिक' के अनुकरण पर 'वीर-बाला' और 'जयद्रथ-वध' के अनुकरण पर 'मेघनाद-वध' ये दो खण्ड-काव्य लिखने आरम्भ किये, किन्तु दोनों के दोनों प्रयास तीन-चार सर्गों तक चलकर ही अवरुद्ध हो गये।' —चक्रवाल, पृ० २५

अहिन्दी-कवियों में शेली, वर्ड्सवर्थ, रवीन्द्र, नजरुल, इकबाल और जोश का इन पर काफी प्रभाव पड़ा—

'कालेज में मुझ में शेली और वर्ड्सवर्थ, दोनों के लिए उत्साह था और बंगला सीख कर तभी मैंने रवीन्द्र और नजरुल से भी परिचय बढ़ा लिया था। पीछे जब मैं नौकरी करने लगा, तब मैंने उर्दू सीखी और इकबाल तथा जोश का मैं भक्त बन गया।' —चक्रवाल, पृ० २७

तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव

'दिनकर' के काव्य में जो हुंकार और आग है,इसका आविर्भाव तत्कालीन राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों के परिचय तथा प्रभाव के कारण ही हुआ। उन दिनों समूचा देश स्वतन्त्रता के लिये जूझ रहा था, देश-भक्तों के नित नये बलिदानों की गिनती निरन्तर बढ़ती जा रही थी और गांधी जी का 'असहयोग आन्दोलन' भारतीयों के जीवन में नवाशा और नवचेतना का संचार कर रहा था। इन परिस्थितियों से 'दिनकर' के मानस का अदम्य विद्रोह कविता का माध्यम लेकर फूट पड़ा। इस विद्रोह में इनके प्रान्त की सामाजिक दारुण परिस्थितियों ने आग में घी का काम किया। डा० नगेन्द्र ने इस प्रान्त की दयनीय स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है—

'दिनकर' ऐसे प्रान्त का कवि है जहां निर्धनता अट्टहास करती है। वर्ग-वैषम्य भी बिहार से अधिक शायद रियासतों में ही मिले। इसके अतिरिक्त इन बेचारे भूखे-नंगों को प्रकृति के खूनी दांतों और पंजों का भी शिकार बनना पड़ता है।' —विचार और अनुभूति पृ० ८१

इस वातावरण में रहकर 'दिनकर' की कविता राष्ट्रीयता के आवरण में क्रांति एवं आग उगलने लगी और इनकी चेतना में साम्यवाद बैठ गया जो 'कुरुक्षेत्र' में अपने सम्पूर्ण रूप में प्रकट हुआ—

'वट की विशालता के नीचे जो अनेक वृक्ष
ठिठुर रहे हैं उन्हें फैलने का वर दो;
रस सोखता है जो मही का भीमकाय वृक्ष
उसकी शिरायें तोड़ो, डालियाँ कतर दो'

———

: २ :

दिनकर की काव्य-कृतियां

'दिनकर' की साहित्य-प्रतिभा पद्य और गद्य दोनों में समान है। ये जितने सफल कवि हैं, उतने ही सफल गद्य-लेखक भी हैं। इनकी पद्य और गद्य की कुल कृतियां अब तक २८ प्रकाशित हो चुकी हैं। यहां पर इनकी केवल काव्य-कृतियों का उल्लेख अपेक्षित है—

काव्य-कृति	प्रकाशन-काल
१. बारदोली-विजय	१९२८ ई०
२. प्रणभंग (खण्ड काव्य)	१९३० ई०
३. रेणुका	१९३५ ई०
४. हुंकार	१९३८ ई०
५. रसवन्ती	१९३९ ई०
६. द्वन्द्व गीत	१९४० ई०
७. सामधेनी	१९४६ ई०
८. धूप-छांह	१९४६ ई०
९. कुरुक्षेत्र	१९४६ ई०
१०. बापू	१९४७ ई०
११. इतिहास के आंसू	१९५२ ई०
१२. धूप और धुआं	१९५३ ई०
१३. रश्मिरथी	१९५३ ई०
१४. रेती के फूल	१९५४ ई०
१५. नील कुसुम	१९५५ ई०
१६. उजली आग (गद्य-काव्य)	१९५६ ई०
१७. नीम के पत्ते	१९५६ ई०

१८. दिल्ली १९५६ ई०
१९. सीपी और शंख (अनूदित कविता-संग्रह) १९५७ ई०
२०. नये सुभाषित (सूक्ति-संग्रह) १९५७ ई०
२१. उर्वशी (गीति-नाट्य) १९६१ ई०

इनके अतिरिक्त चक्रवाल नाम से इनका एक काव्य-संग्रह भी है जिसमें रेणुका से लेकर नील कुसुम तक की चुनी हुई कविताएं हैं। इसका प्रकाशन-काल सन् १९५६ ई० है। यहां पर कवि की प्रमुखतम कृतियों का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक प्रतीत होता है ताकि कवि की विकास-प्रक्रिया को समझ लिया जाये।

रेणुका

रेणुका में संगृहीत कवितायें तीन खंडों में विभाजित हैं—व्योम कुंजों की परी अयि कल्पने, गा रही कविता युगों से मुग्ध हो, और फूंक दे जो प्राण में उत्तेजना। इस संग्रह की समस्त कविताओं में कवि की पाँच प्रकार की भावनायें परिलक्षित होती हैं—

१. प्रगति-भावना, २. राष्ट्रीय भावना, ३. शृंगार-भावना, ४. अध्यात्म-भावना, ५. प्रकृति-चित्रण की भावना।

'रेणुका' का कवि इस विषमतापूर्ण और पीड़ित संसार में समता तथा सुख लाने का इच्छुक है। जिस प्रकार 'साकेत' के राम इस भूतल पर स्वर्ग का सन्देश लेकर नहीं आते, बल्कि इस भूतल को ही स्वर्ग बना देना चाहते हैं, उसी प्रकार 'रेणुका' का कवि कल्पना का वैभव त्यागकर इसी धरा को अलका बनी देखने का अभिलाषी है—

'व्योम-कुंजों की परी अयि कल्पने, भूमि को निज स्वर्ग पर ललचा नहीं।
उड़ न सकते हम धुमैले स्वप्न तक, शक्ति है तो आ बसा अलका यहीं।'

कवि-कल्पना का सामाजिक बन जाना प्रगतिवाद की प्रमुख विशेषता है। प्रगतिवादी समाज के पुनर्निर्माण के लिए वर्तमान समाज का ध्वंस आवश्यक मानता है। 'रेणुका' का कवि भी अपनी कविता से जग में ज्वाला सुलगाने की प्रार्थना करता है—

'क्रांति धात्रि कविते ! जागे, उठ आडम्बर में आग लगा दे,
पतन, पाप, पाखंड जलें जग में ऐसी ज्वाला सुलगा दे।'

राष्ट्रीय भावना के अन्तर्गत कवि का वर्तमान के प्रति असन्तोष और अतीत के प्रति अनुराग व्यक्त हुआ है। अतीत के प्रति अनुराग-प्रदर्शन भी राष्ट्रीय कवियों की एक परम्परा सी रही है। यह भावना प्रायः दो रूपों में प्रकट होती है-एक तो विद्रोह के रूप में जहां कवि वर्तमान के ध्वंस की कामना करता है। 'रेणुका' में 'तांडव' कविता इसी रूप का प्रतिपादन करती है—

'नाचो हे, नाचो, नटवर !
चन्द्रचूड़ ! त्रिनयन ! गंगाधर ! आदि-प्रलय ! अवढर ! शंकर !
नाचो हे, नाचो, नटवर !!'

दूसरा रूप है अतीत की गौरव-गाथा का गान। उदाहरणार्थ, 'रेणुका' की 'हिमालय' कविता की कुछ पंक्तियां प्रस्तुत हैं—

'तू पूछ अवध से, राम कहां ? वृन्दा ! बोलो घनश्याम कहां ?
ओ मगध ! कहां मेरे अशोक ? वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहां ?
× × × ×
री कपिलवस्तु ! कह, बुद्ध देव के वे मंगल उपदेश कहां ?
तिब्बत, ईरान, जापान, चीन, तक गये हुए संदेश कहां ?'

किन्तु इस विद्रोह में भविष्य-निर्माण की कोई योजना परिलक्षित नहीं होती, केवल कवि का वर्तमान के प्रति असन्तोष और तज्जन्य क्रन्दन ही स्पष्टतः मुखरित है।

'रेणुका' के कवि की शृंगार-भावना को भी अभिव्यक्ति मिली है, किन्तु यह भावना छायावादियों की सी कुंठित और धूमिल नहीं, बल्कि स्वस्थ, सन्तुलित और स्पष्ट है। यथा—

'पनघट से आ रही पीत वसना युवती सुकुमार,
किसी भांति ढोती गागर-यौवन का दुर्वह भार।
बनूंगी मैं कवि ! इसकी मांग, कलश, काजल, सिन्दूर सुहाग।'

यह कवि की 'कविता की पुकार' है। शृंगार का यह वर्णन स्वस्थ और संयमित होने के साथ-साथ उदात्त भी है।

'रेणुका' की अध्यात्म-भावना किसी गंभीर चिन्तन की परिणति नहीं, बल्कि इसमें साधारण और स्वाभाविक दार्शनिक विचारों को ही व्यक्त किया गया है। जैसे—जीव और ब्रह्म का उल्लेख, सृष्टि की नश्वरता, संसार का अन्त दुःखमय आदि। जीवन और यौवन की नश्वरता का यह वर्णन देखिए—

'जीवन का मधुमय उल्लास, औ' यौवन का हास-विलास।
रूप-राशि का यह अभिमान, एक स्वप्न है, स्वप्न अज्ञान।'

'रेणुका' में प्रकृति का प्रयोग प्रायः राष्ट्रीयता की भावना से आविर्भूत विद्रोह, अध्यात्म-भावना और शृंगार-भावना को अभिव्यक्ति देने के लिए किया गया है। यथा—

विद्रोह—**'धधक उठा तेरे मरघट में जिस दिन सोने का संसार,**
एक-एक कर लगा दहकने मगध-सुन्दरी का शृंगार।
जिस दिन जली चिता गौरव की, जय भेरी जब मूक हुई,
जमकर पत्थर हुई न क्यों, यदि टूट नहीं दो टूक हुई।'

—पाटलिपुत्र की गंगा से

अध्यात्म-भावना—**'एक बात है सत्य की झर जाते हैं खिलकर फूल यहां,**
जो अनुकूल वही बन जाता दुर्दिन में प्रतिकूल यहां।
मैत्री के शीतल कानन में छिपा कपट का शूल यहां,
कितने कीटों से सेवित है मानवता का मूल यहां।
इस उपवन की पगडंडी पर बचकर जाना परदेशी,
यहां मेनका की चितवन पर मत ललचाना परदेशी।'

—परदेशी

शृंगार-भावना—**'मुक्ता कुंतल में गूंथ शुक्र का पहन कुसुम-कर्णाभूषण।**
दिग्वधू क्षितिज पर बजा रही मंजीर, चपल कंप रहे चरण।
रुनझुन रुनझुन किसका शिंजन?'

—अमा-सन्ध्या

यदि इन पांचों भावनाओं का विश्लेषण किया जाये तो कहा जा सकता है कि प्रगति और राष्ट्रीय भावना कवि की समष्टिगत भावना की अभिव्यक्ति है

और शृंगार तथा अध्यात्म-भावना व्यष्टि की। प्रकृति-चित्रण की भावना में दोनों भावनाओं का—समष्टि और व्यष्टि का—समन्वय है। इसका निष्कर्ष यह हुआ कि 'कवि युगीन परिस्थितियों से बाध्य होकर अपनी समूह-भावना को पोषित तथा कोमल भावना को नियन्त्रित करने में प्रयत्नशील है। उसके युवा-हृदय में इन दोनों भावनाओं का द्वन्द्व चलता है, जिसमें अन्त में समाज-भावना की विजय होती है। व्यष्टि के निरोध एवं समष्टि के ग्रहण के हीं दो रूप राष्ट्रीय तथा प्रगतिवादी बनकर उसके काव्य में अवतीर्ण हुए।'

हुंकार

'रेणुका' में कवि के मन में व्यष्टि और समष्टि का जो संघर्ष प्रारम्भ हुआ है, 'हुंकार' में वह प्रायः समाप्त-सा हो जाता है। समष्टि व्यष्टि को पराभूत कर लेती है, और कवि की वाणी वर्तमान की दयनीय दशा के प्रतिक्रिया-स्वरूप विद्रोह कर उठती है—

'समय-ढूह की ओर सिसकते मेरे गीत विकल धाये।
आज खोजते उन्हें बुलाने वर्तमान के पल आये॥'

इसीलिए कवि 'शृंग छोड़ मिट्टी पर' उतर आता है, व्योम-कुंजों की परी कल्पना प्राणों में उत्तेजना फूंकने के लिये आतुर हो उठती है। वह कल्पना की जाली बुनने वाले कवियों को चुनौती दे देता है—

'अमृत गीत तुम रचो कलानिधि! बुनो कल्पना की जाली।
तिमिर-ज्योति की समर-भूमि का मैं चारण, मैं वैताली॥'

इन पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि 'रेणुका' के जिस विद्रोह में निराशा के कारण ध्वंस को निमन्त्रण दिया जाता था, हुंकार में वही विद्रोह आशा और नवीन प्रकाश से समुज्ज्वलित हो उठा है। कवि की वाणी जागरूकता, ज्योति और विशुद्ध क्षात्र-धर्म का बल लेकर बोलने लगी है—

'धर कर चरण विजित शृंगों पर झंडा वही उड़ाते हैं,
अपनी ही उंगली पर जो खंजर की जंग छुड़ाते हैं।
पड़ी समय से होड़, खींच मत तलवों के कांटे रुककर,
फूंक-फूंक चलती न जवानी चोटों से बचकर, झुककर।

नींद कहां उनकी आंखों में जो धुन के मतवाले हैं ?
गति की तृषा और बढ़ती पड़ते पद में जब छाले हैं।'

यहां कवि का विद्रोह चरम कोटि पर पहुंचा हुआ दिखाई देता है। वह केवल उन्हें ही एक बार नहीं, शत बार नमन करना चाहता है जिनके दृढ़ चरण रण की ओर बढ़ें, लेकिन मन के पीछे करुण पुकार छिपी हुई हो। इसीलिये कवि को दिल्ली का वैभव भी फूटी आँखों नहीं सुहाता। वह उसे ब्रिटिश की दासी और परकीया की संज्ञा देने में भी संकोच नहीं करता—

'तू वैभव-मद में इठलाती, परकीया-सी सैन चलाती।
री ब्रिटेन की दासी किसको, इन आंखों पर है ललचाती ?'

कहने का भाव यह है कि 'हुंकार' में कवि के सबल विद्रोह की सशक्त हुंकार है। कवि 'रेणुका' में देश की जिस दुर्दशा पर रोया था, 'हुंकार' में उसी पर विद्रोह कर उठता है। अतः 'रेणुका' में जिस भाव का जन्म हुआ, 'हुंकार' में वह यौवन को प्राप्त हुआ, इसलिए यदि 'रेणुका' को 'हुंकार' की पीठिका या भूमिका कहा जावे तो अनुचित न होगा।

रसवन्ती

'रेणुका' में कवि की जो शृंगार-भावना अंकुरित हुई थी, 'हुंकार' में आकर वह ओजस्वी क्षात्र-धर्म में शमित हो गई, किन्तु यह शमन 'रसवन्ती' में अपना पूर्ण प्रवाह लेकर बह निकला। संभवतः 'गीत शिशु' नामक कविता में कवि ने निम्नलिखित पंक्तियों में इसी तथ्य की ओर संकेत किया है—

'बड़े यत्न से जिन्हें छिपाया ये वे मुकुल हमारे।
जो अब तक बच रहे किसी विध ध्वंसक इष्ट प्रलय से।'

'हुंकार' की हुंकार में से शृंगारिक गीत किस प्रकार बच रहे, स्वयं कवि को इसका पता नहीं है, लेकिन वह विधि सहज प्रक्रिया के अतिरिक्त और क्या हो सकती है ? अर्थात् दमित काम-भावना नष्ट नहीं हुआ करतीं, वे अवसर पाकर फूट ही पड़ती हैं। यही सहज प्रक्रिया है। इसीलिये 'रसवन्ती' में किसी निश्चित उद्देश्य का अभाव है, केवल कवि-मानस की प्रसन्नता ही इसका कारण है।

'रसवन्ती' का कवि प्रकृति को भी अपनी शृंगार-भावना की अभिव्यक्ति का साधन बनाता है। 'हुंकार' का कवि 'रसवन्ती' का प्रणेता नहीं हो सकता, यह सहज ही कहा जा सकता है, क्योंकि एक में समष्टि की चरम सीमा है, और दूसरी में व्यष्टि की पराकाष्ठा। 'पतझड़ की सारिका' में कवि इसी शंका का समाधान करता है—

जग तो समझता है यही, पाषाण में कुछ रस नहीं।
पर, गिरि-हृदय में क्या न, व्याकुल निर्झरों का वास है ?'

इन पंक्तियों में कवि ने अपनी दमित काम-भावनाओं की ईमानदारी के साथ स्वीकृति ही नहीं दी, बल्कि एक शाश्वत सत्य की प्रतिष्ठा भी की है। अतः 'दिनकर' के आलोचकों का 'रसवन्ती' को कुछ विस्मय और उन्मन के साथ अपनाना केवल कवि के प्रति ही अन्याय नहीं, वरन् एक शाश्वत सत्य की सत्यता को भी झुठलाना है। 'रेणुका' में जिस कविता ने उडु के नील कुंज में स्वप्न न खोजने की, चमेली में चन्द्र-किरणों से चित्र न बनाने की, अधरों में मुसकान और कपोलों में लाली न बन जाने की कसम खाई थी, तथा 'हुंकार' में जो युग-धर्म की पुकार बनी, प्रकृति-पक्ष को लेकर रक्त-शोषिणी संस्कृति को जिसने ललकारा, अपना लक्ष्य विचार कर युग पर जिसने अपने तन-मन-धन का समर्पण किया और जिसने कवि के महायज्ञ की आहुति तैयार की, वही कविता 'रसवन्ती' में आल्हा गाते हुए प्रेमी की राधा को घर से खींचकर चोरी-चोरी नीम के नीचे खड़ी करने लगी—

'दो प्रेमी हैं यहां एक जब बड़े सांझ आल्हा गाता है,
पहला स्वर उसकी राधा को घर से यहां खींच लाता है।
चोरी-चोरी खड़ी नीम की छाया में छिपकर सुनती है,
हुई न क्यों मैं कड़ी गीत की बिधना, यों मन में गुनती है।'

कहने का भाव है कि 'रसवन्ती' निर्विवाद रूप से कवि की शृंगारिक भावों की स्पष्ट और सहज अभिव्यक्ति है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद के शब्दों में—"**यदि पक्षियों के साधन से कहना चाहें तो 'रेणुका' में 'चातक' की चेतना**

प्रमुख है और 'हुंकार' में श्येन (बाज) का शौर्य। 'रसवन्ती' में तो कोकिल की काकली है।"

द्वन्द्वगीत

'द्वन्द्वगीत' में अध्यात्म-भावना और व्यक्ति-समष्टि के द्वन्द्व की प्रधानता है। इसमें ईश्वर, आत्मा (जीव), जीवन और मृत्यु आदि पर विचार व्यक्त किये गये हैं। जिस प्रकार कबीर आदि भक्त-कवियों ने ब्रह्म की सर्व-व्यापकता स्वीकार की थी, सर्वत्र अपने लाल की लाली देखी थी, उसी प्रकार 'द्वन्द्वगीत' का कवि भी सृष्टि के प्रत्येक कण में उसी 'माली' का रूप और प्रभाव देखता है—

'किरणों के दिल चीर देख, सब में दिनमणि की लाली रे!
चाहे जितने फूल खिले पर एक सभी का माली रे।'

जीवन और मृत्यु के विषय में भारतीय दर्शन पुनर्जन्म का दृढ़ता से प्रतिपादन करता है। भगवान कृष्ण ने अर्जुन के समक्ष इसी सिद्धान्त का आख्यान किया था—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।

यही मान्यता 'द्वन्द्वगीत' में भी व्यक्त की गई है—

'जीवन ही कल मृत्यु बनेगा, और मृत्यु ही नवजीवन,
जीवन-मृत्यु-बीच तब क्यों द्वन्द्वों का यह उत्थान-पतन॥'

संसार अस्थिर है, अतः इसमें पनपने वाला जीवन भी क्षणभंगुर है। जिस यौवन पर व्यक्ति मदान्ध हो जाता है, वह यौवन भी ठहरता कितने दिन है—

'दो नीड़ों को छिपा रहीं मदमाती आंखें लाल सखी!
अस्थि-तन्तु पर ही तो हैं ये खिले कुसुम से गाल सखी।
और कुचों के कमल! झरेंगे ये तो जीवन से पहले,
कुछ थोड़ा-सा मांस प्राण का छिपा रहा कंकाल सखी!

आत्मा के स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण ही मनुष्य भटकता रहता है और जीवन-मरण के चक्र में पड़ा रहता है। साथ ही कवि ने कुछ व्यावहारिक शंकाएं भी प्रस्तुत की हैं। जैसे—यदि जीवन असत्य है तो यह पाप-पुण्य का बंधन क्यों है ? यदि जीवन सत्य है तो वह मिथ्या स्वप्नों में क्यों भटकता रहता है ? यदि आत्मा नित्य और निर्लिप्त है तो इन धर्म-शास्त्रों की क्या आवश्यकता है ? और यदि ईश्वर अचिन्त्य है तो उसके चिन्त्य रूप का अन्वेषण तथा उसकी आराधना और पूजा के प्रयत्न क्यों ?—

'जो सृजन असत्, तो पुण्य-पाप का श्वेत-नील बन्धन क्यों है ?
स्वप्नों के मिथ्या-तन्तु बीच आबद्ध सत्य जीवन क्यों है ?
हम स्वयं नित्य, निर्लिप्त अरे, तो क्यों शुभ का सन्देश हमें ?
किस चिंत्य रूप का अन्वेषण, यह आराधन-पूजन क्यों है ?

यहां पर यह भी उल्लेख्य है कि द्वन्द्वगीत' का दर्शन-प्रतिपादन शुष्क नहीं बल्कि सशक्त और अनुभूतिपूर्ण है। 'संसार के विरोधी प्रतीत होने वाले विभिन्न तत्त्वों में रागात्मक सामंजस्य उत्पन्न करने का हार्दिक प्रयत्न ही यहां दृष्टिगोचर होता है, बुद्धि से उसके शमन का प्रयास बहुत कम। 'द्वन्द्वगीत' का दर्शन सैद्धान्तिक नहीं, बल्कि व्यावहारिक है और इसी कारण सरस एवं सुगम भी।'

'द्वन्द्वगीत' में कवि की दार्शनिक और समन्वयवादी भावना ने 'सामधेनी' और 'कुरुक्षेत्र' की रचना के लिए कवि के मन में बीज डाल दिये।

सामधेनी

'द्वन्द्वगीत' में कवि के मन में व्यक्ति और समिष्ट का जो द्वन्द्व प्रारम्भ हुआ था, वह 'सामधेनी' में आकर अवसान प्राप्त कर लेता है। व्यष्टि पर समष्टि की पूर्ण विजय हो जाती है। कवि की भावनाएं समष्टिमय बन जाती हैं। जिस प्रकार सन्त कबीर ने अपनी विरक्ति की उद्घोषणा करते हुए कहा था कि 'जो घर फूकै आपणो चलै हमारे साथ' उसी प्रकार 'सामधेनी' का रचयिता भी अपनी क्रांति की भावनाओं से अभिभूत होकर इसी प्रकार का आह्वान करता है—

'मेरी पूंजी है आग, जिसे जलना हो, बढ़े, निकट आये।'

'सामधेनी' का 'कुरुक्षेत्र' की रचना में महत्त्वपूर्ण योग है। जो युद्ध की समस्या कवि के मन में 'सामधेनी' की 'कलिंग-विजय' कविता लिखते समय आविर्भूत हुई थी, वही समस्या तो कुरुक्षेत्र की आधार-शिला है। यही कारण है कि 'कलिंग-विजय' और 'कुरुक्षेत्र' के कुछ अंगों में बहुत ही भाव-साम्य है। जिस प्रकार महाभारत को जीत लेने के पश्चात् युधिष्ठिर के मन में भयंकर ग्लानि होती है और उन्हें अपने कृत्य पर गहन पश्चात्ताप होता है, उसी प्रकार महाराज अशोक भी कलिंग को जीतने के पश्चात् युद्ध का क्या परिणाम हुआ, यही सोचते हैं—

'सोचते, इस बन्धु-वध का क्या हुआ परिणाम?
विश्व को क्या दे गया इतना बड़ा संग्राम?'

और जिस प्रकार से स्वप्न में वे सुयोधन आदि की बातों को सुनते हैं तो उनक पश्चात्ताप द्विगुणित हो जाता है। 'कलिंग-विजय' में भी कोई अदृश्य शक्ति अशोक को सत्य का संदेश देती है। कहने का भाव यह है कि इन दोनों कृतियों की पृष्ठभूमि में बहुत-कुछ साम्य है। स्वयं कवि ने 'कलिंग-विजय' की 'कुरुक्षेत्र' से सम्बद्ध महत्ता इन शब्दों मे स्वीकार की है—'बात यों हुई कि पहले मुझे अशोक के निर्वेद ने आकर्षित किया और कलिंग-विजय' नामक कविता लिखते-लिखते मुझे ऐसा लगा, मानो युद्ध की समस्या सारी समस्याओं की जड़ हो। इसी क्रम में, द्वापर की ओर देखते हुए मैंने युधिष्ठिर को देखा जो 'विजय' इस छोटे-से शब्द को कुरुक्षेत्र में बिछी हुई लाशों से तोल रहे थे।'

कुरुक्षेत्र

'कुरुक्षेत्र' में महाभारत की प्रख्यात कथा का एक महत्त्वपूर्ण अंश ग्रहण करके उसे युगानुरूप कल्पना से मंडित किया गया है। जब महाभारत का भयानक युद्ध समाप्त हो जाता है और विजय-श्री युधिष्ठिर को मिल जाती है तो युधिष्ठिर का मन खिन्न हो जाता है। वे असंख्य वीरों की मृत्यु से विचलित हो उठते हैं, उनका मन वैराग्य और विरक्ति की भावनाओं से भर

जाता है। वसुधा का राज्य उनके लिए विष-सा दाहक बन जाता है। अपने मन के इस द्वन्द्व को लेकर भीष्म पितामह के पास पहुंचते हैं जो बाणों की शैया पर लेटे हुए अपनी मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे थे।

युधिष्ठिर की वैराग्य भरी बातों को सुनकर पितामह को हँसी आ जाती है और वे अनेक प्रकार से युधिष्ठिर के द्वन्द्व का शमन करते हैं। वे युद्ध के कारणों पर प्रकाश डालते हुए बताते हैं कि युद्ध के प्रेरक तत्त्व कुशासन हैं। इसीलिए इसमें कुशासन की भर्त्सना और सुशासन की संस्तुति की गई है—

'नृपति चाहिए क्योंकि परस्पर मनुज लड़ा करते हैं।
खड्ग चाहिए क्योंकि न्याय से वे न स्वयं डरते हैं।'

यों तो कुरुक्षेत्र में प्रसंगवशात् अनेक विषयों की चर्चा है, किन्तु इसका सर्वप्रमुख प्रतिपाद्य है साम्यवाद की स्थापना। कवि का विश्वास है कि जब तक मनुष्य को बराबर जीने के अधिकार और साधन नहीं मिल जाते, तब तक समाज में सच्ची शान्ति और व्यवस्था नहीं हो सकती। इसलिये वह कहता है—

'है सबको अधिकार मृत्ति का पोषक रस पीने का,
विविध प्रभावोंसे अशक होकर जग में जीने का।'

'कुरुक्षेत्र' का दूसरा प्रमुख प्रतिपाद्य है विज्ञान। आज समूचा संसार इस तथ्य से अवगत है कि विज्ञान का प्रयोग निर्माण के लिए नहीं, विध्वंस के लिए हो रहा है। कवि की दृढ़ धारणा है कि इसका कारण हृदय और मस्तिष्क की असंतुलता है। इसलिए जब तक इन दोनों का समुचित समन्वय नहीं हो जाता, तब तक मनुष्य के मन से हिंसा और पाशवी वृत्ति समाप्त नहीं की जा सकती—

'किन्तु है बढ़ता गया मस्तिष्क ही निःशेष,
छूटकर पीछे गया है रह हृदय का देश।
नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्यौहार,
प्राण में करते दुखी हो देवता चीत्कार।'

इस प्रकार अन्य अवान्तर प्रसंगों के साथ-साथ 'कुरुक्षेत्र' में आज के युग की भीषणतम युद्ध की समस्या का बहुत ही सुन्दर और व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत किया गया है।

उर्वशी

उर्वशी दिनकर की नवीनतम कृति है। इसमें प्रागैतिहासिक काल के पुरूरवा-उर्वशी-प्रेमाख्यान द्वारा मानव-मन की प्रमुखतम समस्या—काम—का विश्लेषण किया गया है। यही कृति हमारी आलोच्य है, अतः इसके विषय में यहां अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं।

*

: ३ :

उर्वशी की कथावस्तु

'उर्वशी' की कथावस्तु पाँच अंकों में विभाजित है। इसका सम्यक् और पूर्ण परिचय प्रदान करने के लिए इसे अंकानुसार देना ही अधिक उपयुक्त है, अतः यहां यह इसी क्रम से दी जा रही है।

प्रथम अंक

सूत्रधार और नटी के परस्पर संवाद से उर्वशी की प्रेम-कथा प्रारम्भ होती है। सूत्रधार और नटी पुरूरवा की राजधानी प्रतिष्ठानपुर के एक मनोरम उद्यान में चांदनी रात का रसपान कर रहे हैं। जगती के कण-कण में चन्द्रमा की रजत-रश्मियां व्याप्त हो रही हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो आकाश चन्द्रमा की किरण रूपी करों से सम्पूर्ण धरा को अपने आलिंगन-पाश में बद्ध कर लेना चाहता है। इस प्रकार प्रकृति के उद्दीप्त आलम्बन का आधार लेकर कवि ने आगामी पुरूरवा-उर्वशी की प्रेम-कथा का संकेत दे दिया है।

मादकता के इन शान्त क्षणों में ऊपर आकाश में रशनाओं एवं नूपुरों की ध्वनि सुनाई देती है। बहुत सी अप्सराएं एक साथ नीचे उतरती हुई दिखाई देती हैं। नटी का विचार है कि ये अप्सराएं 'फूलों की सखियां' तथा 'विधु की प्रेयसियां' हैं। सूत्रधार नटी को समझाता है कि ये न तो फूलों की सखियां हैं और न ही चन्द्रमा की प्रेमिकाएं हैं अपितु 'अमुक्त प्रेम की जीवित प्रतिमाएं' तथा कामासक्त मन की कामनाएं हैं। अतः ये धरती पर प्रेम का स्पर्श-पान करने के लिए आती हैं। इसी बीच तीन अप्सराएं—सहजन्या, रंभा और मेनका पृथ्वी पर उतर आती हैं। नटी और सूत्रधार वृक्ष की छाया में जाकर अदृश्य हो जाते हैं और अप्सराएं फूल, हरियाली और झरनों के पास घूम कर गाती और आनन्द मनाती हैं।

समवेत गान गाने के पश्चात् परियों का परस्पर वार्तालाप दिखाया गया है, वास्तव में यह वार्तालाप मूल कथा तक पहुंचने की भूमिका है। मेनका प्रश्न करती है—"धरती और अम्बर में क्या भेद है?" रम्भा उत्तर देती है कि "मर्त्यलोक मरने वाला है पर सुरलोक अमर है।" मेनका पुन: रम्भा के उत्तर का स्पष्टीकरण करती हुई कहती है कि हम अमर होते हुए भी बड़ी अभागिनी हैं क्योंकि हमें व्यंजनों की गन्ध लेकर ही तृप्त होना पड़ता है। हमारी रसना भूतल-वासियों की तरह पदार्थों का रसना द्वारा मधुर स्वाद लेने में असमर्थ है। इस दृष्टि से धरावासी धन्य-भाग्य है। यद्यपि इनका जीवन अत्यन्त क्षणिक है मगर फिर भी वे अपने दो दिन के जीवन में धधक-धधक जीते हैं।

मेनका द्वारा पृथ्वी की अमित महिमा सुनकर सहजन्या मेनका पर व्यंग्य कसती है कि मुझे अब पता लगा कि तुम धरती की इतने मुक्तकंठ से प्रशंसा क्यों कर रही हो? सम्भवत: उर्वशी की तरह "तुम्हारा भी मन कहीं फँसा है? मिट्टी का मोहन कोई अन्तर में आन बसा है?"

मेनका को उर्वशी की प्रेम-कथा का ज्ञान नहीं था। अत: सहजन्या बताती है कि एक दिन उर्वशी अपनी सखियों के साथ कुबेर के घर से वापिस इन्द्रपुरी को लौट रही थी। इसी बीच एक राक्षस बाज की तरह उर्वशी पर झपटा और उसे अपनी भुजाओं में समेट कर आकाश में उड़ गया। उर्वशी ने आत्मरक्षा के लिए बड़ा शोर मचाया। क्रन्दन-ध्वनि सुनकर एक राजा उर्वशी की रक्षा करने के लिए दौड़ा। राजा और राक्षस दोनों का परस्पर मल्ल-युद्ध हुआ और अन्ततोगत्वा उर्वशी को उसने उस 'काल-कवल' से मुक्त कर दिया मगर विधि की विडम्बना देखिए! उर्वशी उस दैत्य के बाहु-पाश से तो मुक्त हो गई लेकिन उस पुरुषरत्न के प्रेम में फंस गई। यह प्रेम एकांगी नहीं था। धरती पर राजा पुरूरवा विरह की आग से दग्ध हो रहा था और स्वर्गलोक में उर्वशी उस काम-मूर्ति की कठोर बाहों में अपना सर्वस्व समर्पित करने के लिए व्याकुल हो रही थी। रंभा उर्वशी के इस प्रेम की भर्त्सना करती है। वह कहती है—हम अप्सराओं का जन्म इसलिए नहीं हुआ कि हम किसी एक की होकर

रहें; हम अपने प्रेम की सुरभि किसी एक के लिए नहीं संजोती, अपितु हम तो "रचना की वेदना जगा जग में उमंग भरती हैं, कभी देवता कभी मनुज का आलिंगन करती हैं।" अतः हमारा आवास तो न जाने कितनों की धाहों में है फिर भला "कैसे हम बंध रहें किसी भी नर की दा बाहों में।" इसके साथ-साथ रंभा मेनकाके सम्मुख एक और प्रबल तर्क उपस्थित करती है कि हम अप्सराओं को धरती पर रहने वाले पुरुषों से इसलिये भी प्रेम नहीं करना चाहिए कि यहां रह कर नारी को माता बनना पड़ता है। इससे उसका सारा सौन्दर्य नष्ट हो जाता है और वह अस्थि-पिंजर मात्र रह जाता है। अतः उर्वशी को चाहिये कि वह पुरुष-प्रेम को अपने हृदय से उसी प्रकार उतार फेंके जिस तरह सर्प केंचुली को त्याग देता है।

मेनका रंभा के इस दम्भ का प्रबल उत्तर देती है। वह कहती है—

"मां बनते ही त्रिया कहां से कहां पहुंच जाती है?
गलती है हिमशिला, सत्य है, गठन देह की खोकर
पर, हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर।"

इसी बीच उनकी एक अन्य सखी चित्रलेखा का आगमन होता है। वह बताती है कि जबसे उर्वशी ने पुरूरवा को देखा है वह बड़ी बेचैन है। आज मुझसे कहने लगी कि "यदि आज कान्त का अंक नहीं पाऊँगी, तो शरार को छोड़ पवन में निश्चय मिल जाऊँगी" मझे रोको मत। स्वर्ग में मेरे लिए कहीं भी आनन्द की किरण नहीं है। स्वर्ग तो स्वप्नों का जाल है और मैं सत्य का स्पर्श पाने के लिए बेचैन हूं। अतः हे "चित्रलेखे! मत बेर लगाओ, जैसे भी हो मुझे आज प्रिय के समीप पहुँचाओ।" फिर भला सखियो! मैं क्या कर सकती थी? आज संध्या के समय मैंने उसे खूब अच्छी तरह फूलों से सजाया और सब की आंख बचाकर उसे सुरपुर से बाहर ले आई। धीरे-धीरे उस लोक से उतर कर मैं उसे राजा पुरूरवा के उपवन में छोड़ कर आई हूं। यद्यपि राजा के महल में एक और भी रानी है, मगर इस विषय में हमें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिए क्योंकि राजाओं का प्रेम किसी एक

घाट पर बंध कर नहीं रहता, वे तो नित्य नई सुन्दताओं पर मरते ही रहते हैं।" और फिर उर्वशी का सौन्दर्य तो अनुपम एवं शाश्वत है, इसलिए यह (पहली पत्नी) कुल की रानी भले ही बनी रहे मगर उर्वशी तो पुरूरवा के हृदय की रानी बनकर ही रहेगी।

लेकिन एक बात है, राजा की व्यग्रता एवं हृदय की बेचैनी से रानी ने यह अनुमान लगा लिया है कि उसके पति अवश्य किसी के प्रेम-पाश में फंस गए हैं, इसलिए पति का प्रेम पाने के लिए चन्द्र-देवता का आराधन कर रही है।

इस प्रकार चित्रलेखा तथा अन्य अप्सराओं में संवाद करते-करते रात्रि के केवल चार प्रहर शेष रह जाते हैं। अतः वे मुक्त अम्बर में उड़ जाती हैं।

द्वितीय अंक

प्रस्तुत अंक की कथा दो तथ्यों को लेकर चली है—

क—पतिव्रता स्त्री की गति और

ख—पुरुष का स्वभाव।

प्रतिष्ठानपुर के राजभवन में महारानी औशीनरी अपनी दो अन्तरंग सखियों के साथ बैठी हुई वार्तालाप कर रही है। उसे अपनी सखी निपुणिका से पता चलता है कि महाराज से मिलने के लिए स्वर्ग से उर्वशी नाम की एक अप्सरा आई थी उसके साथ वे कहीं चले गये। उसका सौन्दर्य अप्रतिम था, ऐसा लगता था जैसे सर्प के मुख से कान्तिमान मणि बाहर निकली हो। बस क्या बतलाऊं वह तो 'नर के सुप्त शान्त शोणित में आग लगाने वाली' थी। उस चन्द्रमुख को देखकर महाराज पुरूरवा के हृदय में समुद्र के समान ज्वार-भाटा सा आ गया। उन्होंने दौड़कर उसे अपनी बाहों में भर लिया और वह भी 'पर्वत के पंखों में सिमटी गिरिमल्लिका-लता-सी' महाराज के हृदय में समा गई। महाराज ने उर्वशी से प्रार्थना की कि हे उर्वशी! मैं तुम्हारे मधुमत्त यौवन के सामने बिक चुका हूं। अतः मुझे वचन दो कि तुम जीवन भर मुझे मिलन-सुख का यह अमित आनन्द देती रहोगी।

निपुणिका की यह बात सुनकर औशीनरी का हृदय सन्न रह जाता है। वह सोचती है कि "जीते जी यह मरण झेलने से अच्छा मरना है।" परन्तु

पतिव्रता स्त्री मर भी तो नहीं सकती क्योंकि राजा मंत्रियों से कहकर गए हैं कि हम एक वर्ष पर्यन्त गन्धमादन पर्वत पर विचरण करेंगे और लौटने के उपरान्त 'नैमिषेय यज्ञ' (पुत्रेच्छा-यज्ञ) करेंगे। अतः इसी धर्म की रक्षा के लिए तुम्हारा जीना परमावश्यक है। यह सुनकर औशीनरी और अधिक व्याकुल हो उठती है। वह कहती है कि ये प्रवंचिका अप्सराएँ बड़ी कठोर-हृदया होती हैं। अपने क्षणिक विनोद के लिए ये धर्म-गृहिणियों के प्राण ले लेती हैं।

निपुणिका और मदनिका औशीनरी को धीरज बंधाती हुई कहती हैं कि हे सखी! अपने धीरज के बांध को यूं मत तोड़ो। पुरुषों का स्वभाव बड़ा विचित्र होता है। उनके हृदय में जब नारी के प्रेम की प्रथम रश्मि आलोकित होती है तब 'दुर्लभ स्वप्न समान रम्य नारी नर को लगती है।' उस समय 'अजय-केसरी' सा पुरुष बेसुध होकर उसके चरणों में गिर जाता है। यही एक ऐसा क्षण है जब नारी पुरुष से जो कुछ भी चाहे वही वस्तु ले सकती है। वह चाहे तो—

'उडुओं की मेखला, कौमुदी का दुकूल मंगवा ले
रंगवा ले उंगलियां पदों की ऊषा के जावक से
सजवा ले आरती पूर्णिमा के विधु के पावक से॥

इस पर भी पुरुष की प्रकृति बड़ी निराली है। वह संघर्षशील होता है। वह नित्य नई प्रतिमाओं का प्यार पाने के लिए बेचैन रहता है। मदनिका के मुख से पुरुष की इस प्रकृति का बड़ा हृदयग्राही एवं वैज्ञानिक चित्र प्रस्तुत कराया गया है—

"नयी सिद्धि-हित नित्य नया संघर्ष चाहता है नर,
नया स्वाद नव जय नित नूतन हर्ष चाहता है नर।
× × ×
ग्रीवा में झूलते कुसुम पर प्रीति नहीं जगती है।
जो पद पर चढ़ गई, चांदनी फीकी वह लगती है।"

लेकिन—

"प्रियतम को रख सके निमज्जित जो अतृप्ति के रस में,
पुरुष बड़े सुख से रहता है उस प्रमदा के बस में।"

अब औशीनरी की समझ में आता है कि प्रियतम मेरे हाथ से कैसे निकल गए। उसने तो एक पतिव्रता नारी का धर्म पालन करने के लिए अपना सर्वस्व

न्यौछावर करके तृप्त करने का प्रयत्न किया। यदि वह भी अतृप्ति का मार्ग अपनाती तो उसके प्रियतम कभी भी उसे छोड़कर नहीं जाते।

इसी बीच कंचुकी का प्रवेश होता है। वह बताता है कि जो सैनिक भट्टारक (पुरूरवा) को गन्धमादन तक छोड़ने के लिए गए थे वे सक्षम राजा को छोड़कर वापिस नगर में लौट आए हैं। महाराज ने उनके हाथ आपके लिए यह सदेश भेजा है कि "यहां का जलवायु बहुत सुखद है। यहा की स्वास्थ्यदायी पवन, शीतल जल वाली झीले, लम्बे-लम्बे चीड़ के वृक्ष और पहाड़ोंपर हिमराशि मुझे काफी रुचती है लेकिन एक वंशधर के बिना सब कुछ सूना लगता है। हे प्रियतमे ! क्या कभी अपने घर में प्रेम का दीपक नहीं जलेगा ? क्या यह दिव्य ऐल-वंश आगे नहीं चल सकेगा ? अतः तुम ईश्वर से पुत्रेच्छा की प्रार्थना करती रहो। देखना, तुम्हारी धर्म-साधना में कहीं किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होनी चाहिए। मैं भी, यहां ईश्वर के आराधन मे रत रहकर कुल-दीपक की ऐषणा करता रहूंगा।"

राजा का यह विचित्र संदेश सुनकर रानी बेबसी में मुस्कराने लगती है। वे तो अप्सरा के साथ रमण करने को ईश्वर की साधना बताएँ और मैं इस सूने भवन में पुत्रेषणा करती रहूं ? कैसा विलक्षण न्याय है ? पति के संसर्ग बिना पुत्र क्या आकाश से टपक पड़ेगा ? नारी कितनी असहाय है ? वह अन्य किसी को अपना दुःख-दर्द भी तो नहीं बता सकती। अपनी हूक को जिह्वा पर लाना भी उसको शोभा नहीं देता। फिर भी—

"प्रियतम जहां भी हों, बिछे सर्वत्र पथ में फूल हों।"

तृतीय अंक

यह अंक उर्वशी रूपी काव्य-वृक्ष का तना है। इसमें एक ओर जहां काव्यत्व की निर्मल लहरियां हैं वहां दूसरी ओर दर्शन की गहन गम्भीरता भी है।

अंक का प्रारम्भ गन्धमादन-पर्वत पर बैठे हुए पुरूरवा और उर्वशी के प्रेम-प्रसंग से होता है। उर्वशी अपने पुरावृत्त को दोहराती हुई कहती है कि जब मैं तुम्हारा प्रथम-दर्शन करके सुरपुर लौटी तो अहर्निश तुम्हारा दिव्य

रूप मेरी आंखों पर छाया रहता था । समय काटते नहीं कटता था । ऐसा लगता था जैसे किसी विशाल अजगर ने इसे अपने आक्रोश में दबा लिया हो । दूसरी ओर पुरूरवा की भी यही दशा थी। वह कहने लगा कि तुम्हारे जाने पर मुझे ऐसा लगा जैसे "छूट गये हों प्राण उन्हीं उज्ज्वल मेघों के वन में ।" कई बार इच्छा हुई कि इंद्रदेव से तुम्हारी भीख मांग लूँ मगर फिर 'मन ने टोका' "क्षत्रिय भी भीख मांगते हैं क्या ? और प्रेम क्या कभी प्राप्त होता है भिक्षाटन से ।" लेकिन मुझे अपने प्रेम पर पूर्ण विश्वास था, इसलिए हृदय बार-बार कहता था कि तुम भूतल पर जरूर आओगी । उर्वशी ने कहा कि मैं चली तो आई मगर स्वयं चली आने में मुझे उस स्वाद की उपलब्धि नहीं हुई जो उन नारियों को होती है "जिन्हें प्रेम से उद्वेलित विक्रमी पुरुष बलशाली, रण से लाते जीत या कि बल सहित हरण करते हैं ।" पुरूरवा इन दोनों कर्मों की भर्त्सना करता है और प्रेम की आन्तरिक गहराई तक पहुंचने की इच्छा प्रकट करता है । उर्वशी यह सुनकर स्तब्ध हो जाती है क्योंकि देवों की जिस शीतलता को छोड़कर वह इस धरा पर आई थी वहां पुरू के चित्त में भी उसी का अंश दृष्टिगोचर होने लगा । भयाक्रान्त होकर उर्वशी कहती है—

"तन से मुझ को कसे हुए अपने दृढ़ आलिंगन में,
मन से, किन्तु, विषण्ण दूर तुम कहां चले जाते हो ।"

पुरूरवा नहीं जानता कि मैं कहां जा रहा हूं । परन्तु इसके हृदय में इस सूक्ष्म भावना का उदय होता है कि 'रूप की आराधना का मार्ग आलिंगन नहीं है ।' शारीरिक सौन्दर्य से परे हटकर जब मैं तुम्हें एकायन मन से देखता हूं तो मेरे भाव व्यष्टि से समष्टि की ओर चल पड़ते हैं और त्रिलोक में मुझे केवल तुम्हारे ही सौन्दर्य के दर्शन होते है । उस समय यह सिंह पुष्प के समक्ष शक्ति के रहते हुए भी निरुपाय होकर गिर जाता है लेकिन तुम यह मत समझना कि प्रेम की इस व्यापकता के कारण मैं 'तुम्हें छोड़कर आकाश में विचरण करूंगा' ; क्योंकि मैं मरणशील प्राणी हूं । देवतत्त्व का संतोष एवं शीतलता मेरे लिए दुष्प्राप्य हैं । क्योंकि—

"देवताओं की नदी में ताप की लहरें न उठतीं
किन्तु, नर के रक्त में ज्वालामुखी हुंकारता है,"

पुरू के चित्त मे देवतत्त्व की चाह देखकर उर्वशी और अधिक बेचैन हो उठती है, क्योंकि देवों की जिस शीतलता को छोड़कर वह नर के उत्तप्त रुधिर को अपना समर्पण करने आयी थी यदि वह भी देव-लालसा में डूब गया तो जगती पर मेरा आना व्यर्थ हुआ। अतः उर्वशी पुरूरवा के चित्त में इस धारणा का उपस्थापन कराना चाहती है कि तुझ में मनुजत्त्व और देवत्त्व दोनों ही निवास करते हैं—

"यह तो नर ही है, एक साथ जो शीतल और ज्वलित भी है,
मन्दिर में साधक व्रती, पुष्प बन में कंदर्प ललित भी है।"

इस पर भी यदि तुम अपनी मधुर कांति से मुझे मोहित कर लोगे तो फिर तुम मनुज नहीं, देवता हो जाओगे। पुरूरवा 'बुद्धिवादी' बन कर उर्वशी के इस कथन पर विचार करना चाहता है। उर्वशी 'रक्त' के सामने बुद्धि की हेयता सिद्ध करती है—

"रक्त बुद्धि से अधिक बली है और अधिक ज्ञानी भी,
क्योंकि बुद्धि सोचती और शोणित अनुभव करता है।
निरी बुद्धि की निर्मितियां निष्प्राण हुआ करती हैं;
चित्त और प्रतिभा, इनमें जो जीवन लहराता है
वह सूझों से नहीं पत्र पाषाणों में आया है
कलाकार के अन्तर के हिलकोरे हुए रुधिर से।"

अतः इस वैराग्यवादी भावना को छोड़कर 'रक्त की भाषा' को पढ़ो और इस पर पूर्ण रूप से विश्वास करो।

पुरूरवा इस बात को स्वीकार करता है कि रक्त बुद्धि से अधिक बली है, लेकिन रुधिर एवं त्वचा का आनन्द ही सब कुछ नहीं है। हमें इससे भी ऊपर उठकर ऐसे स्थान पर जाना है 'जहां न उठते प्रश्न, न कोई शंका ही जगती है।' अतः देह-धर्म से ऊपर उठकर हमें अंतरात्मा तक उठना चाहिए। मगर यह पथ बड़ा दुःसाध्य है, क्योंकि—

"पहले तो मधुसिक्त भ्रमर के पंख नहीं खुलते हैं,
और खुले भी तो उड़ान आधी ही रह जाती है
नीचे उसे खींच लेता है आकर्षण मधुवन का।"

अतः यह प्रम ही नर की उर्ध्व प्रगति में बाधक है। उर्वशी से यह नहीं देखा जाता। वह नर के मर्मान्तिक कठोर आलिंगन-पाश की भूखी है। इसलिए वह अपने प्रेमी से करबद्ध याचना करती है—

"पर, मैं बाधक नहीं, जहां भी रहो, भूमि या नभ में,
वक्षस्थल पर इसी भांति मेरा कपोल रहने दो।
कसे रहो बस इसी भांति उर-पीड़क आलिंगन में
और जलाते रहो अधर-पुट को कठोर चुम्बन में।"

फिर पुरूरवा का 'विराग' से ध्यान मोड़ने के लिए उद्दीपन रूप में रात्रि का उल्लेख करती है। इस प्रकार पार्थिव एवं आत्मिक प्रेम में काफी देर तक संघर्ष चलता रहता है। पुरूरवा के मन में 'एक ओर देवत्त्व की ऊंची-ऊंची कल्पनाएं, दूसरी ओर उफनाते हुए रक्त की अप्रतिम पुकार और पग-पग घेरने वाली ठोस वास्तविकता अभेद्य चट्टानें, जो हुक्म नहीं मानतीं, जो पिघलना नहीं जानतीं'—उठती हैं। वह 'हवा और पत्थर के दो छोरों के बीच झटके खाता है, और झटका खाकर, कभी इस ओर, और कभी उस ओर को मुड़ जाता है—

कभी प्रेम! कभी सन्यास!

और संन्यास प्रेम को बर्दाश्त नहीं कर सकता, न प्रेम संन्यास को, क्योंकि प्रेम प्रकृति और परमेश्वर संन्यास है और मनुष्य को सिखलाया गया है कि एक ही व्यक्ति परमेश्वर और प्रकृति, दोनों को प्राप्त नहीं कर सकत,—

'उर्वशी पूछती है, क्या ईश्वर और प्रकृति दो हैं?
क्या ईश्वर प्रकृति का प्रतिबल है, उसका प्रतियोगी है?
क्या दोनों एक साथ नही चल सकते?
क्या प्रकृति ईश्वर का शत्रु बनकर उत्पन्न हुई है?
अथवा, क्या ईश्वर ही प्रकृति से रुष्ट है?"

काफी विस्तार से उर्वशी इन प्रश्नों का समाधान करने का प्रयत्न करती है तथा पुरूरवा के चित्त मे प्रकृति और संन्यास में अभेद स्थापित करने का प्रयत्न करती है। उसका विचार है कि परमज्योति त्रिलोक के स्थूल और सूक्ष्म—दोनों तत्त्वों में विद्यमान है। अत: मनुष्य कर्म करते हुए भी उसको प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार दोनों में आवेशित उद्‌गारों का यह क्रम काफी देर तक चलता रहता है। लेकिन फिर भी, पुरूरवा के लिए उर्वशी और उसके विचार रहस्यमयी बने रहते हैं। उसे लगता है कि उर्वशी से उसका जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध है। वे कहते हैं—

'आगे तुम जहां-जहां जाओगी,
साथ चलूंगा मैं सुगन्ध से खिंचे हुए मधुकर-सा।''

प्रेमालाप के इन मधुरिम क्षणों में, देखते-देखते एक वर्ष व्यतीत हो जाता है। यह वर्ष ऐसे कट गया जैसे अभी दो पल ही बीते हों। पुरूरवा यज्ञ-हेतु राजभवन जाने के लिए तत्पर हैं, अत: अनिश्चित काल के लिए युगल प्रेमी एक दूसरे से अलग हो जाते हैं।

चतुर्थ अंक

इस अंक में च्यवन-सुकन्या के आश्रम में पुरूरवा-उर्वशी के पुत्र आयु का पालन-पोषण होता हुआ दिखाया गया है। आयु का जन्म तब हुआ था जब उस के पिता उसकी मां से अलग रहकर यज्ञ कर रहे थे। उर्वशी को ऋषि भरत का शाप था कि तुझे पति और पुत्र दोनों एक साथ नहीं मिल सकते। शांप का कारण यह था कि एक बार देवलोक में उर्वशी पुरूरवा के प्रेम में ध्यानावस्थित थी। इसी बीच भरत-ऋषि भिक्षा के लिए उर्वशी के द्वार पर आये। भरत के बार-बार पुकारने पर भी वह ध्यान-समाधि से अलग हटकर उनके आदर-सम्मान को नहीं उठी। क्रोध में आकर भरत ने शाप दिया कि हे उर्वशी! तू जिसके ध्यान में इतनी डूबी हुई है कि तुझे मेरे आगमन का भी ध्यान नहीं है तो जा, तू उसी के लिए मर्त्यलोक में अपने प्रेमी के साथ प्रेम-क्रीड़ा करके धरती के प्रेम की पीड़ा सह। मगर, ध्यान रख, तुझे प्रेमी तथा पुत्र में से एक का ही सुख उपलब्ध हो सकता है। यह सुख भी तू केवल तब तक

पा सकेगी, जब तक तेरे प्रियतम तुम दोनों के परस्पर संयोग से जनित पुत्र को नहीं देखेंगे। जिस दिन वे पुत्र के दर्शन कर लेंगे उसी क्षण तुझे अपने पति तथा पुत्र दोनों को छोड़कर इंद्रलोक में पुनः आ जाना पड़ेगा। इसलिए पुत्रोत्पत्ति का समाचार पति को नहीं दिया था और उसे च्यवनाश्रम में रख छोड़ा था।

च्यवन ऋषि बहुत बड़े तपस्वी थे। एक बार ये नर्मदा तट पर घोर तप करते हुए बहुत दिनों तक समाधिस्थ रहे। इनके शरीर को दीमकों ने ढक लिया, केवल आंखें चमकती रहीं। उनके इस आश्रम में एक बार राजा शर्याति की कन्या सुकन्या पहुची और इनकी आंखों को जुगनू समझकर कौतूहल से ही मुनिवर की पलकें खींच लीं। ऋषि उसके इस व्यवहार से क्रुद्ध हो उठे। उनके क्रोध को देखकर सुकन्या तनिक भी नहीं हिली और प्रायश्चित करती हुई आंखें झुकाकर खड़ी रही। सुकन्या का सौम्य-मुख देखकर ऋषि का क्रोध हवा हो गया। उन्होंने समझा कि सुकन्या को परब्रह्म ने प्रसन्न होकर सिद्धि के रूप में मेरे पास भेजा है। वे सुकन्या से जीवन-संगिनी बनने की याचना करने लगे। सुकन्या ने ऋषि के पवित्र प्रेम से प्रभावित होकर उन्हें अपना पति स्वीकार कर लिया। इस प्रसंग से सुकन्या के मुख से तथा-कथित प्रेम-संन्यास का समन्वय दिखाया गया है। संन्यासी होते हुए भी जब च्यवन सुकन्या को अपनी भुजा-पाश में बद्ध करने के लिए लालायित हो उठते हैं, तब हमें यहां प्रकृति और संन्यास का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध दृष्टिगत होता है।

सुकन्या को जब उर्वशी की सखी चित्रलेखा से उर्वशी के शाप का ज्ञान होता है तो वह बड़ी चिन्तित होती है। वह उर्वशी से कहती है कि भरत ने यह बड़ा भयंकर शाप दिया है, क्योंकि—

"कौन भामिनी है, जो अंगज पुत्र और प्रियतम में
किसी एक को लेकर सुख से आयु बिता सकती है?
कौन पुरन्ध्री तज सकती है पति के लिए तनय को
कौन सती सुत के निमित्त स्वामी को त्याग सकेगी।"

इस प्रकार चित्रलेखा-सुकन्या ; सुकन्या-उर्वशी एवं उर्वशी-चित्रलेखा के बीच भरत के शाप, मातृत्व तथा शाप की कठोरता के विषय में काफी सवाद होता है। उर्वशी इस बात को स्वीकार करती है कि माता वह नहीं है जो पुत्र को जन्म देती है, अपितु असली मायने में माता वही है जो छाती से लगाकर बच्चे का पालन-पोषण करती है। अतः आयु की माता उर्वशी नही, सुकन्या ही है क्योंकि जन्म देने वाले से पालने वाला बड़ा है।

पुरूरवा के पास जाने से पूर्व सुकन्या उर्वशी से आयु के भविष्य के बारे में पूछती है। उर्वशी अपने स्वार्थ को पीछे हटाकर सुकन्या को यह पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करती है कि जब तुम उचित समझो तब आयु को उसके पिता के पास भेज देना। मेरे ऊपर तो जो पहाड़ टूटेगा उसे एक न एक दिन तो झेलना ही है क्योंकि अपने पुत्र के सुवर्णमयी भविष्य को मैं अपने सुख के लिए गहन गर्त्त में नहीं डाल सकती।

सुकन्या उर्वशी को धीरज बधाते हुए कहती है कि हे सखि ! तुम प्रियतम के पास रहकर आयु की चिन्ता मत करना। यह मेरी आंखों का तारा है। इस आश्रम में मैं बच्चे को किसी प्रकार भी तुम्हारा अभाव नहीं होने दूंगी। शैशवावस्था में यह पशु-पक्षियों के साथ आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करेगा ; बड़ा होकर गौओं को चराने जाएगा ; यज्ञ-वेदी पर बैठ कर मंत्रादि का उच्चारण करके पण्डित हो जाएगा। अतः—

> **"शस्त्र-शास्त्र-निष्णात, अंग से बली, विभासित मन से**
> **जब अपना यह आयु पूर्ण कैशोर प्राप्त कर लेगा,**
> **पहुंचा दूंगी स्वयं इसे ले जाकर राजभवन में।**
> **तब तक जा, पीयूष पान कर तू मृण्मयी मही का**
> **चिंता-रहित अशंक, आयु को कोई त्रास नहीं है।"**

इस प्रकार 'आयु' की तरफ से निश्चिन्त होकर उर्वशी प्रिय के आलिंगन में बंधने के लिए राजभवन में चली जाती है।

पंचम अंक

उर्वशी राजा पुरूरवा के पास चली आती है। यहां आए हुए उसे सोलह वर्ष हो गए। एक रात राजा को एक विचित्र स्वप्न आता है। पुरूरवा इस

स्वप्न को देखकर बड़े व्यग्र हो उठते हैं। राज-दरबार लगाकर इसे अपने महामात्य तथा राज-ज्योतिषी विश्वमना के सामने कहते हैं। स्वप्न यों था—

"प्रतिष्ठानपुर में काफी शोर मचा हुआ है। पुरवासी कहीं से वट-वृक्ष का नया पौधा लाए हैं और उसे कच्चे दूध से पूज रहे हैं। मैं भी दुग्ध-कलश लेकर उसकी अर्चना-हेतु जाता हूं, मगर कोई भी नगर-निवासी मेरी तरफ नहीं देखता। निराशा से भरकर मैं हाथी पर बैठकर प्रतिष्ठानपुर से बाहर किसी जंगल में चला जाता हूं। बन में हाथी से उतर कर मैं जब इधर-उधर देखता हूं तो इसी बीच हाथी लोप हो जाता है। निर्जन बन में भटकता हुआ मैं च्यवन ऋषि के आश्रम में पहुंच जाता हूं। वहां मैंने एक ऋषिकुमार को देखा। उसका व्यक्तित्त्व बड़ा भव्य था। उसे अपने अंक में समेट लेने को मैं व्याकुल हो उठा, लेकिन जैसे ही मैंने उसे पकड़ने के लिए अपने कदम बढ़ाए, वैसे ही वह न जाने किस अंधकार में समा गया। फिर मुझे हर लता-कुंज में मेरी परम प्रियतमा उर्वशी का मुख दिखाई देने लगा, मगर जिस तरफ भी स्पर्श करने के लिए बढ़ता था उसी तरफ वह कुसुम-आनन पुष्प-पत्तों की हरियाली में छिप जाता था। इस प्रकार चकित, विस्मित और भयभीत होकर मैं अवनीतल को छोड़कर उर्ध्वगगन पर पहुंच जाता हूं और प्रातः आंख खुलने तक जलद-खण्ड सा तैरता रहता हूं।"

पास में बैठी उर्वशी इस स्वप्न को सुनकर असंज्ञ हो जाती है, क्योंकि उसके समक्ष सम्पूर्ण पुरावृत्त चित्रपट के समान आँखों के सामने घूमता हुआ दिखाई देता है। ज्योतिषी विश्वमना अंक-गणना करने के पश्चात् राजा को फलादेश देते हैं कि मेरी गणना के अनुसार—

> "..........................आज संध्या तक
> आप प्रव्रजित हो जाएंगे अपने वीर तनय को
> राज-पाट धन-धाम सौंप, अपना किरीट पहनाकर।"

फलादेश देने पर विश्वमना स्वयं चकित हैं कि जब राजा के कोई पुत्र ही नहीं है तो संध्या तक कौन राजा बनेगा और राजा पुरूरवा कैसे प्रव्रजित हो जाएंगे?

के हृदय में राग जगाने वाली; देवों के मधुमय शोणित में आग जगाने वाली रति की साकार प्रतिमा; रमा का साकार स्वरूप; विधु की प्राणेश्वरी; काम के कर की आरती-शिखा तथा सम्पूर्ण भूतल के प्राणियों की तृषा है। कवि ने स्वयं उर्वशी के मुख से ही उसकी अनुपम सुन्दरता का आख्यान करवाया है—

"पाषाणों के अनगढ़ अंगों को काट-छांट
में ही निबिड-स्तनता, मुष्टि-मध्यमा
मदिर-लोचना, काम-लुलिता नारी
प्रस्तरावरण कर भंग
तोड़ तम को उन्मत्त उभरती हूँ।"

इस मदिर-लोचना का प्रेम आर्यावर्त के अधिपति पुरूरवा से हो जाता है। प्रेम की भूमिका क्या थी, इसमें पर्याप्त मतभेद है। दिनकर का कथन है कि एक बार उर्वशी अपनी सखियों के साथ कुबेर घर से निकल रही थी कि कोई दैत्य उसे बाज की तरह झपट कर ले जाने लगा। उर्वशी की त्राहि-त्राहि सुनकर राजा पुरूरवा वहां आ पहुंचा। उसने उर्वशी को दैत्य से तो मुक्त कर दिया लेकिन स्वयं उसके मधुर प्रेम-पाश में बद्ध हो गया। उर्वशी भी पुरूरवा को देख कर व्याकुल हो गई। स्वर्गलोक में उर्वशी को केवल इसी का ध्यान रहता। अहर्निश इसी पुरुष-रत्न में अवस्थित रहने के कारण उर्वशी को ऋषि भरत के शाप को वहन करना पड़ा और वह प्रियतम के अंक में आनन्द भोग करने के लिए धरती पर आ गई।

चूंकि उर्वशी स्वर्ग-लोक की अप्सरा है इसलिए धरती पर आकर उसके हृदय में पुरुष के गाढ़ालिंगन में आने की उत्कट अभिलाषा, अपरिमित वासना, इच्छा तथा कामना है। वह त्रिकाल तक अपने प्रेमी के भुजपाश में बंधे रहना चाहती है—

वक्षस्थल पर, इसी भांति मेरे कपोल रहने दो !
कसे रहो, बस इसी भांति, उर-पीड़क आलिंगन में
और जलाते, रहो अधर-पुट को कठोर चुम्बन से।

इस प्रकार जहाँ वह "चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् तथा श्रोत्र की कामनाओं का प्रतीक है" वहां वह मानिनी भी है। पुरूरवा के पास वह स्वयं चली तो आई मगर इस बात का उसे दुःख बहुत ज्यादा है। उसका सिद्धान्त तो यह है कि पुरुष स्वयं उसके द्वार पर आये और उसे ले जाए। इसी में उसका गौरव है—

वही धन्य जो मानमयी प्रणयी के बाहु वलय में
खिंची नहीं, विक्रम तरंग पर चढ़ी हुई आती है।

नारी की स्वाभाविक वृत्ति है कि वह बुद्धि की अपेक्षा भावना पर बल देती है; रूप ही उसके लिए सर्वस्व है। वैराग्य अथवा बुद्धि उसके सामने हेय है। जब कभी पुरूरवा भावलोक से परे हट कर ज्ञान के उर्ध्वलोक पर चढ़ना चाहता है तभी वह 'रक्त' की महिमा का गान करके उसे धरती के क्षणिक सौन्दर्य पर ले आती है —

रक्त बुद्धि से अधिक बली है और अधिक ज्ञानी भी
क्योंकि बुद्धि सोचती और शोणित अनुभव करता है।
निरी बुद्धि की निर्मितियां निष्प्राण हुआ करती हैं;
चित्र और प्रतिमा; इनमें जो जीवन लहराता है;
वह सूझों से कहीं; पत्र पाषाणों में आया है
कलाकार के अन्तर के हिलकोरे हुए रुधिर से।

उर्वशी भावना की साकार प्रतिमा है। बुद्धि अथवा विराग का नाम सुनकर तो उसकी भृकुटि तन जाती है।

उर्वशी प्रकृति की परम पुजारिन है। दार्शनिक शब्दावली में उसकी मान्यता यह है कि मनुष्य प्रेम और संन्यास (परमेश्वर) दोनों को प्राप्त कर सकता है। परमेश्वर और प्रकृति दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। ये दोनों प्रतियोगी या प्रतिबल नहीं हैं और न ही इन दोनों में परस्पर किसी प्रकार की शत्रुता है। दोनों सत्य के एक ही लक्ष्य पर पहुंचने का प्रयास करते हैं। लेकिन संन्यास का मार्ग तो कृपाण की धार के समान जटिल है और प्रकृति अर्थात् प्रेम का मार्ग नवनीत के समान कोमल तथा मधुर है। अतः पुरुष को चाहिए कि प्रकृति से ही नेह लगाकर उस परब्रह्म को प्राप्त करे—

"......जिसे ईश्वर हम सब कहते हैं
शत्रु प्रकृति का नहीं, न उसका प्रतियोगी प्रतिबल है

× × ×

ईश्वरीय जग भिन्न नहीं है इस गोचर जगती से
इसी अपावन में अदृश्य वह पावन सना हुआ है।

× × ×

प्रकृति नहीं माया, माया है नाम भ्रमित उस धी का,
बीचों बीच सर्प-सी जिसकी जिह्वा फटी हुई है;
एक जीभ से जो कहती कुछ सुख अर्जित करने को
और दूसरी से बाकी का वर्जन सिखलाती है।

× × ×

प्रकृति नित्य आनन्दमयी है, जब भी भूल स्वयं को
हम निसर्ग के किसी रूप (नारी, नर या फूलों) से
एक तान होकर खो जाते हैं समाधि निस्तल में,
खुल जाता है कमल, धार अश्रु की बहने लगती है,
दैहिक जग को छोड़ कहीं हम और पहुंच जाते हैं,
मानो, मायावरण एक क्षण मन से उतर गया हो।

उर्वशी जहाँ प्रेम की सच्ची साकार प्रतिमा है वहां वह सच्चे अर्थों में जननी भी है। शापवश वह अपने मातृ-कर्त्तव्य का पालन नहीं कर पाती लेकिन वैसे उसके भीतर भी मातृत्व की स्वच्छ पीयूष-धारा बहती है। वह अन्य अप्सराओं की तरह नहीं है जो केवल दूसरों को रिझा-रिझा कर मुक्त विहार करने वाली हैं। 'उर्वशी' मेनका के इन शब्दों का प्रतिरूप है—

माँ बनते ही त्रिया कहां से कहां पहुंच जाती है
गलती है हिमशिला, सत्य है, गठन देह की खोकर
पर, हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर।

उर्वशी द्वारा अपनी सखी चित्रलेखा से कही गई निम्न पंक्तियां ही उसके मातृत्व के अमित रूप को प्रतिभासित करने में समर्थ हैं—

केवल भ्रूण-वहन, केवल प्रजनन मातृत्व नहीं है;
माता वही पालती है जो शिशु को हृदय लगा कर।

इस प्रकार कवि दिनकर ने अप्सरी उर्वशी को केवल मदिर-लोचना तक ही समित नहीं रखा अपितु उसमें पत्नी-धर्म, मातृत्व एवं गृहिणी के गुणों का आत्मसात करके उसे सर्वांग सुन्दरी बनाकर कविता के सांचे में ढाला है।

पुरूरवा

वेदों एवं पुराणों के आधार पर पुरूरवा आर्यावर्त का अधिपति था। प्रतिष्ठानपुर इसकी राजधानी थी। इला का पुत्र होने के कारण इसे इला पुत्र तथा इनके वंश को 'ऐलवंश' के नाम से पुकारा गया—

"इलापुत्र' मैं पुरू पदों में नमस्कार करता हूं।"

× × ×

देवि ! दिव्य यह 'ऐलवंश' क्या आगे नहीं चलेगा ?

इलापुत्र पुरूरवा 'पुरुष' का प्रतीक है। दिनकर जी की दृष्टि में तो **पुरूरवा सनातन नर का प्रतीक है और उर्वशी सनातन नारी का।···पुरूरवा शब्द का अर्थ है वह व्यक्ति जो नाना प्रकर का रव करे; नाना ध्वनियों से आक्रान्त हो।··· पुरूरवा रूप, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्द से मिलने वाले सुखों से उद्वेलित (होने वाले) मनुष्य (का प्रतीक है)।···पुरूरवा द्वन्द्व में है क्योंकि द्वन्द्व में रहना मनुष्य का स्वभाव है। मनुष्य सुख की कामना भी करता है और उससे आगे निकलने का प्रयास भी।"**

संक्षेप में देखा जाय तो पुरूरवा की यही चरित्रगत विशेषताएँ हैं जो दिनकर जी ने अपनी भूमिका में व्यक्त करदी हैं। फिर भी उसका विस्तृत उल्लेख अपेक्षित है।

पुरूरवा नर पुंगव है। उसके शरीरिक एवं मानसिक सौन्दर्य का अत्यन्त सशक्त वर्णन सखी निपुणिका ने औशीनरी के सम्मुख किया है—

'कार्तिकेय सम सूर, देवताओं के गुरु-सम ज्ञानी,
रवि-सम तेजवन्त, सुरपति के सदृश प्रतापी, मानी;
धनद-सदृश-संग्रही, व्योमवत-मुक्त, जलद निभ त्यागी,
कुसुम-सदृश मधुमय, मनोज्ञ, कसुमायुध-से अनुरागी।

पुरूरवा को स्वयं भी अपने सौन्दर्य, शक्ति एवं तेज का ज्ञान है। आत्म-श्लाघा करना मनुष्य की एक विशेषता होती है जिसे कवि ने पुरूरवा के मुख से उर्वशी के सम्मुख कहलवाया है—

"यह शिला-सा वक्ष, ये चट्टान-सी मेरी भुजाएँ,
सूर्य के आलोक से दीपित, समुन्नत भाल,
मेरे प्राण का सागर, अगम, उत्ताल, उच्छल है।
सामने टिकते नहीं बनराज, पर्वत डोलते हैं,
कांपता है कुंडली मारे समय का व्याल
मेरी बाँह में मारुत, गरुड, गजराज का बल है।
मर्त्य मानव की विजय का तूर्य हूँ मैं
उर्वशी ! अपने समय का सूर्य हूँ मैं।
अन्ध तम के भाल पर पावक जलाता हूँ,
बादलों के सीस पर स्यन्दन चलाता हूं।"

परन्तु जो पुरुष जितना अधिक तेजस्वी; शक्तिशाली होता है; जिसकी धमनियों में जितना अधिक तीव्रगति से रक्त प्रवाहित होता है और जो सिंह से बांहें मिलाकर खेल सकता है वह फूल के समान नारी के सामने उतना ही अधिक विवश एवं निरुपाय हो जाता है। मदनिका के शब्दों में—

अगम, अगाध, वीर नर जो अप्रतिम तेज बल धारी
बड़ी सहजता से जय करती उन्हें रूपसी नारी।

पुरूरवा जैसा वीर भी गिरिमल्लिका की लता के समान कोमलांगी नारी उर्वशी के पाश-जाल में बद्ध हो जाता है। पुरूरवा के पहले भी एक पत्नी है जिसका नाम औशीनरी है। औशीनरी पतिव्रता स्त्री है। उसने अपना सब कुछ अपने पति को समर्पण कर दिया। मगर पुरुष का यह स्वभाव है कि जो वस्तु उसे एक बार पूर्ण रूप से प्राप्त हो जाती है उसके प्रति वह विरस हो जाता है और वह नयी वस्तु की खोज में रत रहता है। पुरुष की इसी विशेषता का वर्णन कवि ने पुरूरवा के चरित्र में किया है।

वश में आयी हुई वस्तु से इसको तोष नहीं है,
जीत लिया जिसको, उससे आगे सन्तोष नहीं है
× × ×
नयी सिद्धि हित नित्य नया संघर्ष चाहता है नर,
नया स्वाद, नव जय, नित नतन हर्ष चाहता है नर।
× × ×
ग्रीवा में झूलते कुसुम पर प्रीति नहीं जगती है।
जो पद पर चढ़ गई, चांदनी फीकी वह लगती है।

लेकिन—

प्रियतम को रख सके निमज्जित जो अतृप्ति के रस में
पुरुष बड़े सुख से रहता है उस प्रमदा के वश में।

जब तक पुरूरवा को उर्वशी का आलिंगन नहीं मिला तब तक वह उसके हाथ का लीला कमल बना रहता है मगर जैसे ही वह उर्वशी के प्रेम-रस का पान कर लेता है वैसे ही उसका मन उर्वशी से विरत होकर विवेक, ज्ञान, उर्ध्व-लोक तथा संन्यास की दिशा में अग्रसर होनें लगता है।

इस प्रकार पुरूरवा के हृदय में संघर्ष एवं अन्तर्द्वन्द्व का उदय है। कभी वह भावना के बल पर नारी के सौन्दर्य पर मर मिटना चाहता है—

मैं तुम्हारे बाण का बीधा हुआ खग,
वक्ष पर धर सीस मरना चाहता हूं।
मैं तुम्हारे हाथ का लीला कमल हूं,
प्राण के सर में उतरना चाहता हूं।

और कभी—

"रक्त की उत्तप्त लहरों का परिधि के पार
कोई सत्य हो तो,
चाहता हूं, भेद उसका जान लूं
पन्थ हो सौन्दर्य की आराधना का व्योम में यदि
शून्य की उस रेख को पहचान लूं।"

इन मुख्य विशेषताओं के साथ-साथ उर्वशी में पुरूरवा की कुछ अन्य विशेषताएँ भी मिलती हैं, जैसे—

(क) पुरूरवा पत्नीव्रती न होकर प्रेमी है। अपनी महारानी का उसे कतई ख्याल नहीं। इतना आदर्श राजा होकर भी जब वह उर्वशी को लेकर गन्धमादन पर्वत पर चला जाता है तो वहां से सैनिकों के हाथ झूठा संदेश तक भिजवाने में भी नहीं हिचकिचाता—

करती रहें प्रार्थना त्रुटि हो नहीं धर्म साधन में,
जहां रहूं, मैं भी रत हूं ईश्वर के आराधन में।

(ख) पुरूरवा एक आदर्श राजा है, अपनी तृष्णा की तृप्ति के लिए उसने कभी भी दूसरे देश की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं किया। वह सदा अपने ही देश की समृद्धि का आकांक्षी रहा है—

नहीं बढ़ाया कभी हाथ पर के स्वाधीन मुकुट पर
न तो किया संघर्ष कभी पर की वसुधा हरने को।

(ग) पुरूरवा उर्वशी का सच्चा प्रेमी है। उसने उर्वशी में ही ईश्वर के रूप को देख लिया है। अतः उसके अभाव को वह सहन नहीं कर सकता। जब सुकन्या के द्वारा उसे यह ज्ञात होता है कि उर्वशी देवलोक में चली गई तो उस समय रौद्र-रस-पूर्ण कहे गए उसके शब्द दर्शनीय हैं। आकाशवाणी के द्वारा उसके चित्त की रौद्रता तो भले ही शान्त हो जाती है मगर वह राजमहल फिर भी उसे खाने को आता है। अतः तत्क्षण राजभवन का त्याग करके वह संन्यास धारण कर लेता है।

औशीनरी

औशीनरी महाराज पुरूरवा की महारानी है। दिनकर जी ने औशीनरी के रूप में ऐसी नारी का चित्रण किया है जो पति को सब कुछ देकर भी दुःखी रहती है; उस पर संकटों का पहाड़ क्यों न टूट पड़े लेकिन कभी उफ तक नहीं करती; अपने पति को कुमार्ग पर जाते देख कभी मुख नहीं खोलती और मौन धारण किए रहती है। संक्षेप में औशीनरी के व्यक्तित्व की निम्न विशेषताएँ हैं—

(क) औशीनरी पतिव्रता स्त्री है। पति की आज्ञा मानना ही पतिव्रता स्त्री का धर्म है। औशीनरी भी अपने पति के एक-एक संकेत पर अपना जीवन तक बलिदान कर सकती है। उसे पता है कि पति मुझसे विमुख होकर उर्वशी के साथ गन्धमादन पर्वत चले गए हैं। वह मरना चाहती है, मगर सैनिकों के साथ औशीनरी को समाचार मिलता है कि अगले वर्ष हम लौटकर पुत्रेष्टि यज्ञ करेंगे, अतः ईश्वर की पूजा-साधना में लगी रहें। औशीनरी इस आज्ञा को तुरन्त शिरोधार्य करती है। ऐसे समय में औशीनरी जैसी गृहिणियों की विवशता दर्शनीय है—

हाय, मरण तक जीकर मुझको हालाहल पीना है।

(ख) नारी बड़ी असहाय है। वह अपने दुःख को जबान पर लाने में भी असमर्थ है। पुरुष बड़े से बड़ा पाप करें तो भी कुछ नहीं मगर नारी यदि उफ भी कर दे तो उसे कुलच्छनी का तमगा मिल जाता है। अपनी असहायता का वर्णन करते हुए औशीनरी कहती है—

"अवलम्ब है सबको, मगर, नारी बहुत असहाय है।
दुख दर्द जतलाओ नहीं,
मन की व्यथा गाओ नहीं,
नारी ! उठे जो हूक मन में, जीभ पर लाओ नहीं।"

(ग) पति के द्वारा इतनी पीड़ित किए जाने पर भी औशीनरा अपने पति की मंगल-कामना करती है। वह भाग्यवादी है। अपने ही भाग्य में दोष मानकर चलती है। इसलिए पति की मंगल-कामना के लिए चन्द्रमा की पूजा करती है और अच्छे दिनों की प्रतीक्षा करती है—

"कुल-वामा क्या करे, किन्तु, जब यह विपत्ति आ जाए ?
प्रिय की प्रीति हेतु रानी कोई व्रत साध रही है,,
सुना, आजकल चन्द्र-देवता को आराध रही है।"

× × ×

"तब भी मरुत अनुकूल हों,
मुझको मिलें, जो शूल हों,
प्रियतम जहां भी हों, बिछे सर्वत्र पथ में फूल हों।"

(घ) औशीनरी वत्सलहृदया है। यह जानते हुए कि 'आयु' उस उर्वशी का जाया है जिसने मेरे बसे हुए घर को उजाड़ कर रख दिया। वह उसे अपनी छाती से लगाने के लिए बेचैन है। एक आदर्श गृहिणी की भांति ममत्व उसमें कूट-कूट कर भरा है।

"आ बेटा ! लूं जुड़ा प्राण छाती से तुझे लगाकर।"

× × ×

पिता गए बन, किन्तु, अरे माता तो यहीं खड़ी है।
बेटा अब भी हो अनाथ नरनाथ नहीं ऐलों का।
तुझे प्यास वात्सल्य सुधा की, मैं भी उसी अमृत से।
बिना लुटाये कोष हाय ! आजीवन भरी रही हूँ।

(ङ) औशीनरी का आधार लेकर कवि ने गृहिणी नारी का जीवंत चित्र खींचने के लिए कुछ सूक्तियां अंकित की हैं जो सचमुच उनके जीवन का जीता-जागता चित्र हैं—

'रुदन छोड़ विधि ने सिरजा क्या और भाग्य नारी का ?'

× × ×

'वाणी का वर्चस्व रजत है, किन्तु, मौन कंचन है।
पर, क्या मिला, अन्त में जाकर मुझको इस कंचन से।'

× × ×

'नारी क्रिया नहीं, वह केवल क्षमा, क्षान्ति, करुणा है।'

× × ×

'और देवि ! जिन दिव्य गुणों को मानवता कहते हैं,
उससे भी अत्यधिक निकट नर नहीं, मात्र नारी है।' आदि।

सुकन्या

सुकन्या च्यवन ऋषि की धर्मपत्नी है। कवि ने इसके चरित्र का बड़े आदर्श रूप में व्याख्यान किया है। एक राजा की कन्या होते हुए भी उसके विचारों में किसी प्रकार का अहं नहीं है। वह आन्तरिक प्रेम की पुजारिन है। अपने बाहरी सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर वह मुग्ध नहीं होती; उसे तो प्रेम की भीतरी ज्योति चाहिए जिसे महर्षि च्यवन ने पहचाना था—

सबको लगा, मोहिनी सी मुझमें कुछ भरी हुई है,
पर, यह सम्मोहन तरंग आती है उमड़ जहाँ से ।
भीतर के उस महासिन्धु तक किसकी दृष्टि गई है ।
देखा उसे महर्षि च्यवन ने और सुप्त महिमा को ।
जगा दिया आयास मुक्त, निश्छल प्रशस्ति यह गाकर,
'हरि प्रसन्न यदि नहीं' सिद्धि बनकर तुम क्यों आई हो ।

सुकन्या अप्रतिम सुन्दरी है । समाधि भंग हो जाने के उपरान्त च्यवन जब सुकन्या को देखते हैं तो उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाते हैं और उसके अनुपम सौन्दर्य का वर्णन किए बिना नहीं रहते—

सुर: कुल की शुचि प्रभा या कि मानव-कुल की तनया हो ।
कहां मिला यह रूप देखते ही जिसको पावक की ।
दाहकता मिट गई, स्थाणु से पत्ते निकल रहे हैं ।

सुकन्या पतिव्रता नारी है । अपने पति के पदचिन्हों पर चलना वह अपना धर्म समझती है । पति की तपस्या, करुणा, क्षमा तथा उदारता—सभी उसमें कूट-कूट कर भरी हुई है । शरणागत की रक्षा करना एवं अतिथि का आदर-मान करना अपना परम पुनीत कर्त्तव्य समझती है । उर्वशी पुत्र-प्रजनन के लिए सुकन्या की शरण में आती है । सुकन्या उसे सिर-माथे पर रखती है एवं उसकी चिन्ता को अपनी चिंता समझती है ।

वह कर्त्तव्य-निष्ठ भी है । आयु का पालन-पोषण करके उसे राजा के पास पहुंचाने का कार्य-भार वह अपने सिर पर ले लेती है—

"शस्त्र-शास्त्र-निष्णात, अंग से बली, विभासित मन से
जब अपना यह आयु पूर्ण कैशोर प्राप्त कर लेगा
पहुंचा दूंगी स्वयं इसे ले जाकर राजभवन में ।"

सुकन्या वात्सल्य रस की स्रोतस्विनी धारा है । आयु को देखकर उसके हृदय में भी ममता का उदय हो जाता है । यह जानते हुए कि यह मेरा पुत्र नहीं है और न ही इसे मेरे पास रहना है, वह उसे अपने आंचल में छिपाकर रखना चाहती है और उसे अपना मुन्ना समझकर उसकी क्रीड़ाओं की कल्पना करती है—

मनोवैज्ञानिक बनाकर एक शाश्वत सत्य का उद्घाटन करता है—वह सत्य जो पाठकों अथवा श्रोताओं के हृदय पर अपेक्षाकृत गम्भीर प्रभाव करता है। यहां पर यह बता देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि यद्यपि काव्यकार को ऐतिहासिक काव्य-रचना करते समय अपनी कल्पना का प्रयोग करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है, तथापि उसकी यह स्वतन्त्रता भी कतिपय सीमाओं से आबद्ध होती है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि ऐतिहासिक काव्यकार को इतिहास की प्रख्यात घटनाओं को विकृत करने का बिलकुल भी अधिकार नहीं होता। यदि वह ऐसा करेगा तो उसके काव्य का प्रभाव बिखर जायेगा, क्योंकि-जनमानस में इतिहास ने जो गहरी रेखायें खींच दी हैं, वे सहज ही नहीं मिटाई जा सकतीं। इसीलिए ऐतिहासिक काव्यकार अपनी कल्पना का प्रयोग या तो प्रख्यात ऐतिहासिक घटनाओं की कड़ी जोड़ने के लिए करता है, या छोटी-मोटी ऐतिहासिक घटनाओं को अभीप्सित रूप देने के लिए और अपने प्रतिपाद्य की प्रभविष्णुता बढ़ाने के लिए।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि किसी भी ऐतिहासिक काव्य में दो तत्त्व अनिवार्यतः विद्यमान होते हैं—ऐतिहासिक तत्त्व और कल्पना-तत्त्व। अतः किसी ऐतिहासिक काव्य का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विवेचन करते समय इन दो तत्त्वों के अतिरिक्त यह भी परखना होता है कि काव्यकार का कल्पना-तत्त्व काव्य की प्रभावशीलता में किस सीमा तक साधक अथवा बाधक सिद्ध होता है।

उर्वशी, निस्सन्देह ऐतिहासिक नहीं वरन् प्रागैतिहासिक घटनाओं पर आधृत काव्य-रचना है। इसकी ऐतिहासिकता का विवेचन उपयुक्त मापदण्डों पर करना भी उचित और आवश्यक है।

ऐतिहासिक-तत्त्व—सम्यक् अध्ययन की दृष्टि से 'उर्वशी' के ऐतिहासिक तत्त्वों को दो वर्गों के अन्तर्गत रखा जा सकता है—कथावस्तु और पात्र।

कथावस्तु—'उर्वशी' में महाराज पुरूरवा और उर्वशी की प्रेमकथा वर्णित

है। इसमें संदेह नहीं कि यह कथा भारतीय इतिहास में आदिकाल से ही मिलती है। सर्वप्रथम ऋग्वेद में इसका उल्लेख प्राप्त होता है—

'पुरूरवः ! पुनरस्तं परेहि,
दुरापना वात इवाहमस्मि।

अर्थात् हे पुरूरवा ! तुम अपने घर लौट जाओ। मैं वायु के समान दुष्प्राप्य हूं। इस सूक्त से यह भली-भाँति ज्ञात हो जाता है कि उर्वशी पुरूरवा को छोड़कर चली गई थी और महाराज पुरूरवा विरहोन्मत्त होकर उसकी खोज कर रहे थे इसके पश्चात् ऋग्वेद में यह कथा आगे भी चलती है जिसमें बताया गया है कि जब उर्वशी पुरूरवा को मिली तो वह गर्भवती थी, इसलिए उसने महाराज पुरूरवा के साथ रहना अस्वीकार कर दिया।

इसके पश्चात् तो अनेक भारतीय ग्रंथों में इस कथा का भिन्न-भिन्न प्रकार से उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में बताया गया है कि महाराज पुरूरवा से उर्वशी को छः पुत्र-रत्न प्राप्त हुए। इन पुत्रों में सबसे बड़े पुत्र का नाम आयु था।

कहने का भाव यह है कि उर्वशी-पुरूरवा-आख्यान ऋग्वेद से आविर्भूत हो कर परवर्ती युगों में अपने भिन्न-भिन्न रूपों में आख्यायित होता रहा, किन्तु इसकी ऐतिहासिकता अथवा प्रागैतिहासिकता असंदिग्ध है, इसमें दो मन नहीं हो सकते।

'उर्वशी' का प्रतिपाद्य काम है। मानव-मन की यह भावना इतनी महत्त्वपूर्ण है कि इसका रूप भी ऐतिहासिक बन गया है। सर्वप्रथम इसका उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है—

'कामः तदग्रे समवर्त्तताधि······'

इसके पश्चात् तो अनेक पुराणों ने और शास्त्रों ने इसका खूब विवेचन किया—

१. काममय एवायं पुरुषः।
२. आनन्दममृतं दिव्यं परं ब्रह्म तदुच्यते।
परमात्मेति चाप्युक्तं विकाराः कामसंज्ञिकाः।
३. अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।

४. यं धर्मार्थविमुक्तिकामाः भजन्त इष्टां गतिमाप्नुवन्ति ।

५. धर्मादर्थः अर्थतः कामः कामाद् धर्मफलोदयः ।

६. यथा पुष्पफलं काष्ठात् कामः धर्मार्थयोः वरः ।

७. काम कुसुम धनु-सायक लीन्हे, सकल भुवन अपने बस कीन्हे ।
मोह न अन्ध कीन्ह केहि केही, को जग काम नचाव न जेही ।

८. मैं काम रहा सहचर उनका,
उनके विनोद का साधन था ।
हँसता था और हँसाता था,
उनका मैं कृतिमय जोवन था ।

इन कतिपय उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय साहित्य में काम के स्वरूप का विकास भी ऐतिहासिक क्रम के चलता रहा है, अर्थात् काम का प्रतिपादन भी ऐतिहासिक है । अतः कहा जा सकता है कि इतिहास उर्वशी की केवल कथा का ही आधार नहीं, वरन् इसका प्रतिपाद्य भी ऐतिहासिक है ।

पात्र—उर्वशी के प्रमुख पात्र हैं उर्वशी, पुरूरवा, च्यवन ऋषि, सुकन्या, आयु, औशीनरी, मेनका और अन्य सखियां । ये सब पात्र ऐतिहासिक हैं । इनमें से भी उर्वशी, पुरूरवा, च्यवन ऋषि, सुकन्या और आयु विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । अतः यहां इनकी ही ऐतिहासिकता पर संक्षिप्त प्रकाश डालना अपेक्षित है ।

१. उर्वशी—इसमें सन्देह नहीं कि ऋग्वेद में ही उर्वशी का आविर्भाव हो गया था, किन्तु उर्वशी की उत्पत्ति किस प्रकार हुई इस विषय में निर्विवाद रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता । इसकी उत्पत्ति के विषय में दो मत प्रचलित हैं । एक मत तो यह है कि जब देव और असुरों ने मिलकर समुद्र-मंथन किया था, तो उससे जो अप्सरायें निकली थीं, उन्हीं में उर्वशी थी । दूसरा मत यह है कि इसकी उत्पत्ति नारायण ऋषि की उरु से हुई । इस मत से सम्बंधित कथा इस प्रकार है कि एक बार नारायण ऋषि ने घोर तप करना प्रारम्भ कर दिया । उनके तप को देखकर इन्द्र को यह भय हुआ कि यदि नारायण ऋषि की तपस्या पूर्ण हो गई तो वे उसके इन्द्रासन को छीन

लेंगे। फलतः उसने कुछ अप्सरायें ऋषि के तप को भंग करने के लिए भेजीं। अप्सराओं ने अपने रूप से ऋषि को आकर्षित करने के अनेक प्रयास किये। इस पर ऋषि ने क्रुद्ध होकर अपने उरु से एक ऐसी नारी उत्पन्न की जो उन सबसे अधिक रूपमती थी। उसके रूप के आगे सब अप्सराओं का सौन्दर्य फीका पड़ गया। वे लजाकर वापिस लौट गईं। उरु से उत्पन्न होने के कारण ही इस रूपमती नारी का नाम उर्वशी पड़ा।

दिनकर ने इन दोनों ही मतों का उल्लेख किया है। इनमें से कौन मान्य है और कौन अमान्य? इस प्रश्न का इन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। महाराज पुरूरवा उर्वशी से पूछते हैं—

'कहते हैं, मैं स्वयं विश्व में आया बिना पिता के,
तो क्या तुम भी, उसी भांति, सचमुच, उत्पन्न हुई थीं,
माता बिना, मात्र नारायण ऋषि की कामेच्छा से,
तपः पूत नर के समस्त संचित तप की आभा-सी।'

× × ×

'या समुद्र जब अन्तराग्नि से आकुल, तप्त, विकल था,
तुम प्रसून-सी स्वयं फूट निकलीं उस व्याकुलता से,
ज्यों अम्बुधि की अन्तराग्नि से अन्य रत्न बनते हैं?'

महाराज पुरूरवा और उर्वशी की प्रेम-कथा भी ऐतिहासिक है। 'हिन्दी-कथाकोष' में इसका विवरण इन शब्दों में दिया गया है—

'एक बार इन्द्र की सभा में नृत्य करते हुए वह (उर्वशी) राजा पुरूरवा पर मुग्ध हो गई जिससे उसका ताल भंग हो गया। इस पर इन्द्र ने उसे मर्त्यलोक में जन्म-ग्रहण करने का शाप दिया। उर्वशी ने पुरूरवा का पत्नीत्व इस शर्त पर स्वीकार किया कि यदि वह राजा को नग्न देख ले अथवा वे यदि उसकी इच्छा के विरुद्ध समागम करें अथवा उसके दो मेष यदि स्थानान्तरित कर दिए जायें तो वह उन्हें छोड़कर पुनः स्वर्गलोक चली जायेगी। दोनों दीर्घकाल तक साथ रहे······पर उर्वशी की अनुपस्थिति उधर गन्धर्वों को बहुत खलती थी और उन्होंने विश्वबसु नामक गन्धर्व को उर्वशी के मेषों

को चुराने के लिए भेजा। उस समय पुरूरवा नग्न थे और मेषों को चुराने की आहट पाकर वे उसी दशा में उनके पीछे दौड़े। इस अवसर पर गन्धर्वों ने सर्वत्र प्रकाश कर दिया, जिससे उर्वशी ने महाराज को नग्न रूप में देख लिया। सारे बन्धन टूट जाने पर उर्वशी पुनः शापमुक्त होकर स्वर्गलोक में चली गई।'

महाराज पुरूरवा भी ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। ऋग्वेद में इनका उल्लेख मिलता है—

'पुरूरवः ! पुनरस्तं परेहि, दुरापना वात इवाहमस्मि।'

अर्थात् हे पुरूरवा ! तुम अपने घर को लौट जाओ। मैं वायु के समान दुष्प्राप्य हूं।

महाराज पुरूरवा सोम-वंश के आदि पुरुष हैं। इनकी राजधानी प्रतिष्ठानपुर में थी। यह स्थान आधुनिक प्रयाग के आस-पास है। पुराणों में पुरूरवा से सम्बंधित जो आख्यान मिलता है, उसमें बताया गया है कि जब मनु और श्रद्धा को सन्तान की इच्छा हुई तो उन्होंने वशिष्ठ से यज्ञ करवाया। श्रद्धा चाहती थी, वह कन्या की माता बने और मनु चाहते थे कि उन्हें पुत्ररत्न की प्राप्ति हो। यज्ञानुष्ठान से तो कन्या की ही उत्पत्ति हुई, किन्तु महर्षि वशिष्ठ ने मनु की इच्छानुसार उस कन्या को पुत्र बना दिया। इसका नाम सुद्युम्न रखा गया। जब सुद्युम्न युवा हो गया तो एक दिन बन में शिकार खेलने के लिए गया। अनजाने ही वह किसी ऐसे वन में जा निकला जिसमें प्रवेश निषिद्ध था। फलतः वह युवा से युवती बन गया और उसका नाम इला हो गया। इला का प्रेम चन्द्रमा के पुत्र बुध से हो गया जिसके फलस्वरूप पुरूरवा की उत्पत्ति हुई।

स्वयं दिनकर ने इसी आख्यान का उल्लेख 'उर्वशी' की भूमिका में किया है, किन्तु इसकी कोई विवेचना इन्होंने नहीं की। इतना अवश्य कहा है कि पुरूरवा का कोई पिता नहीं था—

'कहते हैं, मैं स्वयं विश्व में आया बिना पिता के';

किन्तु कवि ने अपनी इस मान्यता का कोई आधार नहीं बताया। फिर

भी इतना निर्विवाद कहा जा सकता है कि पुरूरवा और इनका प्रेमाख्यान ऐतिहासिक है।

महर्षि च्यवन और उनकी पत्नी भी ऐतिहासिक पात्र हैं। ऋग्वेद में च्यवन और अश्विनीकुमारों का उल्लेख मिलता है। महाभारत के अनुसार च्यवन की माता का नाम फलोमा और पिता का नाम भृगु था। हिन्दीकथाकोष में इनका विवरण इस प्रकार दिया हुआ है—

'कहा जाता है कि जब इनकी (च्यवन की) माता गर्भवती थी तभी एक राक्षस उन्हें ले भागा। मार्ग में भय से इनका गर्भपात हो गया। द्रवीभूत हो राक्षस ने उनको सद्यः जन्म पुत्र के साथ चले जाने की आज्ञा दे दी। उसी पुत्र का नाम च्यवन हुआ। च्यवन बहुत बड़े ऋषि हो गये हैं। एक बार नर्मदा-तट पर घोर तपस्या करते हुए ये बहुत दिनों तक समाधिस्थ रहे। इनके सारे शरीर को दीमकों ने ढक लिया, केवल आंखें ही चमकती रहीं। उनके इस आश्रम में एक बार शर्याति की कन्या सुकन्या पहुंची और इनकी आंखों को जुगनू समझकर खोद दिया जिससे आंखों से रक्त बहने लगा। राजा शर्याति क्षमा मांगने आए, पर स्त्री-रूप में सुकन्या को देने पर ही च्यवन क्षमा करने को प्रस्तुत हुए।

आयु भी ऐतिहासिक पात्र है। पुराणों में बताया गया है कि महाराज पुरूरवा से उर्वशी को छः पुत्र-रत्नों की प्रति हुई जिनमें सबसे बड़े पुत्र का नाम आयु था। इसके अतिरिक्त औशीनरी, मेनका तथा अन्य सखियां भी ऐसे पात्र हैं जिनका उल्लेख भारतीय वाङ्मय में मिल जाता है।

इस संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उर्वशी का आख्यान और इसके पात्र ऐतिहासिक हैं।

कल्पना-तत्व

पहिले कहा जा चुका है कि किसी भी ऐतहासिक काव्य में कल्पना का मिश्रण अवश्य होता है। कल्पना के मिश्रण में दो तत्त्व कार्य करते हैं—प्रतिपाद्य की प्रभाव-प्रवणता और कवि पर अपने युग का प्रभाव। उर्वशी में भी कवि ने अनेक घटनाओं को हेर-फेर करके प्रस्तुत किया है। यह हेर-फेर कुछ तो पूर्ववर्ती साहित्य में ही हो चुका था, जिसे

कवि ने ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है और कुछ युगानुरूप अपनी कल्पना का संबल लिया है। किन्तु यह संबल कवि को बहुत ही कम लेना पड़ा है।

उर्वशी और पुरूरवा का प्रेम किस प्रकार हुआ, इस विषय में कथाकोष का उद्धरण देकर यह बताया जा चुका है कि इन्द्र की सभा में नाचते हुए उर्वशी महाराज पुरूरवा पर मुग्ध हो गई थी। उर्वशीकार ने इस घटना को इस रूप में स्वीकार (न करके उस रूप में स्वीकार) किया है, जिसमें कविकुल-गुरु कालिदास स्वीकार कर चुके थे; अर्थात् एक राक्षस से महाराज का उर्वशी को बचाना और तब उर्वशी का उन पर मुग्ध होना—

'.........पुकार सुनी हमारी एक राजा ने,
दौड़ पड़े वे सदय उर्वशी को अविलंब बचाने।
और उन्हीं नरवीर नृपति के पौरुष से, भुजबल से
मुक्त हुई उर्वशी हमारी उस दिन काल-कवल से।'

इस प्रकार की घटना की स्वीकृति से काव्य का प्रभाव अधिक सबल और मनोवैज्ञानिक हो गया है। साथ ही नारी में पुरुष के पौरुष के प्रति जो सहज प्रेम होता है, उसकी अभिव्यक्ति के कारण उर्वशी के चरित्र में अपेक्षाकृत अधिक निखार आ गया है।

हिन्दी-कथाकोष में बताया गया है कि उर्वशी ने अपनी ही कुछ ऐसी शर्तें रक्खी थीं, जिनके कारण उसे महाराज पुरूरवा का परित्याग करना पड़ा। दिनकर ने इस घटना को न अपनाकर पद्मपुराण की उस घटना को अपनाया है जिसमें भरत के शाप का उल्लेख किया गया है—

'विस्मृताऽभिनयं सर्व मत्पुरातन वेदितम्,
शशाम भरतः कोपाद्वियोगात्तस्य भूतले।'

इस घटना से उर्वशी के नारी-रूप को अधिक महत्ता और स्वाभाविकता प्राप्त हुई है। केवल शर्त्तों का बन्धन रखने पर उर्वशी अन्य अप्सराओं की उस परिधि से बाहर नहीं निकल सकती थी जो प्रेम को केवल एक खिलवाड़ समझती हैं, समर्पण को एक प्रकार का सुखकर खेल मानती हैं। भरत-शाप

की घटना का ग्रहण करने से एक तो उर्वशी के पत्नी-रूप में निखार आ गया है और दूसरे उसका माता-रूप भी व्यापक बन पड़ा है। आयु को सुकन्या की गोद में देते समय उर्वशी का समस्त मातृत्व उबल पड़ता है—

'अपना सुख तृणवत् नगण्य है, उसे छोड़ सकती हूं।
किन्तु, पुत्र का भाग्य भूमि पर रह कैसे फोड़ूंगी।'

महर्षि च्यवन और सुकन्या की कथा में भी कवि ने कल्पना का प्रयोग किया है। कथाकोष में बताया गया है कि उसे महर्षि ने उनके पिता से मांगा। इस घटना में महर्षि का चरित्र कुछ धूमिल बन जाता है। दिनकर ने इस घटना को जो रूप दिया है, उससे महर्षि च्यवन का चरित्र बहुत ऊंचा उठ जाता है, साथ ही काम का स्वरूप भी उदात्त बन जाता है।

अतः कह सकते हैं कि 'उर्वशी' में इतिहास और कल्पना का मधुर एवं प्रभावक सामंजस्य है। यदि पूर्ववर्ती साहित्य एवं कवियों की कल्पना-जन्य घटनाओं को भी ऐतिहासिक मान लिया जाये तो यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि कवि दिनकर को इस काव्य में अपनी कल्पना से घटना-प्रसूत करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी है। इनकी कल्पना की महत्ता तो केवल विविध रूपों में से किसी एक रूप का चयन करने में ही निहित रही है। कल्पना का यह योग भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

———

: ६ :

उर्वशी का काव्यरूप

आधुनिक हिन्दी-साहित्य संस्कृत-काव्य-शास्त्र और पश्चात्य काव्य-शास्त्र दोनों से पूर्णतः प्रभावित है। इसमें जहां एक ओर संस्कृत-काव्य-शास्त्र के नियमों का रूढिबद्ध पालन परिलक्षित होता है, वहां दूसरी ओर पाश्चात्य प्रभाव के अथवा प्रणेता की स्वच्छन्दता के कारण रूढ़िमुक्त प्रवृत्ति भी दिखाई देती है। फलतः आधुनिक हिन्दी-साहित्य की किसी भी कृति का काव्यरूप विवेचित करने के लिए इन दोनों दृष्टियों से विचार करना उपयुक्त ही नहीं, अनिवार्य भी है।

रूढिबद्ध काव्यरूप

रूढ़िबद्ध काव्यरूप से तात्पर्य काव्य के उस वर्गीकरण से है जो संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य को पुरुष का रूप राजशेखर द्वारा ९वीं शताब्दी में ही दिया जा चुका था—

'तेषु सारस्वतेयो वृन्दीयसामपि वन्द्यः काव्यपुरुष असीत।'

सम्भवतः इसी रूपक के कारण काव्य के वर्गीकरण के दो आधार निश्चित हुए—

१. रमणीयता का आधार: इस आधार पर काव्य की आत्मा का विवेचन हुआ।

२. स्वरूप अथवा बंध का आधार : इस आधार पर काव्य के शरीर का विवेचन हुआ।

रमणीयता के आधार पर काव्य के तीन भेद किये गये—ध्वनिकाव्य या उत्तम काव्य; गुणीभूत व्यंग्य काव्य या मध्यम काव्य; चित्रकाव्य या अधम काव्य। पंडितराज जगन्नाथ ने एक चौथा भेद—उत्तमोत्तम काव्य—और माना, किन्तु यह प्रचलित न हो सका। फलतः उपर्युक्त तीन भेदों को ही मान्यता मिली।

स्वरूप अथवा बंध के आधार पर काव्य के दो भेद किये गये—श्रव्य-काव्य और दृश्य काव्य। श्रव्यकाव्य तीन भागों में बांटा गया—गद्यकाव्य, और चम्पूकाव्य। प्रबन्ध की दृष्टि से पद्यकाव्य के दो रूप किये गये—प्रबंध-काव्य और मुक्तक काव्य। विस्तार की दृष्टि से प्रबंधकाव्य को दो भागों में विभाजित किया गया—महाकाव्य और खंड काव्य।

दृश्य काव्य के दस भेद किये गये—नाटक, प्रकरण, भाग, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अंक, वीथी और प्रहसन।

रूढ़िमुक्त काव्यरूप

रूढ़िमुक्त काव्यरूप से तात्पर्य हिन्दी-साहित्य के उन काव्य रूपों से है जिनमें पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के प्रभाव अथवा प्रणेता की स्वच्छन्द प्रकृति के कारण रूढ़िबद्ध काव्यरूपों का नियमत: परिपालन नहीं मिलता। हिन्दी-साहित्य में प्रचलित रूढ़िमुक्त काव्यरूपों में नाट्यात्मक, स्वानुभूति प्रधान और आख्यान प्रधान में तीन भेद प्रमुख हैं। नाट्यात्मक काव्यरूप के प्रमुख भेद हैं— नाट्य महाकाव्य और गीतिनाट्य।

इन वाक्य रूपों में से 'उर्वशी' किसके अन्तर्गत आती है? इस प्रश्न के उत्तर में चार रूपों की सम्भावना होती है—महाकाव्य, नाटक, नाट्यमहाकाव्य और गीतिनाट्य। इन संभावित रूपों में से किसी एक रूप को स्थिर करने के लिये यह आवश्यक है कि इन रूपों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया जाये।

महकाव्य का स्वरूप

संस्कृत-महाकाव्य में सर्वप्रथम आचार्य भामह ने महाकाव्य के जिस विवेचन का सूत्रपात किया था, वह आचार्य विश्वनाथ में आकर पूर्णता को प्राप्त हो गया। आचार्य विश्वनाथ ने एतद्विषयक अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के मतों का समन्वय करके एक प्रकार से उनकी व्याख्या ही कर दी। परवर्ती आचार्य भी प्राय: उसी व्याख्या को ईषत् शब्द-भेद के द्वारा पुरावृत्त करते रहे अत: यहां पर केवल आचार्य विश्वनाथ से ही पर्याप्त होगा।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार महाकाव्य में निम्नलिखित विशेषताएं होती हैं—

१. महाकाव्य का नायक सुर अथवा प्रख्यात राजवंश से सम्बद्ध कोई क्षत्री होना चाहिए ।

२. महाकाव्य में शृंगार, वीर या शान्त रस में से एक रस अंगी होना चाहिए । साथ ही अन्य रस और सारी नाटक-संधियां होनी चाहिए ।

३. महाकाव्य की कथावस्तु ऐतिहासिक अथवा किसी महापुरुष के जीवन से सम्बद्ध कोई लोक-प्रसिद्ध वृत्त होना चाहिए, जिसमें चारों पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) का वर्णन करके नायक को किसी एक की प्राप्ति हुई हो ।

४. महाकाव्य के प्रारम्भ में मंगलाचरण या वस्तुनिर्देश हो । कहीं-कहीं दुष्टों की निन्दा और सज्जनों की स्तुति की गई हो ।

५. महाकाव्य में कम से कम आठ सर्ग होने चाहिए जो न तो बहुत दीर्घ हों और न बहुत छोटे । एक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग होना चाहिए और सर्गान्त में वह छंद परिवर्तित कर देना चाहिए । एक सर्ग ही में अनेक छन्द भी हो सकते हैं । सर्ग के अन्त में भावी कथा का संकेत होना चाहिए ।

६. महाकाव्य में संध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रदेश, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल मध्यान्ह, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन-उपवन, समुद्र, सम्भोग, विप्रलम्भ, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह, पुत्र-जन्म आदि का वर्णन होना चाहिए ।

७. महाकाव्य का नाम कवि, वर्ण्य विषय, नायक अथवा अन्य किसी आधार पर होना चाहिए ।

८. महाकाव्य के सर्ग का नाम उस सर्ग में वर्णित विषय के आधार पर होना चाहिए ।

आचार्य विश्वनाथ ने महाकाव्य की जो विशेषताएं बताई हैं, उन्हें दो वर्गों में रक्खा जा सकता है—स्थिर और अस्थिर । स्थिर विशेषताएँ वे हैं जिनका पालन करना प्रत्येक महाकाव्यकार के लिए अनिवार्य है । अस्थिर विशेषताओं पर अनिवार्यता का बन्धन नहीं । इस वर्गीकरण के अनुसार कहा

जा सकता है कि नायक, रस और कथावस्तु महाकाव्य की स्थिर विशेषताएं हैं और शेष अस्थिर। अतः यहां पर इन तीनों की व्याख्या विशेष रूप से अपेक्षित है।

१. नायक—सभी संस्कृत आचार्यों ने एक स्वर से यह स्वीकार किया है कि महाकाव्य का नायक उदात्त व्यक्ति होना चाहिए। भामह के अनुसार नायक में कुल, बल और शास्त्राध्ययन आदि के गुण हों; दण्डी के अनुसार वह चतुर और उदात्त हो। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी महाकाव्य का नायक इसी रूप में स्वीकार किया गया है। अरस्तू के अनुसार महाकाव्य के पात्र भद्र, वैभवशाली, यशस्वी और कुलीन होने चाहिएं। यहां 'पात्र' शब्द में नायक का भी सन्निवेश है। अतः यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि महाकाव्य का नायक एक ऐसा उदात्त व्यक्ति होना चाहिए—चाहे वह दिव्य हो, अदिव्य हो या दिव्यादिव्य हो—जिसका प्रभाव समग्र समाज पर पड़े।

२. रस—आचार्य भामह ने किसी एक रस का नामोल्लेख न करके 'रसैश्च सकलैः पृथक्' कहकर सभी रसों का महाकाव्य के लिए उचित बताया है। इसका कारण यह है कि संस्कृत-काव्य-शास्त्र में तब अंगीरस का प्रश्न ही नहीं उठा था। दण्डी ने भी 'रसभावनिरन्तरम्' कह कर रस की व्यापकता की ओर तो संकेत किया, पर अंगीरस का प्रश्न इन्होंने भी नहीं उठाया। आचार्य विश्वनाथ ने ही यह स्पष्ट किया कि महाकाव्य का अंगीरस शृंगार, वीर या शान्त में से एक होना चाहिए।

भारतीय काव्यशास्त्र की भांति पाश्चात्य काव्यशास्त्र में रस का विवेचन नहीं है।

३. कथावस्तु—महाकाव्य की कथा भी उदात्त होनी चाहिए। यह उदात्तता दो प्रकार से आ सकती है—या तो कथा का ग्रहण इतिहास से किया जाये, या किसी प्रख्यात महापुरुष के जीवन पर आधृत हों। महाकाव्य की कथावस्तु की प्रभावान्विति बनाये रखने के लिए आचार्यों ने अनेक नियमों का प्रतिपादन किया है। नायक और रस की समुचित योजना भी इसी के प्रभाव को अक्षुण्ण बनाने के लिए की गई है। इनके अतिरिक्त, प्रभाव को

अधिक ग्राह्य बनाने के लिए इसमें नाटक-संधियों की नियोजना, चतुर्वर्ग की प्राप्ति का विधान, सर्ग और छन्दों का नियमन आदि किया गया है। इसीलिए अनेक नियमों द्वारा इसे गम्भीर और व्यापक बनाने के प्रयास संस्कृत-आचार्यों ने किये हैं।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी महाकाव्य की कथावस्तु की गरिमा को एक स्वर से स्वीकार किया गया है। डब्ल्यू० टी० लिखते हैं—

'कहाकाव्यों में चरित्रों की कल्पना बहुत ही स्पष्ट और सम्पूर्ण रूप में की जाती है, अतः उनकी विभिन्न मनःस्थितियों और समस्याओं के चित्रण के कारण महाकाव्य में नाना प्रकार के दृश्यों और गुणों का चित्रण स्वभावतः हो जाता है। इस प्रकार इसमें समग्र जीवन के कार्य-कलाप जीवन-कथा का रूप धारण कर लेते हैं। महाकाव्य की सफलता कवि की कल्पना (शक्ति और चरित्र-चित्रण) पर निर्भर होती है।

सी० एम० बावरा भी शब्द-भेद से इसी भाव की अभिव्यक्ति करते हैं—

'महाकाव्य बृहदाकार कथात्मक काव्य रूप है जिसमें कुछ महत्वपूर्ण और गरिमायुक्त घटनाओं का वर्णन होता है और जिसमें कुछ चरित्रों के क्रियाशील और भयंकर कार्यों से भरे जीवन की कथा होती है। उसके पढ़ने से हमें एक विशेष प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है, क्योंकि घटनाएं और पात्र हमारे भीतर मनुष्य की महत्ता, गौरव और उपलब्धियों के प्रति दृढ़ आस्था उत्पन्न करते हैं।

उर्वशी में महाकाव्य के तत्व

महाकाव्य के तत्त्वों की दृष्टि से यदि उर्वशी का विवेचन किया जाये तो इसमें महाकाव्य के स्थिर ही नहीं, अनेक अस्थिर लक्षण भी प्राप्त होते हैं। उर्वशी का नायक पुरूरवा उदात्त है। वह राजवंशी है, सुन्दरता और वीरता का आधार है। उसकी अमित सुन्दरता को देखकर ही तो उर्वशी अपना सर्वस्व उसके प्रति समर्पण कर देती है—

'और परम सुन्दर भी।
ऐसा मनोमुग्धकारी तो होता नहीं अमर भी।'

महाराज पुरूरवा जितने सुन्दर हैं, उतने ही वीर हैं। उनका अपनी वीरता के प्रति दृढ़ विश्वास स्वयं उन्हीं के शब्दों में देखिए—

'सामने टिकते नहीं वनराज पर्वत डोलते हैं,
काँपता है कुंडली मारे समय का व्याल,
मेरी बाँह में मारुत गरुड़, गजराज का बल है।

सारांश में कहा जा सकता है कि एक उदात्त और धीरोदात्त नायक में जिन गुणों की अपेक्षा है, वे सब महाराज पुरूरवा में मिल जाते हैं।

उर्वशी की कथा भी प्रख्यात है। यह कथा इतनी पुरानी है कि वेद, पुराणों के अतिरिक्त संस्कृत-साहित्य में इसका खूब प्रचार रहा है और कविकुलगुरु कालिदास जैसे महाकवि भी इसे अपनाने का लोभ संवरण नहीं कर सके हैं। यह कथा आधिकारिक है। इसके साथ ही च्यवन ऋषि की कथा प्रासंगिक है।

इस काव्य का अंगीरस शृंगार है, जो महाकाव्य के अंगीरस के लिए स्वीकृत है। इस कथा का फल काम है, वैसे पुरूरवा के संन्यास-ग्रहण का संकेत करके कवि ने मोक्ष की ओर भी इंगित किया है।

इन स्थिर लक्षणों के अतिरिक्त उर्वशी में महाकाव्य के अनेक अस्थिर लक्षणों का भी परिपालन किया गया है। जैसे—प्रकृति का वर्णन, वृत्तों का वैविध्य, पर्वत, ऋतु, मुनि, स्वर्ग, यज्ञ, विवाह, पुत्र-जन्म आदि।

इन तत्वों के प्राप्त होने पर भी उर्वशी को महाकाव्य नहीं माना जा सकता। इसके प्रमुख कारण ये हैं—

१. उर्वशी की कथा सर्गों के स्थान पर अंकों में विभाजित की गई है। भविष्य में भी महाकाव्य की कथा के अंकों में विभाजित होने की कोई संभावना नहीं है, क्योंकि यह परिपाटी नाटक के लिए सर्वमान्य हो चुकी है।

२. इसमें यत्र-तत्र नाटकीय संकेत हैं।

३. इसकी कथा में वह व्यापकता और विविधता नहीं है जो महाकाव्य की कथा के लिए अपेक्षित होती है। जीवन के एक पहलू—केवल काम—का ही

सविस्तार वर्णन हुआ है। प्रथम दो अंकों में आधिकारिक कथा सूच्य है। जिसके कारण महत्वपूर्ण घटनाओं का उचित अभिनिवेश न होने के कारण प्रभावान्विति शिथिल हो जाती है। इसके अतिरिक्त प्रासंगिक कथा भी सूच्य है। प्रासंगिक कथा के नायक महर्षि च्यवन का तो दर्शन भी नहीं होता, न उनके मुख से कोई शब्द ही सुनने को मिलता है। कथा में घटनाओं की अपेक्षा चिन्तन का प्राधान्य है। इसलिए महाकाव्योचित चरित्रों का उद्घाटन नही हो पाया है।

४. प्रारम्भ से अंत तक संवादात्मक शैली अपनाई गई है।

नाटक का स्वरूप

धनञ्जय ने नाटक के स्वरूप का जो विवेचन किया है, उसका सारांश इस प्रकार है—

१. जिस कथावस्तु का नायक उत्कृष्ट कोटि के सेवन करने योग्य गुणों से युक्त हो, धीरोदात्त हो, प्रतापशाली हो, कीर्ति की इच्छा करने वाला हो, बड़ा ही उत्साही हो, वेदत्रयी की रक्षा करने वाला हो और प्रसिद्ध वंश वाला या तो कोई राजर्षि हो या दिव्य हो; ऐसे ही नायक वाली प्रख्यात कथावस्तु को आधिकारिक वृत्त बनाना चाहिए।

२. इस कथावस्तु को पांच भागों में विभाजित कर लेना चाहिये। इन पांचों भागों में पांचों सन्धियों की योजना करनी चाहिये।

३. यदि कथानक के अनुसंधान के लिये वस्तु का विस्तार अपेक्षित तो हो, किन्तु नीरस समझ कर उसका परित्याग आवश्यक समझा जाय तो उस नीरस वस्तु की सूचना देने के लिए विष्कम्भक का प्रयोग करना चाहिये। यदि प्रारम्भ से ही सरस कथा हो तो विष्कम्भक की कोई आवश्यकता नहीं होती। ऐसी दशा में आमुख का आश्रय लेकर अंक को ही प्रारम्भ कर देना चाहिये।

४. रस के अधिक विस्तार के द्वारा वस्तु को बहुत अधिक विच्छिन्न नही करना चाहिये।

५. शृंगार और वीर दोनों रसों में से एक रस को अंगी बनाना चाहिये।

शेष सारे रस अंग होने चाहिये। निर्वहण सन्धि में अद्भुत रस का समावेश होना चाहिये।

६. दूर का मार्ग, वध, युद्ध, विप्लव, सुरत, अनुलेपन, वस्त्र का पकड़ना इत्यादि उत्तेजक बातों को प्रत्यक्ष नहीं दिखाना चाहिये। केवल प्रवेशक इत्यादि से इनकी सूचना दे देनी चाहिये।

७. एक ही दिन में एक ही प्रयोजन से किये गये कार्यों को एक अंक में दिखलाना चाहिये। एक अंक में तीन या चार पात्र होने चाहिये और अंक के अंत में इन पात्रों को निकल जाना चाहिये।

इस विवेचन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

१. नाटक की कथावस्तु प्रख्यात होनी चाहिये।

२. इसका नायक उदात्त गुणों से सम्पन्न होना चाहिये।

३. इसमें शृंगार या वीर रस में से एक रस अंगी होना चाहिये। अन्य रस भी सहायक रूप में हों, पर रस का विस्तार कथा-प्रवाह में बाधक न हो।

४. विष्कम्भक आवश्यक नहीं, अंक से ही वस्तु प्रारम्भ की जा सकती है।

५. उत्तेजक दृश्य वर्जित हैं।

६. एक अंक में चार से अधिक पात्र नहीं होने चाहिये। तथा एक अंक की वस्तु का समय एक दिन से अधिक नहीं होना चाहिए।

इन नियमों में पहले तीन नियम—कथावस्तु, नायक, अंगीरस—स्थिर नियम हैं और शेष अस्थिर। अतः स्थिर नियमों की व्याख्या अपेक्षित है।

१. **कथावस्तु**—महाकाव्य की भांति नाटक की कथावस्तु भी या तो ऐतिहासिक होनी चाहिये या किसी प्रख्यात पुरुष से सम्बन्धित होनी चाहिये। प्रभावान्विति के लिए इसका पांच अंकों तथा पांच सन्धियों—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और निर्वहण—में विभाजन कर लेना चाहिए। नाटक की कथावस्तु के विभाजन के तीन मुख्य आधार हैं—

१. प्रभावान्विति की दृष्टि से।

२. समर्पण की दृष्टि से।

३. नाट्यधर्म की दृष्टि से।

प्रभावान्विति की दृष्टि से इसके दो भेद होते हैं—आधिकारिक और प्रासंगिक। मुख्य कथा को आधिकारिक और उसकी अंगभूत गौण कथा को प्रासंगिक कहते हैं।

समर्पण की दृष्टि से भी इसके दो भेद होते हैं—सूच्य और दृश्य। जो वस्तु रसहीन हो, वह केवल सूचित होनी चाहिये, क्योंकि उसका अभिनय कथावस्तु की प्रभावान्विति में बाधक होगा। इसके विपरीत अभिनेय कथावस्तु दृश्य कहलाती है।

नाट्यधर्म की दृष्टि से इसके तीन भेद होते हैं—सर्वश्राव्य, नियतश्राव्य और अश्राव्य। जिसे सुनाना सबको अभीष्ट हो, वह सर्वश्राव्य; जिसे कुछ निश्चित पात्रों को सुनाना ही अभीष्ट हो, वह नियतश्राव्य और जिसे किसी भी पात्र को सुनाना अभीष्ट न हो, वह अश्राव्य कथावस्तु कहलाती है।

अभिनय भी नाटक की कथावस्तु का प्रमुख अंग है। अभिनय चार प्रकार का होता है—आंगिक (अंग द्वारा सम्पादित), वाचिक (वाणी द्वारा सम्पादित), आहार्य (वेशभूषा द्वारा सम्पादित) और सात्त्विक (मनोभावों द्वारा सम्पादित)।

नाटक की कथावस्तु की परिणति फल में होनी चाहिए। यह फल—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से कोई एक—नायक को प्राप्त होना चाहिये।

२. **नायक**—महाकाव्य के नायक की भांति नाटक का नायक भी उदात्त गुणों से सम्पन्न हो; वह धीरोदात्त, प्रतापी, कीर्ति की इच्छा रखने वाला, सोत्साही, वेदत्रयी का रक्षक, प्रख्यात वंशी राजर्षि या दिव्य हो। धनंजय ने नाटक के नायक के लिये इन गुणों को अनिवार्य बताया है—

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियम्वदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढ़वंशः स्थिरो युवा॥
बुद्ध्युत्साह स्मृति प्रज्ञाकलामान समन्वितः।
शूरो दृढ़श्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः॥

अर्थात् नाटक का नायक विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियभाषी, लोकप्रिय, शुचि, वाग्मी, रूढवंश, स्थिर, युवा, बुद्धिमान्, उत्साही, स्मृतिवान्, प्रज्ञावान्,

कला-समन्वित, मानी, शूर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्रविद् और धार्मिक होना चाहिए।

इन गुणों के अतिरिक्त नायक में शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, स्थिरता, ललित और औदार्य ये आठ सात्विक गुण भी माने गए हैं।

नायक के चार भेद होते हैं—धीर ललित, धीर प्रशान्त, धीरोदात्त और धीरोद्धत। जो नायक निश्चिन्त, कलाओं में आसक्त, सुखी और कोमल होता है, उसे धीर ललित कहते हैं। सामान्य गुणों से युक्त द्विज इत्यादि को धीर-प्रशान्त कहते हैं। जो बहुत तेजस्वी हो, अत्यन्त गम्भीर हो, सहनशील हो, मितभाषी हो, स्थिर हो, निरहंकारी तथा दृढ़प्रतिज्ञ हो, उसे धीरोदात्त कहते हैं। जिसमें दर्प और मात्सर्य बहुत अधिक हो, जो माया और छद्म में लगा हुआ हो, जो अहंकारी, चंचल, उग्र और शेखीबाज हो, उसे धीरोद्धत कहते हैं।

शृंगार-सम्बन्धी नायक के तीन भेद होते हैं—दक्षिण, शठ और धृष्ट। जो अन्य नायिका के द्वारा अपहृत होते हुए भी प्रथम नायिका से सहृदयता का व्यवहार करता है, वह दक्षिण नायक कहलाता है। जो नायक पूर्व नायिका का चुपके-चुपके अपकार करे, वह शठ नायक होता है और जिस नायक के अंग व्यक्त रूप से विकृत हों, उसे धृष्ट नायक कहते हैं।

नायक के उपर्युक्त विवेचन से यह सहज ही बोध हो जाता है कि नाटक की नायिका भी उदात्त होनी चहिए।

३. **रस**—नाटक में शृंगार या वीर-रस में एक रस अंगी होना चाहिए, शेष रसों की नियोजना अंग रूप में होनी चाहिए।

नाटक की इस विवेचना पर यदि उर्वशी को परखा जाये तो इसमें अनेक नाटकीय तत्त्वों की उपलब्धि होती है। जैसे—

१. इसकी कथावस्तु प्रख्यात है।

२. इसका नायक उन सभी गुणों से सम्पन्न है, जो नाटक के नायक के लिए अपेक्षित हैं। साथ ही नायिका में भी अपेक्षित गुण मिलते हैं।

३. इसकी कथा का विभाजन अंकों में हुआ है। जिसमें यत्र-तत्र नाटकीय संकेत भी हैं। इसकी कथा पाँच अंकों में विभाजित है।

४. प्रारंभ से अन्त तक कथोपकथन की शैली ग्रहण की गई है।

५. नाटक का अंगीरस शृंगार या वीर में से कोई एक होना चाहिए। इसमें शृंगार अंगीरस है।

६. इस काव्य का प्रारम्भ नाटकीय नियमों पर हुआ है। नाटक की संधियां भी इसमें मिलती हैं।

किन्तु फिर भी इसे नाटक स्वीकार नही किया जा सकता। इसके निम्नलिखित कारण हैं—

१. नाटक में कथावस्तु की विविधता और विशदता अपेक्षित होती है। इसकी कथा में इन दोनों तत्त्वों का अभाव है। जीवन के वैविध्य के स्थान पर जीवन की केवल एक समस्या—काम—को ही प्रस्तुत किया गया है। समाधान उसका भी पूर्ण नहीं है।

२. इसमें चिन्तन की गंभीरता है, अतः कथा का प्रवाह टूट गया है। नाटक में इतने गहन चिन्तन की अपेक्षा भी नहीं होती।

३. अभिनय नाटक की आधार-शिला है। इसमें इसका अभाव ही है, क्योंकि इसमें रंगमंचीय संकेत नहीं हैं।

४. इसमें संकलनत्रय की कोई योजना नहीं है।

नाट्यमहाकाव्य का स्वरूप

नाट्यमहाकाव्य हिन्दी-साहित्य के लिए एकदम नवीन शब्द है। पाश्चात्य-साहित्य में इस रूप में अनेक काव्य मिलते हैं, जिनमें जर्मन-कवि गेटे का 'फाउस्ट' तथा अंगरेजी-कवि टामस टार्डी का 'दी डाइनेस्ट' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। नाट्यमहाकाव्य में नाटक और महाकाव्य दोनों के तत्त्वों का मिश्रण होता है। 'साहित्यकोश' में नाट्यमहाकाव्य की परिभाषा इन शब्दों में की गई है—

'नाट्यमहाकाव्य वह पद्यबद्ध काव्य है जिसमें नाटक की कथोपकथन की पद्धति और नाटकीय संधियों से युक्त अन्विति तो होती है, पर जो अभिनेय नहीं होता, क्योंकि उसका कथानक नाटक की अपेक्षा अधिक लम्बा, वैविध्य-पूर्ण और अवान्तर कथाओं तथा अनभिनेय दृश्यों से युक्त होता है और जिसमें नाटक की अपेक्षा गुरुत्व और गाम्भीर्य अधिक होता है।

नाट्यमहाकाव्य के कथानक के लिए जिस लम्बाई, विविधता और

अवान्तर कथाओं की अपेक्षा है, वे उर्वशी में नहीं मिलते, अतः इसे इस भेद के अन्तर्गत भी नहीं रक्खा जा सकता ।

गीतिनाट्य का स्वरूप

गीतिनाट्य उस काव्य को कहते हैं जिसमें नाटकीय तत्त्वों के साथ गीतिकाव्य की विशेषताएँ भी सम्मिलित हों। गीतिनाट्य के प्रमुख तत्त्व ये हैं—

१. भावों का प्राधान्य ।

२. कथा का सौन्दर्य कम, भावाभिव्यंजना का अधिक ।

३. कठोर और परुष घटनाओं एवं रसों का बहिष्कार ।

४. जीवन के कोमल, सूक्ष्म तथा भावात्मक चित्रण ।

५. बाह्य चेष्टाएँ कम, मनोभाव अधिक ।

६. अन्तर्द्वन्द्व की प्रधानता ।

७. प्रकृति के रम्य रूप का चित्रण ।

८. पात्रों की सीमित संख्या ।

९. यत्र-तत्र नाटकीय संकेत ।

१०. चार या पांच दृश्य (अथवा अंक)

११. अभिनेयता आवश्यक नहीं ।

१२. संगीतात्मकता, अतः गीतों की योजना ।

विस्तार-भय से यहां केवल इतना कहना ही पर्याप्त है कि उर्वशी में ये सभी तत्व पूर्णतया मिलते हैं। अतः कहा जा सकता है कि उर्वशी का काव्यरूप गीतिनाट्य है। यह काव्यरूप हिन्दी-साहित्य के लिए काफी जाना-माना है ।

: ७ :

उर्वशी का प्रकृति-चित्रण

'प्रकृति' शब्द अंग्रेजी के Nature का पर्याय है। प्रकृति का शाब्दिक अर्थ है—स्वभाव, मिजाज, वह मूल सत्ता जिसका परिणाम जगत् है, माया; परमात्मा तथा पंचभूत आदि। कविता में प्रकृति-चित्रण से तात्पर्य है कवि का रागात्मिका वृत्ति का आधार लेकर मूल सत्ता, माया, परमात्मा तथा पंचभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) का अपने-अपने ढंग से सहज एवं स्वाभाविक चित्रण करना। इस प्रकार अंशीरूप प्रकृति (मूलसत्ता, माया, परमात्मा, पंचभूत) का मानव एक अंश है। अतः मानव और प्रकृति का शाश्वत काल से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। जीवन तथा साहित्य दोनों में ही इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। कला और साहित्य की यह मूल प्रेरणा और कवि के भाव-स्फुरण की आधार-शिला है। इसके अंश होने के कारण हम प्रकृति में अपने क्रोध, प्रसन्नता, उमंग-उल्लास आदि भावों की छाया भी देखते हैं। प्रकृति का सौंदर्य शाश्वत है। इसके सौंदर्य पर मानवीय जगत की विभीषिकाओं का कोई प्रभाव नहीं देखा जाता। दुःख की ज्वालाओं में जलते संसार के बीच यह अपने ही आनन्दोल्लास में थिरकती रहती है"—अंग्रेजी कवि टेनीसन ने प्रकृति की शाश्वता की अभिव्यक्ति इन शब्दों में की है—

"For men may come and men may go,
But I go on for ever."

प्रकृति का यह शाश्वत सौन्दर्य ही अनादि तत्त्व की रहस्यमयी सत्ता को जानने का राजद्वार है, किन्तु प्रकृति से सहज एवं अटूट सम्बन्ध स्थापित करने के लिए मानव में सदैव रागात्मिका वृत्ति के रहने की परमावश्यकता है। "मनुष्य शेष प्रकृति के साथ अपने रागात्मक सम्बन्ध का विच्छेद करने से अपने आनन्द की व्यापकता को नष्ट करता है।"

आदि काल से लेकर अब तक विभिन्न कवियों की रागात्मिक वृत्ति में अनेकरूपता होने के कारण विभिन्न कवियों की प्रवृत्ति, निरीक्षण और अनुभूति के अनुसार प्रकृति का चित्रण कई ढंग से हुआ है। प्रकृति-चित्रण के भेदोपभेद का वर्गीकरण इस प्रकार है—

१—आलम्बन रूप—

(अ) नाद-व्यंजना अथवा अनुरणनात्मकता

(ब) प्रकृति का रूप-विस्तार

(स) गति-विधि का निरीक्षण

(ज) वर्ण या रंगों की पहचान

(ह) गन्ध की संवेदना

(स) स्पर्श की संवेदना

२—उद्दीपन

३—मानवीकरण

४—आलंकारिक विधान

५—प्रतीक विधान

६—रहस्यानुभूति अथवा रहस्य-सत्ता की अनुभूति

७—उपदेशात्मकता

८—पृष्ठभूमि व वातावरण की सृष्टि के रूप

९—कवि-समय के रूप

'उर्वशी' के आधार पर इन भेदोपभेदों का संक्षिप्त विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है—

१. आलम्बन रूप

"आलम्बनो नायिकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात।" अर्थात् "जिस व्यक्ति अथवा वस्तु के कारण नायक आदि में कोई भाव जागृत होता है, उस व्यक्ति अथवा वस्तु को उस भाव का आलम्बन विभाव कहते हैं। आलम्बन विभाव ही वास्तविक रस भूमि है। इसके बिना काव्य-रचना और काव्यास्वाद दोनों ही असम्भव हैं।" आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तो 'आलम्बन मात्र के विशद वर्णन

को श्रोता में रसानुभव करने में पूर्ण समर्थ' मानते थे। यदि कवि ने प्रकृति का आंख खोलकर मौलिक दर्शन न किया तो प्रकृति के अन्य प्रयोगों में भी उसका दौर्बल्य झलक जाएगा। प्रकृति को आलम्बन रूप में वर्णन करने पर कवि की दो स्थितियां हुआ करती हैं—

१. प्रकृति के प्रति उन्मुक्त प्रेम-भाव की व्यंजना।

२. प्रकृति का शब्द-चित्रण।

आलम्बन रूप में प्रकृति के इस दृश्य-चित्रण के कवि की सूक्ष्मदर्शिता के आधार पर ६ भेद होते हैं। 'उर्वशी' में इन सभी के उदाहरण मिल जाते हैं।

(अ) नाद-व्यंजना—प्रकृति स्वतः संगीतमयी है। इसमें कवि को चारों ओर नाना प्रकार की ध्वनियां सुनाई देती हैं, जैसे पक्षियों का कल-कूजन, भ्रमरों का गुंजार, लहरों की कल-कल, वृक्षों का मर्मर स्वर आदि। 'उर्वशी' में भी नाद-व्यंजना मिलती है। यथा—

"शान्ति, शान्ति सब ओर, किन्तु यह क्वणन-क्वणन-स्वन कैसा ?
अतल व्योम उर में ये कैसे नूपुर झनक रहे हैं।"

× × ×

श्रवण कर रहे थे मयूर तट पर से कान लगा कर,
मेघमन्द्र डुग-डुग-ध्वनि जलधारा में घट भरने की।

× × ×

झलमल-झलमल सरित्सलिल वह ऊषा की लाली से,
शस्यों पर बिछली-बिछली आभा वह रजत किरण की,
चहक-चहक उठना वह विहगों का निकुंज पुंजों में,
स्वर्गवासिनी मैं, श्रद्धा से नमस्कार करती हूं,
अविनश्वर सौन्दर्यपूर्ण नश्वर इस महा मही को।

× × ×

इस प्रकार कवि ने अनुरणनात्मक शब्दों द्वारा प्रकृति का सजीव एवं मनोहारी वर्णन किया है।

(ब) प्रकृति का रूप-विस्तार—प्रकृति के रूप-विस्तार के लिए कवि को प्रकृति के अन्तस् के गहन ज्ञान से युक्त होना परमावश्यक है। रूप-विस्तार

में पर्वत, भूमि, मैदान, कुंज, पेड़, पौधे, लता-पत्र, छाया, समुद्र, झील, नदियां, आकाश, मेघ, बिजली, सूर्य, चन्द्रमा, उषा, संध्या, इन्द्रधनुष आदि के चित्र सम्मिलित हैं जिनका कवि उल्लेख मात्र नहीं करता, अपितु कवि कल्पना के द्वारा उनमें कमनीयता पैदा करता है। यथा—

"फूलों की नाव बहाओ री, यह रात रुपहली आई
फूटी सुधा सलिल की धारा
डूबा नभ का कूल किनारा
सजल चांदनी की सुमन्द लहरों में तैर नहाओ री।"

× × ×

"दूर-दूर तक फैल रही दूबों की हरियाली है,
बिछी हुई इस हरियाली पर शबनम की जाली है।"

× × ×

"बिछा हुआ है जाल रश्मि का मही मान सोती है।"

उपर्युक्त चित्रण के आधार पर यह सहज स्पष्ट है कि कवि ने प्रकृति-अवयवों का परिगणन मात्र नहीं किया, अपितु अपनी सूक्ष्म कल्पना के द्वारा उनमें कमनीयता पैदा की है; उनको भाव के रंगों तथा कला की तूलिका द्वारा नए रंग दिए हैं।

(स) **गति-विधि का निरीक्षण**—"इसमें कवि वस्तु-व्यापारों की सूक्ष्म गति-विधि का ऐसा अंकन करता है कि उससे उसकी (कवि की) दृष्टि की निकटदर्शिता सूचित हो। जब तक प्रकृति के प्रति राग नहीं होता, तब तक यह कार्य सम्भव नहीं।" उर्वशी में प्रकृति के अनेक ऐसे रूप भरे पड़े हैं। उदाहरणार्थ, दिनकर की 'निशा' के प्रति निकटदर्शिता का यह चित्र प्रस्तुत है—

"ऋक्षकल्प झिलमिल भावों का, चन्द्रलिंग स्वप्नों का
दिवस शत्रु, एकान्त यामिनी धात्री है, माता है।
आती जब शर्वरी, पोंछती नहीं विश्व के सिर से
केवल तपन-चिन्ह, केवल लांछन सफेद किरणों के;

श्रमहारी, निर्मोघ, शान्तिमय अपने तिमिरांचल से
कोलाहल, कर्कश निनाद को भी समेट लेती है।"

(ज) **वर्णों या रंगों की पहिचान**—कवि प्रकृति का प्रेमी होता है। वह अपनी प्रकृति-प्रेमिका को विभिन्न वर्णों या रूपों-रंगों में देखता है। इस चित्रण में कवि की भावना सूक्ष्म से सूक्ष्मतर हो जाती है। रंगों का स्थूल रूप ही चित्रित करना पर्याप्त नहीं है, अपितु जिनकी दृष्टि सूक्ष्म रूप धारण कर रंगों के विभिन्न भेद-प्रभेदों, छायाओं व मिश्रणों को टटोल कर ढूंढ़ निकालती है वे अधिक सच्चे कवि कहलाते हैं। प्रकृति में नीला, लाल, बैंगनी, हरा, नारंगिया और पीला रंग अधिक मोहक एवं सजीव लगता है। इस विषय में उर्वशी का यह उदाहरण प्रस्तुत है—

"देह-कान्ति पीतिमा-युक्त; गति नहीं पदों के वश में,
चल लेती है किसी भांति पीकर उस मेघाली सी
जो समुद्र का जल पीकर मन्थर डगमगा रही है।"

× × ×

"कब था ज्ञात मुझे, इतनी सुन्दर होती है नारी ?
लाल-लाल वे चरण कमल से, कुंकुम से, जावक से,
तन की रक्तिम कान्ति शुद्ध, ज्यों, धुली हुई पावक से।"

× × ×

"बजा व्योम-वीणा के तार,
भरतीं हम नीली झंकार।"

(ह) **गन्ध की संवेदना**—समुद्र के तट पर, प्रथम वर्षा के समय हल-जुती धरती से, सावन-भादों की कड़ी धूप में जलते जंगली लता-पत्रों से, प्रभात-पवन से तथा पुष्पों से विशेष प्रकार की मधुर गन्ध निकलती है। कवि दिनकर का ध्यान इस ओर विशेष नहीं था। यत्र-तत्र पुष्पों की सौरभ का वर्णन अवश्य मिल जाता है, लेकिन वह भी हमारे लक्ष्य की पूर्णतः तृप्ति नहीं करता—

"इन प्रफुल्लित प्राण-पुष्पों में मुझे शाश्वत शरण दो,

गन्ध के इस लोक से बाहर न जाना चाहता हूं।"

× × ×

"मैं इसी अगुरु की ताप-तप्त,
मधुमयी गन्ध पीने आयी।"

(प) **स्पर्श की संवेदना**—'त्वचा के माध्यम से प्राप्त मृदुल-तरल अनुभूतियां वाणी पाने के लिए संवेदनशील कवि के हृदय को गुदगुदा कर मचल उठती है। शरद-शशि की रश्मियां, शीतकाल की दोपहरी की सुखद धूप, प्रातः पवन, श्याम सलोनी छाया व कनक-किरण आदि के स्पर्श पुलकाकुल करने वाले होते हैं।' कवि ने चान्दनी रात का कितना गहरा संवेदनपूर्ण स्पर्श किया है, यह द्रष्टव्य है—

मुदित चांद की अलकें चूमो,
तारों की गलियों में घूमो,
झूल गगन-हिंडोरे पर, किरणों के तार बढ़ाओ री,
यह रात रुपहली आई।

२. उद्दीपन रूप

"प्रकृति का उद्दीपन के रूप में प्रयोग उसका एक अत्यन्त व्यापक प्रयोग है। इसमें कवि का प्रकृति के प्रति स्वतन्त्र अनुराग व्यक्त न होकर मानव-सापेक्ष रूप ही प्रकट होता है। प्रकृति मानव के सुख में सुखी व दुःख में दुःखी दिखाई जाती है। उद्दीपन रूप में प्रकृति जड़ भी हो सकती है और चेतन भी।"

यूं तो उर्वशी में प्रकृति के चित्रण उद्दीपन रूप में सैंकड़ों प्रसंगों में दर्शित हैं, मगर एक प्रसंग कवि ने बड़े आकर्षक ढंग से प्रस्तुत किया है। पुरूरवा पार्थिव शरीर के आलिंगन-परिरम्भण का मोह त्याग कर उर्ध्वलोक में उठना चाहते हैं। उर्वशी भला यह कैसे देख सकती थी? अतः पुरूरवा का ध्यान भंग कर उसे पुनः आलिंगन-पाश में बद्ध करने के लिए वह प्रकृति का अत्यन्त उद्दीपन रूप में वर्णन करती है। यहां कवि की शैली दर्शनीय है—

"ना, यों नहीं; अरे, देखो तो उधर, बड़ा कौतुक है
नगपति के उत्तुंग, समुज्ज्वल, हिम-भूषित शृंगों पर

कौन नयी उज्ज्वलता की तूली सी फेर रहा है ?
कुछ वृक्षों की हरित मौलि पर, कुछ पत्तों से छन कर
छांह देख नीचे मृगांक की किरणें लेट गई हैं ।"

× × ×

दमक रही कर्पूर धूलि दिग्वधुओं के आनन पर
रजनी के अंगों पर कोई चन्दन लेप रहा है

× × ×

कम कर दी दूरता कौमुदी ने भू और गगन की
उठी हुई सी मही, व्योम कुछ झुका हुआ लगता है ।"

इस प्रकार उर्वशी ने किरणों के धरती पर लेट जाने, रजनी रूपी नायिका के मुख पर चन्दन के लेप करने; धरती का कुछ ऊपर की ओर उठने तथा आकाश का धरती के ऊपर झुकने के द्वारा पुरूरवा के मानस में पुनः काम-व्यापारों को जागृत करने की सफल चेष्टा की है ।

३. मानवीकरण रूप

" 'अमानव' में 'मानव'-गुणों के आरोप करने की साधारण प्रवृत्ति या प्रक्रिया को मानवीकरण कहा जाता है ।" अर्थात् जब कवि प्रकृति के विभिन्न व्यापारों में व्यक्तिगत जीवन का आरोप कर लेता है तो पशु-पक्षी, वृक्ष-लता, चांद-तारे सभी में उसे मानव क्रिया-कलाप की झलक मिलती है। प्रकृति-चित्रण के इसी रूप को मानवीकरण कहते हैं ।

निशा को कवि ने एक सम्राज्ञी का रूप प्रदान किया है । उसकी अनुपम छटा देखिए—

"सम्राज्ञी विभ्राट, कभी जाते इसको देखा है
समारोह प्रांगण में पहने दुकूल तिमिर का
नक्षत्रों से खचित कूल-कीलित झालरें विभा की,
गूथे हुए चिकुर में सुरभित दाम श्वेत फूलों के ।"

इसी प्रकार—

"जब से तुम आयी, धरती पर फूल अधिक खिलते हैं,
दौड़ रही कुछ नयी दीप्ति-सी शीतल हरियाली में ।

सब हैं सुखी, एक नक्षत्रों को ऐसा लगता है,
जैसे कोई वस्तु हाथ से उनके निकल गई हो।"

× × ×

"रुदन किया होगा कितना अम्बुधि ने तुम्हें गंवा कर

— — —

शून्य हो गया होगा सारा हृदय महासागर का"

× × ×

कैसे वे तटिनियां उछलती हुई सुढाल शिला पर
हमें देख चलने आती थीं और अधिक इठलाकर

मानवीकरण के एक से एक उत्तम चित्र उर्वशी में मिल जाएंगे।

४. आलंकारिक विधान

अलंकरण रूप में प्रकृति का वर्णन सबसे अधिक हुआ है। कवि नर-नारी के सौन्दर्य को द्विगुणित करने के लिए अलंकारों का प्रयोग करता है। अलंकारों के लिए कवि को उपमानों का चयन स्थूल अथवा सूक्ष्म, जड़ अथवा चेतन प्रकृति से ही करना पड़ता है। प्रकृति के आंचल से लिए गये उपमानों से प्राकृत मानव के सौन्दर्य में चार चांद लग जाते हैं।

दिनकर ने उर्वशी में आलंकारिक चित्रण की अतिशयता अवश्य की है, मगर उसे उपहासास्पद या कृत्रिम नहीं कहा जा सकता। प्रकृति का एक से एक आलंकारिक चित्रण अनुपम है। यथा—

उरु दण्ड परिपुष्ट, मध्य कृश, पृथुल प्रलम्ब भुजाएं,
वक्षस्थल उन्नत, प्रशस्त कितना सुभव्य लगता था।
उषा-विभासित उदय-शैल की, मानो, स्वर्ण शिला हो।

(उत्प्रेक्षा)

× × ×

"यह शिला-सा वक्ष ये चट्टान सी मेरी भुजाएं।"

(उपमा)

"शान्ति-शान्ति सब ओर, मंजु, मानो, चन्द्रिका मुकुट में
प्रकृति देख अपनी शोभा अपने को भूल गयी हो।"

(उत्प्रेक्षा)

— — —

"मुख-सरोज मुस्कान बिना आभा विहीन लगता है।"

(रूपक)

५. प्रतीक-विधान

मानव-मन का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने में प्रतीक-विधान का महत्व-पूर्ण स्थान है। 'हिन्दी साहित्य कोश' में प्रतीक-वाद की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—"प्रतीकों के माध्यम से किसी विषय का प्रतिविधान करना प्रतीक-वाद कहलाता है।" वैसे तो प्रतीक अनेक प्रकार के माने गए हैं, परन्तु उनमें से मुख्य प्रकार तीन हैं—

१. सृजन के प्रतीक
२. नाश के प्रतीक
३. काम के प्रतीक

उर्वशी में अधिकतर 'काम के प्रतीकों' के दर्शन होते हैं। कवि ने यौवन तथा सौन्दर्य के अनेकों नवीन प्रतीकों की योजना की है, यथा वक्षस्थल के लिए स्वर्ण-शिला, लटाओं के लिए नागिन; 'कृशानु सम कपोल तथा अधर'; रक्त के लिए सूर्य तथा मधुरस के लिए चन्द्रमा के प्रतीकों की योजना अपने आप में नवीन है।

दीप की लौ, चातक, किरण, कमल, चन्द्रमा, मीन आदि पदार्थ क्रमशः मूक व्यथा, अतृप्त तृषा, आनन्द का प्रकाश, पवित्रता, शीतलता, तड़फ आदि मानसिक स्थितियों के प्रतीक हैं जिनका 'उर्वशी' में स्थान-स्थान पर चित्रण किया गया है।

६. रहस्याभिव्यक्ति का रूप

जब कवि के चित्त में प्रकृति का रोम-रोम इस प्रकार रम जाए कि उसके (प्रकृति के) अन्तस् में उसे (कवि को) अदृश्य सत्ता के दर्शन अथवा

उपलब्ध नहीं होते । अतः यहां इसके सिद्धान्त पक्ष को व्यक्त करना ही उद्देश्य था ।

निष्कर्ष

'उर्वशी' में दिनकर का यह प्रकृति-चित्रण देखने के पश्चात् चित्त में एक मूल सत्य का उद्भावन तो यह होता है कि राष्ट्रकवि गुप्त आदि की भांति दिनकर के मानस में बैठा हुआ कवि न तो अवरुद्ध हुआ है ; न उसकी गति धीमी पड़ी है तथा न ही समतल पृष्ठभूमि पर आई है, अपितु वह तो निरन्तर विकसनशील है। और, दूसरे इस काव्य के प्रणयन में कवि ने अपनी दिशा को ही बदल दिया। जहां कवि ने पूर्व रचनाओं में सृजन और नाश के मौलिक प्रतीकों का स्थापन किया था वहां उर्वशी में इन प्रतीकों से परे हटकर काम के जीवन्त प्रतीकों का उद्भावन किया। इससे सिद्ध होता है कि कवि की काव्य-मंजूषा नाना रंगावलियों से युक्त है। उसमें भावना के रंग भरे हैं जिनको कवि ने कल्पना की तूलिका द्वारा नाना चित्रों में उपस्थित किया है।

———

: ६ :

उर्वशी में सांस्कृतिक तत्त्व

सभ्यता और सांकृति एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। इन दोनों में तात्त्विक अन्तर अवश्य है। यदि सभ्यता शरीर है तो संस्कृति उसमें निवास करने वाली आत्मा का प्रतिरूप है। पाणिनी के अनुसार सभा में साधु आचरण करने वाले को सभ्य कहा जाता है।'सभ्यता' सभ्य की भाववाचक संज्ञा है। संस्कृति का अर्थ है सम्यक् उन्नति अथवा क्रिया। इस प्रकार सभ्यता की अपेक्षा संस्कृति का क्षेत्र अधिक व्यापक है। समाज में ठीक ढंग से उठने, बैठने, रहने तथा बात करने को सभ्यता कहते हैं। संस्कृति का क्षेत्र इससे बहुत अधिक व्यापक है। यदि एक ही वाक्य में इन दोनों की परिभाषा की जाय तो मनुष्य की भौतिक क्षेत्र की उन्नति सभ्यता एवं मानसिक क्षेत्र की प्रगति संस्कृति कहलाती है। दूसरे शब्दों में, संस्कृति वह सूक्ष्म भावनात्मक तत्व है, जो हृदय की प्रेरणा से बाह्य आचारों में प्रस्फुटित होकर सूक्ष्मता के ही अधिक निकट रहता है; और सभ्यता वह तत्व है, जो हृदय की अपेक्षा बुद्धि से अधिक सम्बन्ध रखता है। उसकी जड़ें सूक्ष्म की अपेक्षा स्थूल में अधिक गहरी उतरी हुई होती हैं, अर्थात्—वह भौतिकता की ओर अधिक झुकी होती हैं, इसलिए संस्कृति की अपेक्षा सभ्यता अधिक परिवर्तनशील है।

लोक-जीवन और संस्कृति--

संस्कृति के वास्तविक दर्शन हमें लोक-जीवन में ही होते हैं। आधुनिक सभ्यता के चोले में रंगे हुए लोग जिन्हें रूढ़ियां तथा अन्धविश्वास कहते हैं, असली अर्थ में वही सच्ची संस्कृति है। इन रूढ़ियों एवं परम्पराओं के पीछे जो एक महान् सत्य एवं वैज्ञानिकता छिपी हुई थी उसे तो आज का सभ्य कहलाने वाला पुरुष भूल गया है और बिना सोचे-समझे उसकी निन्दा करता है। उदाहरण के लिए हमारे देश में शव को चिता में जलाने से पूर्व जल में

तीन डुबकियां लगवाते हैं। लोग तो इसे अंधविश्वास कह देते हैं मगर असलियत यह है कि कभी-कभी ऐसा देखा गया है कि शव में प्राण-वायु शेष रहता है जो जल के स्पर्श से जागृत हो जाता है। इस प्रकार मनुष्य जीव-हत्या से बच जाता है। इसी प्रकार गांवों में स्त्रियां विवाह-शादी के अवसर पर अनेक गीत गाती हैं तथा नवरात्रों के अवसरों पर सांझी आदि रखती हैं जिनसे देखा जाय तो साहित्य एवं चित्रकला आदि का काफी विकास होता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्राचीन यथार्थ संस्कृति का रूप ग्रामों में ही मिलता है।

साहित्य और संस्कृति—

कवि अथवा साहित्यकार बेतार के तार के ग्राहक-यन्त्र के समान है। जिस प्रकार ग्राहक-यन्त्र सम्पूर्ण वायुमण्डल में से अपने मतलब की सूचनाओं को ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार कवि भी अपने समय के वायुमण्डल को अपनी सूक्ष्म दृष्टि से देखता है और उसे अपने दृष्टिकोण से अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है। सच्चा कवि जीवन की वास्तविकताओं को जड़ से पकड़ता है और कल्पना का आधार देकर उसमें मौलिकता प्रदान करता है। वैसे संस्कृति का सच्चा स्वरूप तो लोक-कवि की रचना ही में मिलेगा, लेकिन जीवन के गूढ़ मानसिक सत्यों को जानने वाला कवि भी अपने काव्य में वर्णित आराधान के आधार पर उस देश की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं नैतिक परिस्थितियों का चित्रांकन करता है।

वेद-पुराण-कालीन संस्कृति—

चूंकि दिनकर जी की 'उर्वशी' कृति के आख्यान का मूलाधार वेद-पुराण-कालीन संस्कृति है, अतः तत्कालीन संस्कृति की पृष्ठ-भूमि को जान लेना आवश्यक है जिससे काव्य में संस्कृति के मूल तत्वों को सरलता से घटाया जा सके।

१. **सामाजिक परिस्थितियां**—वैदिक युग में समाज का आधार परिवार था। दो वर्ण थे—आर्य और दास। ऋषियों में आश्रम-व्यवस्था थी। मनुष्य

के जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास इन चार आश्रमों में बांट रखा था। महाभारत के समय वर्णव्यवस्था तो थी, किन्तु जात-पांत नहीं थी। ब्राह्मण,क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र कर्मानुसार माने जाते थे, जन्मानुसार नहीं। उस समय समाज में आठ प्रकार के विवाह प्रचलित थे—ब्राह्म विवाह, प्राजापत्य विवाह, अर्थ, दैव, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच। वैदिक युग में स्त्रियों का बड़ा मान तथा आदर था, किन्तु पौराणिक युग में स्त्रियों की स्थिति समाज में गिर रही थी। वे पुरुषों की सम्पत्ति समझी जाने लगी थीं।

२. **धार्मिक परिस्थितियां**—वैदिक काल में ब्रह्म-शक्ति की पूजा यज्ञों में आहुति डालकर की जाती थी। एक ही ईश्वर का रूप प्रकृति की नाना शक्तियों में अग्नि, सूर्य, वायु, जल, आकाश तथा पृथ्वी में विभिन्न रूपों में चमक रहा है। इन्द्र, अग्नि, वरुण तथा सूर्य की स्तुति होती थी। महाकाव्य युग में धर्म में बड़ा अन्तर आ गया, देवी-देवताओं की पूजा शुरू हो गई थी। पंचयज्ञ (देवयज्ञ, ऋषियज्ञ, पितृयज्ञ, नृयज्ञ तथा भूतयज्ञ) होते थे। राजा लोग राजसूय और अश्वमेध तथा पुत्रेष्टि यज्ञ करते थे। पुनर्जन्म पर पूर्ण विश्वास था। पौराणिक युग में गौ-ब्राह्मण तथा ऋषियों की प्रतिष्ठा, वेद की प्रामाणिकता, परलोक और पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर बहुत बल दिया गया था।

३. **राजनीतिक परिस्थितियां**—वैदिक युग में शासन-व्यवस्था बहुत उन्नत थी। आर्य-जाति कई समूहों में बंटी हुई थी। इनका मुखिया राजा होता था। यह प्रायः वंश-क्रमागत होता था किन्तु उस समय प्रत्येक राजा को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि वह प्रजा का भली-भाँति पालन करेगा। प्रजा तथा राजा के नियंत्रण के लिये एक समिति होती थी। राज्य के मुख्य अधिकारी पुरोहित, सेनापति तथा ग्रामीण होते थे। महाकाव्य युग में भी राजतन्त्र शासन-प्रणाली प्रचलित थी। राजा वंश-क्रमागत होता था। ब्राह्मण एवं ऋषियों का राजा आदर करता था। आदर्श राजा का यह कर्त्तव्य था कि वह निर्बलों पर अत्याचार न करे, सीमा का अतिक्रमण न करे और मन,

कम तथा वचन से प्रजा के हित की कामना करे। पौराणिक युग में राजतन्त्र का पूर्ण विकास हो गया था।

इसके अतिरिक्त तत्कालीन पौराणिक कथाओं, उत्सवों, विभिन्न संस्कारों (नामकरण, गोचारण, यज्ञ, विप्रपूजा, याचकों को दान आदि), श्रृंगार तथा वेशभूषा आदि का भी संस्कृति में प्रमुख महत्त्व है।)

उर्वशी और संस्कृति

अब देखना यह है कि कवि ने उर्वशी में वेद-पुराण-कालीन संस्कृति का कितना निर्वाह किया है।

सामाजिकपरिस्थितियां—उर्वशी में 'सामाजिक परिस्थितियों' का पर्यवेक्षण करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकलता है कि समाज में आश्रम-व्यवस्था थी। आठ प्रकार के विवाहों में उस समय ब्राह्म विवाह (पुरूरवा का औशीनरी से विवाह), गान्धर्व तथा राक्षस विवाह प्रचलित थे। पुरूरवा का गन्धमादन पर्वत पर उर्वशी के साथ जाना और परस्पर प्रेम में आबद्ध होकर विवाह करना गान्धर्व विवाह है लेकिन उर्वशी के मुख से कवि ने इस बात का भी संकेत दिया है कि उस समय राक्षस-विवाह भी होता था, जिसके अनुसार जबरदस्ती कन्या का अपहरण कर लिया जाता था। यथा—

"जिन्हें प्रेम से उद्वेलित विक्रमी पुरुष बलशाली
रण से लाते जीत या कि बल-सहित हरण करते हैं।

× × ×

हरण किया क्यों नहीं, मांग लाने में यदि अपयश था।'

औशीनरी के माध्यम से कवि ने तत्कालीन 'नारी-समाज' की दयनीय स्थिति का चित्र खींचा है—

"अवलम्ब है सबको, मगर, नारी बहुत असहाय है।
दुख दर्द जतलाओ नहीं
मन की व्यथा गाओ नहीं,
नारी उठे जो हूक मन में, जीभ पर लाओ नहीं!"

× × ×

"रुदन छोड़ विधि ने सिरजा क्या और भाग्य नारी का?"

× × ×

नारी क्रिया नहीं, वह केवल क्षमा, शान्ति करुणा है।

× × ×

हम हो जाती हैं कृतार्थ अपने अधिकार गंवा कर।

इसके अतिरिक्त तत्कालीन समाज में 'विभिन्न संस्कार' थे जिनका तत्कालीन समाज बड़ी श्रद्धा से पालन करता था, यथा—

(i) शिशु का गोचारण—

फिर कुछ दिन में और तनिक
बढ़ कर प्रति दिन जाएगा
होम धेनुओं को लेकर
गोचर-अनुकूल विपिन में।

(ii) वेद-पाठ—

फिर पवित्र होकर, महर्षि
के साथ यज्ञ-वेदी पर
बैठ हमारा लाल मंत्र—
पढ़-पढ़ कर हवन करेगा।

(iii) विप्र-पूजा तथा मान—

"इलापुत्र में पुरूरवा में नमस्कार करता हूं।"

(iv) याचकों को दान—

द्वार खोल दो कोष-भवन का,
कह दो पौर जनों से;
जितना भी चाहें, सुवर्ण—
आकर ले जा सकते हैं।

(v) जादू-टोने के रूप में मंगल-कलश को शुभदायक मानना—

या कोई रूपसी उन्मना बैठी जाग रही है

× × ×

सिर की ओर चन्द्रमय मंगल निद्राकलश सजाकर।

धार्मिक परिस्थितियां—उर्वशी में राजा, प्रजा तथा ऋषि-ब्राह्मणों की यज्ञों के प्रति श्रद्धा तथा प्रकृति को सम्पूर्ण शक्ति-सम्पन्न बताया गया है। पुरूरवा द्वारा पुत्रेच्छा के लिए नैमिषेय यज्ञ करना इस बात का प्रमाण है—

"एक वर्ष पर्यन्त गन्धमादन पर हम विचरेंगे,
प्रत्यागत हो नैमिषेय नामक शुभ यज्ञ करेंगे।"

प्रकृति में ईश्वर की अदम्य शक्ति का दर्शन करना हो तो तीसरे सर्ग को कहीं से पढ देखिये, उसका ठोस प्रमाण मिल जायेगा। वैदिक काल में इन्द्र, अग्नि, वरुण तथा सूर्य की स्तुति होती थी। कवि ने भी इसका पूर्ण निर्वाह किया है—

कुशल करें अर्यमा, मरुद्गण उतर व्योम-मंडल से
अभिषुत सोम ग्रहण करने को आते रहें भुवन में।
वरुण रखें प्रज्ज्वलित निरन्तर आवहनीय अजल को
रहे दृष्टि हम पर अभीष्ट-वर्षी अमोघ मघवा की।

अभीष्ट प्रसंग न आने के कारण कवि ने पंचयज्ञ तथा राजसूय यज्ञ आदि का उल्लेख नहीं किया है। हां स्थान-स्थान पर पुनर्जन्म की महत्ता, गो-ब्राह्मण की प्रतिष्ठा आदि का वर्णन है—

(i) परलोकवाद या पुनर्जन्मवाद—

तुम्हें खोजता फिरा तैरकर
बारम्बार मरण को
जन्मों के अनेक कुंजों,
वीथियों, प्रार्थनाओं में।

× × ×

मेरी ही थी तपन जिसे फूलों के कुंज-भवन में
जन्म जन्म के तुम आलिंगन से हरती आयी हो।

(ii) नीचे की चार पंक्तियों में गौओं के प्रति सेवा-भाव तथा ब्राह्मणों वं ऋषियों के प्रति सम्मान का लाक्षणिक भाव दर्शित है—

फिर कुछ दिन में और तनिक बढ़ कर प्रतिदिन जाएगा
होम धेनुओं को लेकर गोचर-अनुकूल विपिन में

और सांझ के समय चराकर उन्हें लौट आएगा
सिर पर छोटा बोझ लिए, कुश, दर्भ और समिधा का।

राजनीतिक परिस्थितियां—वैदिक-युगीन शासन-व्यवस्था की भांति पुरूरवा की शासन-व्यवस्था बड़ी उन्नत दिखलाई गई है। वेद-पुराण-कालीन राजनीतिक गति-विधि का उर्वशी में चित्रण देखिये—

(i) राजा वंश-क्रमागत होता था। पुत्रहीन होने पर राजा की यह चिन्ता इस तत्त्व पर पूर्णतः प्रकाश डालती है—

पुत्र ! पुत्र ! अपने गृह में क्या दीपक नहीं जलेगा ?
देवि ! दिव्य यह ऐल वंश क्या आगे नहीं चलेगा ?

(ii) राजा प्रजा के हित का अहर्निश आकांक्षी रहता था। वह न्याय-प्रिय तथा दूसरे देश की सीमाओं का अनतिक्रमण करने वाला होता था।

उर्वशी के मुख से आयु के विषय में कहलाई गई निम्न पंक्तियां देखिए—

जब होगा यह भूप प्रचुर धन-धान्यवती भू होगी
रोग, शोक, परिताप, पाप वसुधा के घट जाएंगे।

दूसरे देश की सीमाओं के अनतिक्रमण के सम्बन्ध में पुरूरवा के मुख से कही गई निम्न पंक्तियों को देखिये—

नहीं बढ़ाया कभी हाथ पर के स्वाधीन मुकुट पर
न तो किया संघर्ष कभी पर की वसुधा हरने को।

(iii) राज्य के मुख्य अधिकारी सेनापति, पुरोहित तथा ग्रामीण होते थे। उर्वशी में इन तीनों की संगति पांचवे सर्ग में दिखाई है। 'सभी सभासद' के रूप में ग्रामणी, पुरोहित 'विश्वमना' तथा महामात्य का इस सर्ग में विस्तृत परिचय दिया गया है।

(iv) राजा ऋषि तथा ब्राह्मण का सम्मान करता था—

पुण्योदय के बिना संत कब मिलते हैं राजा को
इलापुत्र में पुरू पदों में नमस्कार करता हूं।

सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के अतिरिक्त कुछ अन्य तथ्य भी हैं जो तत्कालीन संस्कृति का बोध करवाते हैं। यथा—

क—पौराणिक कथाएँ

ख—मनोरंजन के साधन

ग—शृंगार तथा वेष-भूषा।

(क) पौराणिक कथाएं—

उर्वशी में दस के करीब पौराणिक कथाओं का आलेख है—

(i) पुरूरवा-उर्वशी की मूल कथा।

(ii) ऋषि च्यवन की कथा।

(iii) समुद्र-मन्थन की कथा (पृ० १५)।

(iv) कार्त्तिकेय की कथा (पृ० ३६)।

(v) भरत-शाप की कथा (पृ० १२१)।

(vi) अश्विनीकुमारों की कथा (पृ० १३४)।

(vii) पुलोमा की कथा (पृ० १३६)।

(viii) तारा की कथा (पृ० १४६)। आदि।

(ख) मनोरंजन के साधन—

पौराणिक काल तक आकर नारी पुरुष के मनोरंजन का मुख्य साधन बन गया था। इसके अतिरिक्त विविध वाद्य एवं नृत्य, जलक्रीड़ा, नौकाविहार, आखेट तथा झूला झूलना उस युग के मुख्य मनोरंजन के साधन थे। उर्वशी में यत्र-तत्र इन सबका उल्लेख है। जलक्रीड़ा, नौका-विहार तथा झूला झूलने के एक-एक उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

"सजल चांदनी की सुमन्द लहरों में
तैर नहाओ री।"

× × ×

झूलो गगन-हिंडोर पर,
किरणों के तार बढ़ाओ री।

× × ×

फूलों की नाव बहाओ री,
यह रात रुपहली आई।

(ग) **शृंगार तथा वेशभूषा**—उर्वशी में नारी-पुरुष के शृंगार का मुख्य साधन पुष्प ही बताया है—

आज सांझ को ही उसको फूलों से खूब सजाकर,
सुरपुर से बाहर ले आई सबकी आंख बचाकर।

रात्रि के चित्रण में नारी की वेशभूषा पर भी कवि ने एक स्थान पर अपनी कलम चलाई है—

सम्राज्ञी विभ्राट, कभी जाते इसको देखा है।
समारोह-प्रांगण में पहने हुए दुकूल तिमिर का।
नक्षत्रों से खचित, कूल-कीलित झालरें विभा की।
गुंथे हुए चिकुर में सुरभित दाम श्वेत फूलों के।

इस प्रकार, सारांश में यह कहा जा सकता है कि संस्कृति-तत्त्व की दृष्टि से उर्वशी पर्याप्त रूप में उर्वरा है। उर्वशी का कवि संस्कृति के इतिहास का पूर्ण ज्ञाता है। यही कारण है कि हमें संस्कृति-सम्बन्धी विरोधाभास कहीं पर भी देखने को नहीं मिलता। कवि ने अपने मानस को उर्वशीकालीन संस्कृति में पगाकर ही काव्य का प्रणयन किया है। अतः कहा जा सकता है कि उर्वशी में संस्कृति-तत्त्व पूर्ण रूप में विद्यमान है।

: १० :

उर्वशी में नारी का स्वरूप

साहित्य और समाज का अटूट सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरे को प्रभावित भी करते हैं और स्वयं भी प्रभावित होते हैं। यदि समाज साहित्य को सृजन-सामग्री देता है तो साहित्य उस सामग्री के संयोजन से समाज का चित्रण करके उसका मार्गप्रदशन भी करता है। इसीलिए कोई भी जागरूक साहित्यकार, चाहे वह अपनी कृति में किसी भी युग का चित्रण कर रहा हो, अपने समाज से आँखें मूंद कर साहित्य की रचना नहीं कर सकता।

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि दिनकर जागरूक साहित्यकार हैं। ये चाहे जिस युग को अपने काव्य का प्रतिपाद्य बनायें, किन्तु इनकी आँखें सदैव अपने युग पर रहती हैं। उर्वशी में नारी के स्वरूप-चित्रण में भी इनकी यह प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। आज का युग हिन्दी-साहित्य के उन युगों से कदम भिन्न है, जब नारी को केवल काम की पुत्तलिका और बाह्य सौन्दर्य की निधि माना जाता था। जब कवियों की दृष्टि नारी के केवल शरीर तक ही पहुंच पाती थी, उसकी आत्मा में पैठने की कवियों में शक्ति नहीं थी। आज का कवि नारी की आत्मा में पैठकर उसके वास्तविक स्वरूप का विश्लेषण और विवेचन करता है, आज के समाज में नारी का महत्वपूर्ण स्थान निर्विवाद रूप से स्वीकृत किया जा चुका है तभी तो दिनकर ने कहा है—

"नारी के भीतर एक और नारी है, जो अगोचर और इन्द्रियातीत है। इसी नारी का संधान पुरुष तब पाता है, जब शरीर की धारा, उछालते-उछालते, उसे मन के समुद्र में फेंक देती है, जब दैहिक चेतना से परे, वह प्रेम की दुर्गम समाधि में पहुंच कर निस्पन्द हो जाता है।

नारी का यह रूप विशेष है, जिसका संधान तभी हो सकता है जब मनुष्य उसके शरीर के सुन्दर आवरण को भेद कर उसकी आत्मा में प्रवेश करे। 'उर्वशी' में नारी-आत्मा में प्रवेश करके उसके वास्तविक रूप का संधान किया गया है।

'उर्वशी' में नारी-स्वरूप का विश्लेषण दो विधाओं से किया गया है—

१. नारी के विभिन्न रूपों के द्वारा।

२. नारी के विशिष्ट गुणों के द्वारा।

नारी के विभिन्न रूप

'उर्वशी' में जिन नारी-रूपों को लिया गया है, उन्हें चार वर्गों में रक्खा जा सकता है—

१. नारी का उच्छृंखल-रूप।

२. नारी का प्रेमिका-रूप।

३. नारी का पत्नी-रूप।

४. नारी का माता-रूप।

१. नारी का उच्छृंखल रूप—नारी के उच्छृंखल रूप के अन्तर्गत अप्सराओं की मनोवृत्ति का वर्णन आता है। ये अप्सरायें यद्यपि सौन्दर्य की अपार संधि हैं, ये मनमोहिनी, अभुक्त प्रेम की जीवित प्रतिमाएं, मदिर नयनों से देवों की रण-क्लान्ति हरण करने वाली स्वर्गलोक की अप्सरियां और काम के मन की कामना हैं, तथापि इनका मन उच्छृंखल है, किसी प्रकार का बन्धन इन्हें स्वीकार्य नहीं। इनका जन्म ही सबके मन को मोद से भरने के लिए हुआ है—

> **जनमीं हम किसलिए ? मोद सबके मन में भरने को।**
> **किसी एक को नहीं मुग्ध जीवन अर्पित करने को।**
> **सृष्टि हमारी नहीं संकुचित किसी एक आनन में,**
> **किसी एक के लिए सुरभि हम नहीं संजोती तन में।**

यही कारण है कि इनका मन संयम से हीन और उच्छृंखल है। इनमें कामनाओं का अमित सागर तरंगित होता रहता है और इन तरंगों में ये पुरुषों को डुबोकर पीड़ा के अथाह सागर में धकेल देती हैं—

रचना की वेदना जगाती, पर, न स्वयं रचतीं हम,
बंधकर कहीं विविध पीड़ाओं में न कभी पचतीं हम,
हम सागर-आत्मजा सिन्धु-सी ही असीम उच्छल हैं,
इच्छाओं की अमित तरंगों से झंकृत, चंचल हैं।

अप्सराओं का काम अन्य पुरुषों को विविध पीड़ाओं से पीड़ित करना होता है। ये स्वयं प्रेम की पीड़ा से अनभिज्ञ होती हैं। यही कारण है कि इनके प्रेम में समर्पण की भावना नहीं होती और इसीलिए इनका मन किसी एक सीमा में बन्दी बनकर नहीं रहता। ये तो न जाने कितनों की चाहों में समाई रहती हैं। अपने इस 'हरजाईपन' पर इन अप्सराओं को लज्जा नहीं, वरन् गर्व है। इनके मन में रूप ही सब कुछ है, भावना कुछ भी नहीं। इसीलिए इन्हें भूलोक की प्रेम-भावना से सख्त नफरत है। इसी नफरत की अभिव्यक्ति रंभा इन शब्दों में करती है—

जहां प्रेम राक्षसी भूख से क्षण-क्षण अकुलाता है,
प्रथम ग्रास में ही यौवन की ज्योति निगल जाता है;
धर देता है, पून रूप को दाहक आलिंगन से,
छवि को प्रभाहीन कर देता ताप-तप्त चुम्बन से;
पतझर का उपमान बना देता वाटिका हरी को,
और चूमता रहता फिर सुन्दरता की ठठरी को।

निष्कर्ष यह है कि अप्सराओं के माध्यम से कवि ने नारी के उस रूप का चित्रण किया है जो शरीर की सुन्दरता को भी सब-कुछ मानती है, जिसके कारण मन अहंकार और उच्छृंखलता से भरा हुआ होता है। वस्तुतः नारी का यह रूप नारी-जीवन का खोखलापन है।

२. **नारी का प्रेमिका-रूप**—जब नारी किसी एक व्यक्ति के प्रति अपना सर्वस्व समर्पण करके उसके मिलन से सुख और वियोग से दुःख का अनुभव करती है, तब नारी का यह रूप प्रेमिका का होता है। उर्वशी इसी रूप की प्रतीक है। यद्यपि वह अपनी सखियों में सबसे अधिक सुन्दर है, तथापि अन्य सखियां उसके दीवानेपन को हेय समझती हैं। उन्हें इस बात से बहुत दुःख

है कि उनकी सर्वाधिक सुन्दरी सखी पुरूरवा के हाथों बिक कर अप्सराओं की मर्यादा को भंग कर रही है। रंभा कहती है—

सहजन्ये ! पर, हम परियों का इतना भी रोना क्या ?
किसी एक नर के निमित्त इतना धीरज खोना क्या ?
हम भी हैं मानवी कि ज्योंही प्रेम उगे, रुक जायें,
मिले जहां भी दान हृदय का, वहीं मग्न झुक जाये ?
प्रेम मानवी की निधि है, अपनी तो वह क्रीड़ा है;
प्रेम हमारा स्वाद, मानवी की आकुल पीड़ा है।

प्रेमिका का प्रेम अनन्य भाव का होता है। वह जब अपने प्रियतम से बिछुड़ जाती है तो उसे संसार का सारा वैभव, स्वर्ग का समूचा ऐश्वर्य नगण्य लगने लगता है। उसकी केवल एक साध होती है—अपने प्रियतम से सम्मिलन। इस सम्मिलन में एक-एक पल का व्यवधान उसे असह्य हो उठता है—

'तृप्ति नहीं अब मुझे सांस भर-भर सौरभ पीने से,
ऊब गई हूं दबा कण्ठ, नीरव रहकर जीने से।

× × ×

कहती हूं, इसलिये, चित्रलेखे ! मत देर लगाओ,
जैसे भी हो मुझे आज प्रिय के समीप पहुंचाओ।

और जब वह अपने प्रियतम से मिल जाती है तो उसकी अतृप्ति और भी अधिक भड़क उठती है। तब बिहारी की ये पंक्तियां चरितार्थ हो उठती हैं—

'इन दुखिया अंखियानु कौं सुखु सिरज्यौई नांहि।
देखैं बनैं न देखते, अनदेखैं अकुलांहि ॥'

पुरूरवा से मिलकर उर्वशी की कामना में घी की आहुति पड़ जाती है। वह अपने प्रेमी में इतनी तन्मय हो जाती है कि समय-चक्र का ध्यान ही नहीं रहता—

'जब से हम-तुम मिले, न जाने, क्या हो गया समय को,
लय होता जा रहा मरुद्गति से अतीत-गह्वर में।'

और जब महाराज पुरूरवा अनासक्ति की बातें करते हैं तो उर्वशी के कोमल हृदय को बड़ी ठेस लगती है। उसे अनुभव होता है कि जिस अनासक्ति को वह सुरपुर में छोड़कर आई थी, वही उसे भूलोक में मिली। साथ ही वह इस सत्य को भली-भांति जानती है कि जब तक पुरूरवा के मन में काम का निवास है, तभी तक वह उस पर राज्य कर सकती है। अपनी इस आशंका से वह कांप उठती है—

'अनासक्ति तुम कहो, किन्तु, इस द्विधा-ग्रस्त मानव की
झांकी तुममें देख मुझे, जाने क्यों, भय लगता है ?'

अपने भय को दूर करने के लिए वह अपने प्रेमी के समक्ष अपना सर्वस्व समर्पित करके अधरों की सुधा का उसे प्रलोभन देती है—

'आ मेरे प्यारे तृषित ! श्रान्त ! अन्तःसर में मज्जित करके,
हर लूंगी मन की तपन चांदनी, फूलों से सज्जित करके।
रसमयी मेघमाला बनकर मैं तुझे घेर छा जाऊंगी,
फूलों की छांह-तले अपने अधरों की सुधा पिलाऊंगी।

यह है उर्वशी का वह प्रेमिका-रूप जिसमें नारी का मन स्वयं में ही केन्द्रित हो जाता है। उसे अपने और अपने प्रेमी के बाहु-पाश के अतिरिक्त कुछ दिखाई ही नहीं देता। वह दीवानी बन कर अपने प्रेमी की बाहुओं मे झूलती रहती है। उसकी आंखों में सदैव कामना की लाली छाई रहती है और मन नित-नवीन स्पन्दन लेकर स्पन्दित होता रहता है।

उर्वशी में एक सच्ची और स्वयं-समर्पिता प्रेमिका की ये सब प्रवृत्तियां मिलती हैं, किन्तु उसके व्यक्तित्व की सीमा यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती। वह विवेक के बल पर तर्क भी कर सकती है, अर्थात् भावना के अथाह सागर में उसका चिन्तन डूब नहीं गया है, जैसा कि प्रायः होता है। वह कामना और बुद्धि का पार्थक्य इन शब्दों में विवेचित करती है—

'रक्त बुद्धि से अधिक बली है और अधिक ज्ञानी भी,
क्योंकि बुद्धि सोचती और शोणित अनुभव करता है।
निरी बुद्धि की निर्मितियां निष्प्राण हुआ करती हैं;
चित्र और प्रतिमा, इनमें जो जीवन लहराता है,

वह सूझों से नहीं, पत्र-पाषाणों में आया है,
कलाकार के अन्तर के हिलकोरे हुए रुधिर से।'

यहां पर यह बता देना भी आवश्यक है कि उर्वशी ने यहां पर कामना का उदात्तीकरण कर दिया है।

उर्वशी की दृष्टि में, नर का—प्रेमी का—सम्पूर्ण परिचय परम सत्ता की ज्ञान-प्राप्ति का सोपान है। प्रेम से नारी ही नहीं, नर का भी उत्थान होता है—

'किसने कहा तुम्हें, जो नारी नर को जान चुकी है,
उसके लिए अलभ्य ज्ञान हो गया परम सत्ता का;
और पुरुष जो आलिंगन में बांध चुका रमणी को,
देश-काल को भेद गगन में उठने योग्य नहीं है?'

उर्वशी यह मानती है कि प्रेम चिन्तन का नहीं, हृदय का विषय है। वास्तविक प्रेम-सुख विधि-निषेधों से संघर्षों से, और यत्नों से नहीं मिला करता, वह तो अनायास ही इस प्रकार फूटा करता है जैसे डाली से पत्ती और टहनियाँ स्वतः फूटा करती हैं। वह यह भी मानती है कि वह काम-भावना दूषित है जो स्वतः स्फूर्त नहीं, जो सप्रयास मानसिक क्षुधा का शमन करती है। वह कहती है—

फलासक्ति दूषित कर देती ज्यों समस्त कर्मों को,
उसी भांति वह काम-कृत्य भी दूषित और मलिन है,
स्वतः स्फूर्त जो नहीं, ध्येय जिसका मानसिक क्षुधा का,
सप्रयास है शमन; जहां पर सुख खोजा जाता है,
तन की प्रकृति नहीं मन की माया से प्रेरित होकर।

अतः कहते हैं कि प्रेमिका-रूप में उर्वशी का जो चित्रण किया गया है, वह चित्रण नारी के उस रूप की अभिव्यक्ति है जो एक ओर तो सर्वस्व समर्पण करके शारीरिक सुख में डूबने को लालायित है और दूसरी ओर इस शारीरिक सुख से ऊपर उठकर काम-भावना का उदात्तीकरण करता है। वस्तुतः ये दोनों रूप यथार्थ और आदर्श का, हृदय और मस्तिष्क का, भाव

और तर्क का समुचित समन्वय है। जो नारी केवल यथार्थ अथवा आदर्श को लेकर प्रेम-पथ पर अग्रसर होती है, वह अपने रूप में एकांगी है, उसका रूप सम्पूर्ण नहीं है।

३. नारी का पत्नी-रूप—जब नारी अपना सर्वस्व किसी एक व्यक्ति के प्रति समर्पण करके आजीवन उसी के साथ बंध जाती है तो उसका वह रूप पत्नी का होता है। पत्नी-रूप और प्रेमिका-रूप इन दोनों में मूलभूत अन्तर यह है कि प्रेमिका की भावनाओं में काम की प्रबलता होती है और पत्नी की काम-भावना पर संयम का अकुश होता है; प्रेमिका अपने प्रेमी का परित्याग भी कर सकती है, किन्तु पत्नी के लिए यह सभव नहीं। पत्नी के लिए तो उसका पति ही सर्वाधार बन जाता है और उसकी समस्त आशाएं-आकांक्षाएं उसी के इर्द-गिर्द सिमट जाती हैं। 'उर्वशी' मे सुकन्या पत्नी-रूप का प्रतिनिधित्व करती है।

सच्ची पत्नी को अपने पति पर गर्व होता है, चाहे उसके पति का कैसा ही रूप-रंग और स्वभाव हो। सुकन्या को भी अपने पति पर निस्सीम गर्व है—

'चिन्तु चित्रलेखे ! मुझको अपने महर्षि भर्त्ता पर
ग्लानि नहीं, निस्सीम गर्व है।'

सुकन्या अपने पति के इर्द-गिर्द इतनी सिमट गई है कि उसे अप्सराओं-जैसा विविध भोगों का ज्ञान नहीं है। उसका आनंदधाम तो उसका केवल पति है और पति ही गृहिणी के लिए परम आराध्य देव होता है—

एकचारिणी मैं क्या जानूं स्वाद विविध भोगों का ?
मेरे तो आनन्द धाम केवल महर्षि भर्त्ता हैं।
योग-भोग का भेद अप्सरा की अबंध क्रीड़ा है;
गृहिणी के तो परम देव आराध्य एक होते हैं,
जिससे मिलता भोग, योग भी वही हमें देता है।
क्या कुछ मिला नहीं मुझको दयिता महर्षि की होकर ?

सुकन्या के मत से, नारी-सौन्दर्य की महत्ता इसी में है कि वह किसी पुरुष की परिणीता बन जाये। यही उसके लिए वह शुभ अवसर होता है

जब वह अपने प्रियतम के साथ निखिल जीवन का तार बांधने में समर्थ और सफल होती है। सौन्दर्य से विगलित हो जाने पर फिर नारी का कोई महत्व नहीं रहता—

इसीलिए कहती हूं, जब तक हरा-भरा उपवन है,
किसी एक के संग बांध लो तार निखिल जीवन का;
न तो एक दिन वह होगा जब गलित, म्लान अंगों पर,
क्षण भर को भी किसी पुरुष की दृष्टि नहीं विरमेगी;
बाहर होगा विजन निकेतन, भीतर प्राण तजेंगे,
अन्तर के देवता तृषित भीषण हाहाकारों में।

वस्तुतः सुकन्या का पत्नी-रूप भारतीय परम्परा के अनुकूल मर्यादायुक्त, गौरवपूर्ण और आदर्शों से भरा हुआ है।

४. **नारी का माता-रूप**—नारी का माता-रूप निस्सन्देह नारी के सब रूपों से श्रेष्ठ है। इसकी श्रेष्ठता केवल रूप को नारी का सर्वस्व समझने वाली अप्सरायें भी स्वीकार करती हैं। मेनका कहती है—

पर, रंभे ! क्या कभी बात यह भी मन में आती है,
मां बनते ही त्रिया कहां से कहां पहुंच जाती है ?
गलती है हिमशिला, सत्य है गठन देह की खोकर,
पर, हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर ?
युवा जननि को देख शांति कैसी मन में जगती है !
रूपमती भी सखी ! मुझे तो वही त्रिया लगती है,
जो गोदी में लिए क्षीर-मुख शिशु को सुला रही हो,
अथवा खड़ी प्रसन्न पुत्र का पलना झुला रही हो।

'उर्वशी' में आयु नवजात-शिशु है जिस पर तीन-तीन नारियों की—उर्वशी, सुकन्या और औशीनरी की—वत्सलता फूट पड़ती है। उर्वशी उसकी जननी है और उसे अपने मातृत्व पर गर्व है—

बेटी नहीं हुई तो क्या ? अब माँ तो हूं मानव की ?
नहीं देखती, रत्नमयी को कैसा लाल दिया है।

वह जब भी आयु का चुम्बन करती है, उसका सारा मातृत्व सिमट कर अलौकिक सुखों की विविध धाराओं में बहने लगता है—

कितनी मृदुता ऊर्मि प्राणों में अकथ, अपार सुखों की।
दुग्ध धवल यह सृष्टि मनोरम कितनी अमृत-सरस है !
और स्पर्श में यह तरंग-सी क्या है सोम-सुधा की,
अंक लगाते ही आंखों की पलकें झुक जाती हैं।

सुकन्या जब आयु को अपने पास रखकर उसके भविष्य की स्वर्णिम कथा का निर्माण करती है—आयु जब बड़ा हो जायेगा तो वह धेनुओं को चराने जाया करेगा, महर्षि के साथ यज्ञ की वेदी पर बैठा करेगा, शस्त्र-शास्त्र में निष्णात हो जायेगा, आदि—तो निस्संदेह उसके मन में मातृत्व की अनेक सुनहली कल्पनाएं जागृत हो जाती हैं और इन पंक्तियों में तो—

हवन-धूम से आंखों में जब वाष्प उमड़ आयेंगे,
तब मैं दोनों नयन पोंछ दूंगी अपने अंचल से।

उसका मातृत्व साकार हो उठा है।

औशीनरी भी आयु को देखकर मातृत्व के भावों से भर जाती है। उसे अपार आनंद का अनुभव होता है। इस अनुभव में उसे केवल एक बात चुभती है और वह यह कि यदि आयु उसे बचपन में ही मिला होता तो वह अनेक उमंग और आशाओं से उसका पालन करती। वह आयु को हृदय से लगाकर कहती है—

कितना भव्य स्वरूप! नयन, नासिका, ललाट चिबुक में।
महाराज की आकृतियों का पूरा बिम्ब पड़ा है।

हाय, पालती कितने सुख, कितनी उमंग, आशा से,
मिला मुझे होता यदि मेरा तनय कहीं बचपन में।

कहने की आवश्यकता नहीं कि उर्वशी में नारी के इन चारों रूपों का चित्रण बहुत सफलता तथा मनोवैज्ञानिकता के साथ हुआ है।

नारी के विशिष्ट गुण

'उर्वशी' में नारी-स्वरूप के चित्रण की दूसरी विधा है नारी के विशिष्ट

गुणों का वर्णन। इस विधा में बताया गया है कि नारी ही वह शक्ति है जिससे मनुष्य को परम रूप मिलता है—

नारी ही वह महासेतु जिस पर अदृश्य से चलकर,
नये मनुज नव प्राण दृश्य जग में आते रहते हैं।
नारी ही वह कोष्ठ, देव, दानव, मनुष्य से छिपकर,
महाशून्य, चुपचाप, जहां आकर ग्रहण करता है।

और सच पूछिये तो नारी ही इस सृष्टि की रचना और इसका नियमन करती है—

सच पूछो तो, प्रजा-सृष्टि में क्या है भाग पुरुष का ?
यह तो नारी ही है जो सब यज्ञ पूर्ण करती है।
सत्व-भार सहती असंग, सन्तति असंग जनती है;
और वही शिशु को ले जाती मन के उच्च निलय में,
जहां निरापद, सुखद कक्ष है शैशव के झूले का।

जब मनुष्य की तरी किसी अवघट घाट पर अटक जाती है तो नारी ही वह शक्ति है जो अपनी छिगुनी की शक्ति लगाकर उसे पुनः गति प्रदान करने में समर्थ होती है। इस पर भी उसे न तो किसी प्रतिष्ठा का लोभ होता है और न प्रशंसा का—

..................यह भी है कर्म त्रिया का,
अटक गई हो तरी मनुज की किसी घाट-अवघट में,
तो छिगुनी की शक्ति लगा नारी फिर उसे चला दे,
और लुप्त हो जाय पुनः आतप, प्रकाश, हलचल से।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि 'उर्वशी' में नारी के दोनों—बाह्य और आन्तरिक—रूपों का सफलतापूर्वक चित्रण हुआ है। वह अपने बाह्य रूप में जितनी सुन्दर है, आन्तरिक रूप में उतनी ही उदात्त है। एक बात और, दिनकर का नारी-स्वरूप-विवेचन परम्पराओं की शृंखलाओं से मुक्त है।

———

: ११ :

उर्वशी में प्रेमाभिव्यंजना

मानव-मन विविध भावों का कोश है। प्रेम का भाव इनमें प्रमुख है। प्रेम 'प्रिय' शब्द का भाववाचक रूप है। 'प्रिय' शब्द का अर्थ है तृप्ति-कारक—प्रीणातीति प्रियः। अतः प्रेम शब्द से हृदय के तृप्तिरूप आनन्द का बोध होता है।

व्याकरण के अनुसार भी इस शब्द की व्युत्पत्ति इसी अर्थ की द्योतिका है। 'प्रीञ् प्रीतौ' धातु से उणादि-सूत्र 'सर्वधातुभ्यः' से मनिन् प्रत्यय लगाकर प्रेम शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है प्रीति देने वाला, अनन्त तृप्ति प्रदान करने वाला। यही कारण है कि आदिकाल से ही मानव इस भाव की अभिव्यक्ति करता आया है।

प्रेमाभिव्यक्ति की परम्परा

संस्कृत-साहित्य में प्रेम की सर्वप्रथम अभिव्यक्ति पुरूरवा-उर्वशी प्रेमाख्यान के रूप में ऋग्वेद में मिलती है। अथर्ववेद में भी प्रेम-विषयक उल्लेख मिलते हैं, किन्तु प्रेम का व्यापक चित्रण आदिकवि वाल्मीकि के काव्य में ही प्राप्त होता है। आदिकवि के पश्चात् कविकुलगुरु कालिदास के काव्य में सभी प्रकार की प्रेम-विषयक भावनाओं के, आन्तरिक-बाह्य दोनों प्रकार के सौन्दर्य के मार्मिक वर्णन उपलब्ध होते हैं। कालिदास की प्रेम-दृष्टि पूर्ण सांस्कृतिक और आध्यात्मिक है। भवभूति का प्रेम-चित्रण भी सहृदय-संवेद्य, उद्दात्त और उत्कृष्ट है। अश्वघोष का प्रेम-चित्रण भी कालिदास और भवभूति के प्रेम-चित्रण की भांति उदात्त, परिष्कृत और संयत है। संस्कृत साहित्य की यह परम्परा जब जयदेव के हाथों में आई तो यह एकदम बदल गई। जयदेव के प्रेम-वर्णन से यदि आध्यात्मिकता का झीना आवरण हटा दिया जाये तो वह एकदम लौकिक और अश्लील बन जाता है।

इस प्रकार संस्कृत-साहित्य में प्रेमाभिव्यक्ति की परम्परा के दो रूप स्पष्टतः परिलक्षित होते हैं। पहला रूप है प्रेम का उदात्त रूप जो आदिकवि से प्रारम्भ होकर अश्वघोष तक मिलता है। दूसरा है प्रेम का आध्यात्मिक या लौकिक रूप जो जयदेव से प्रारम्भ होता है।

संस्कृत-साहित्य की प्रेमाभिव्यक्ति के इन दोनों रूपों का प्रभाव हिन्दी-साहित्य में भी दृष्टिगोचर होता है। वीरगाथाकाल के काव्यों में प्रेम का लौकिक रूप वीरता के आवरण में निहित है; भक्तिकाल के प्रेम पर आध्यात्मिकता का गहरा आवरण पड़ा हुआ है। रीतिकाल का प्रेम शुद्ध रूप से लौकिक है। आधुनिक काल में प्रेम की लौकिकता पर प्रतीक, अध्यात्म और औदात्य के गहरे रंग लगे हुए हैं।

प्रेम का स्वरूप

प्रेम की परिभाषा और उसके स्वरूप का विवेचन भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न शब्दावलियों में किया है। नारद-भक्तिसूत्र में प्रेम को अनुभवैकगम्य माना गया है और बताया गया है कि प्रेम वाणी का विषय नहीं है, यह तो मूकस्वादनवत् अनिर्वचनीय है। यह पहले तो विषयजन्य होता है, गुणों के कारण उत्पन्न होता है, किन्तु बाद में भावात्मक और विषय-निरपेक्ष बन जाता है—

'अनिर्वचनीयं प्रेम-स्वरूपम् मूकास्वादनवत्। प्रकाशते क्वापि पात्रे। गुण-रहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवस्वरूपम्।'

रूपगोस्वामी ने प्रेम को एक ऐसा सान्द्र भाव माना है जो हृदय को स्निग्ध करे तथा ममत्व के अतिशय से युक्त हो—

'सम्यङ् मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयांकितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमो निगद्यते।'

पाश्चात्य विद्वानों ने भी प्रेम की भिन्न-भिन्न परिभाषाएं प्रस्तुत की हैं। प्लेटो के अनुसार, प्रेमानुभव से रहित व्यक्ति सदा अन्धकार में भटकता रहता है। नीत्शे का मत है कि प्रेम से ही हमारे अन्तर्चक्षु खुलते है। हेगेल की मान्यता है कि प्रेम के द्वारा ही अभेद की स्थिति प्राप्त होती है। हैवलॉक वासना और प्रेम मे अन्तर मानते हुए कहते हैं कि तुच्छ वासना के रहते हुए

प्रेम का कमल नहीं खिल सकता। विलेडीमीर सॉलॉव्येन के अनुसार प्रेम का अर्थ है अहंकार के त्याग द्वारा अपनी मुक्ति।

इन परिभाषाओं से अनायास ही यह निष्कर्ष निकल आता है कि प्रेम वासना का नाम नहीं है और न स्वयं को आबद्ध करने का ही बंधन है, वरन् प्रेम हृदय की वह परिष्कृत, उदात्त और अनिर्वचनीय भावना है जो मन की शुद्धि करती है और व्यक्ति को अहं के बंधन से छुड़ाकर उसे सार्वजनीन बना देती है। यही भाव दिनकर के इन शब्दों में भी है—

'इन्द्रियों के मार्ग से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श, यही प्रेम की आध्यात्मिक महिमा है।'

प्रेम के गुण

प्रेम से प्रेमी के चित्त का संस्कार होता है, अतः इस दृष्टि से इसके आठ भेद माने गये हैं—उल्लास, ममता, विस्रंभ, प्रिय के गुणों का अभिमान, चित्त का द्रवीभाव, अतिशय अभिलाषा, प्रिय के विषय में प्रतिक्षण नव-नवत्व की अनुभूति और प्रिय-सम्बन्धी किसी विलक्षण गुण के कारण उन्माद।

१. **उल्लास**—इसके उत्पन्न होने से केवल प्रिय के प्रति ही प्रेम रह जाता है। प्रियेतर अन्य प्राणियों अथवा वस्तुओं के प्रति तुच्छ बुद्धि हो जाती है।

२. **ममता**—इसके उत्पन्न होने पर प्रेम के बाधक तत्त्वों का प्रेमी के हृदय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता; अर्थात् वह बन्धनों की चिन्ता छोड़ देता है।

३. **विस्रंभ**—विस्रंभ अथवा विश्रंभ का अर्थ है विश्वास। इसके उत्पन्न होने पर प्रेमी के हृदय में अपने प्रेमी के प्रति किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहता; वह पूर्ण विश्वासयुक्त हो जाता है।

४. **अभिमान**—अपने प्रिय को ही सर्वाधिक श्रेष्ठ समझना अभिमान या मान कहलाता है।

५. **द्रवीभाव**—प्रेम में चित्त द्रवीभूत होता है। इस गुण के उत्पन्न होने पर प्रिय के सम्बन्ध के आभास से ही मन में सत्वोद्रेक हो जाता है। प्रिय के दर्शन आदि से तृप्ति नहीं होती, और प्रिय के अनिष्ट की, चाहे वह कितना ही समर्थ क्यों न हो, निरन्तर शंका बनी रहती है।

६. **अतिशय अभिलाष**—इसके गुण के उत्पन्न होने पर प्रिय के प्रति इतना अनुराग बढ़ जाता है कि उसका एक पल का वियोग भी असह्य हो उठता है; संयोग में भी वियोग की कल्पना कसकती रहती है।

७. **नव-नवत्व की भावना**—इस गुण के उत्पन्न होने पर प्रेमी के मन में उसके सौन्दर्य की—आन्तरिक और बाह्य दोनों की इतनी गहरी छाप बैठ जाती है कि वह प्रिय के विषय में नित नवीन भावनाओं में डूबा रहता है।

८. **उन्माद**—इस गुण को प्राप्त करके प्रेमी का अनुराग अपने प्रेमी के लिए इतना अधिक हो जाता है कि संयोग के कल्प भी निमेष के समान बीत जाते हैं और वियोग के निमेष भी कल्प के समान प्रतीत होते हैं। इसी गुण से महाभाव दशा का आविर्भाव होता है।

प्रेम के भेद

प्रेम के दो भेद होते हैं—अपार्थिव अथवा अलौकिक प्रेम और पार्थिव अथवा लौकिक प्रेम। अलौकिक आलम्बन के प्रति जो अनुराग होता है, उसे अलौकिक प्रेम कहते हैं। यह प्रेम भक्ति के अधिक निकट है। लौकिक आलम्बन के प्रति जो अनुराग होता है, उसे लौकिक प्रेम कहते हैं। लौकिक प्रेम दो प्रकार का होता है—प्रकृत प्रेम (Natural love) और सात्विक प्रेम (Platonic love)। मानव का सहज अनुराग प्रकृत प्रेम कहलाता है। पार्थिव आलम्बन के प्रति पार्थिव आश्रय की सहज वासनात्मक प्रणयाभिव्यक्तियां इसी प्रेम के अन्तर्गत आती हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि नर-नारी की सहज प्रीति ही प्रकृत प्रेम है। ऐसे प्रेम का आधार पार्थिव होता है, अतः शरीर-सुख की उत्कट इच्छा से प्रेरित होकर जिस प्रेम का निवेदन किया जाता है, वह स्वभावतः ही भावनात्मक होता है। रीतिकालीन काव्य में इसी प्रेम की अभिव्यंजना हुई है।

सात्विक प्रेम के सर्वप्रथम और प्रमुखतम व्याख्याता प्लेटो हैं। प्लेटो ने आत्मा की प्रीति का वर्णन किया है। इन्होंने पार्थिव आलम्बन के प्रति अशरीरी आकांक्षा अथवा वासनामुक्त शुद्ध प्रीति और शुद्ध राग को ही सात्विक प्रेम की संज्ञा दी है। ऐसे प्रेम में वासना का परिष्कार एवं उन्नयन हो जाता

है। छायावादी काव्य से पूर्व द्विवेदी-युग का प्रेम-निरूपण इसी कोटि का है। श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी इत्यादि कवियों की रचनाओं में अशरीरी आकर्षण का ही चित्रण मिलता है। रीतिकाव्य में घनानन्द का प्रेम-स्वरूप स्थान-स्थान पर इसी कोटि को पहुंच गया है।

यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाये तो प्रकृत और सात्विक प्रेम के भेद नहीं, वरन् उसके सोपान प्रतीत होते हैं।

उर्वशी में प्रेमाभिव्यंजना

उर्वशी में स्पष्टतः लौकिक प्रेम का प्रतिपादन हुआ है, क्योंकि आलम्बन और आश्रय दोनों लौकिक हैं। इस प्रेम का प्रतिपादन सामान्य धरातल से हुआ है जिसमें किसी प्रकार की उदात्त भावना नहीं, केवल वासना की गंध है। यही वह अवस्था होती है जब पुरुष अपने पौरुष को छोड़कर नारी के आगे घुटने टेक देता है। इसी रहस्य का उद्घाटन मदनिका इन शब्दों में करती है—

इसमें क्या आश्चर्य ? प्रीति जब प्रथम प्रथम जगती है,
दुर्लभ स्वप्न-समान रम्य नारी नर को लगती है।

नारी की यही रम्यता उसके जीवन की सबसे अधिक गौरव की घड़ी होती है। अपनी इसी रम्यता के बल पर—अंग-रूप की शक्ति से—वह पुरुष पर विजय प्राप्त करती है और पुरुष उसके पदों पर पड़ा हुआ उसके मुंह को देखता रहता है—

जितनी गौरवमयी घड़ी वह भी नारी-जीवन की,
जब अजेय केसरी भूल सुध-बुध समस्त तन-मन की।
पद पर रहता पड़ा, देखता अनिमिष नारी मुख को,
क्षण-क्षण रोमाकुलित, भोगता गूढ़ अनिर्वच सुख को।

यही वह समय होता है जब नारी अपनी समस्त इच्छाओं और आकांक्षाओं को पूर्ण कर लेती है, अथवा कर सकती है। इस समय वह बड़े से बड़े तपोनिष्ठ का तम, ज्ञानी का ज्ञान, मानशील का मान और अभिमानी का अभिमान गर्व करने में सफल होती है—

तपोनिष्ठ नर का संचित तप और ज्ञान ज्ञानी का,
मानशील का मान, गर्व गर्वीले, अभिमानी का,
सब चढ़ जाते भेंट, सहज ही, प्रमदा के चरणों पर,
कुछ भी बचा नहीं पाता नारी से उद्वेलित नर।

यह उस प्रेम का चित्रण है जो एकांत शारीरिक होता है, जिसमें केवल शारीरिक क्षुधा का स्पन्दन होता है। यह प्रेम की प्रथम अवस्था है। यदि प्रेम इसी अवस्था पर आकर टिक जाता है तो वह निकृष्ट कोटि का होता है। दिनकर प्रेम की इस अवस्था को स्वीकार तो करते हैं, किन्तु इसे प्रेम की इति नहीं मानते। अपनी प्रेम-विषयक मान्यताओं को इन्होंने स्पष्ट रूप से उर्वशी की भूमिका में इन शब्दों में व्यक्त कर दिया है—

'नारी नर को छूकर तृप्त नहीं होती, न नर नारी के आलिंगन में संतोष मानता है। कोई शक्ति है जो नारी को नर तथा नर को नारी से अलग नहीं रहने देती, और जब वे मिल जाते हैं, तब भी, उनके भीतर किसी ऐसी तृषा का संचार करती है, जिसकी तृप्ति शरीर के धरातल पर अनुपलब्ध है।

नारी के भीतर एक और नारी है, जो अगोचर और इन्द्रियातीत है। इस नारी का संधान पुरुष तब पाता है, जब शरीर की धारा उछालते-उछालते उसे मन के समुद्र में फेंक देती है जब दैहिक चेतना से परे, वह प्रेम की दुर्गम समाधि में पहुंच कर निस्पन्द हो जाता है।

और पुरुष के भीतर भी एक और पुरुष है, जो शरीर के धरातल पर नहीं रहता, जिससे मिलने की आकुलता में नारी अंग-संज्ञा के पार पहुंचना चाहती है।

परिरंभ-पाश में बंधे हुए प्रेमी, परस्पर एक दूसरे का अतिक्रमण करके, किसी ऐसे लोक में पहुंचना चाहते हैं, जो किरणोज्ज्वल और वायवीय है।

इन्द्रियों के मार्ग से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श यही प्रेम की आध्यात्मिक महिमा है।'

उर्वशी की प्रेमाभिव्यंजना के स्वरूप को समझने के लिये कवि के उपर्युक्त शब्द अत्यन्त सहायक हैं, बल्कि कहना चाहिए कि ये ही शब्द उर्वशी की

प्रेमाभिव्यंजना के स्वरूप का प्रतिपादन कर देते हैं। प्रेम की प्रेमावस्था में, जिसका विवेचन अभी किया जा चुका है, प्रेम की सीमा शरीर-सीमा तक ही होती है, किन्तु वास्तविक प्रेम इस सीमा को तोड़कर बाहर निकलने में है। पुरूरवा कहते हैं—

दाह मात्र ही नहीं, प्रेम होता है अमृत-शिखा भी,
नारी जब देखती पुरुष को इच्छा भरे नयन से,
नहीं जागती है केवल उद्वेलन अनल रुधिर में,
मन में किसी कान्त कवि को भी जन्म दिया करती है।

रुधिर की अनल ही बढ़ते-बढ़ते वायवी—उदात्त—बन जाती है—

पहले प्रेम स्पर्श होता है, तदनन्तर चिन्तन भी,
प्रणय प्रथम मिट्टी कठोर है, तब वायव्य गगन भी।

अतीन्द्रिय प्रेम ही मनुष्य को भावना के बल पर उस परम लोक तक पहुंचाने में समर्थ होता है, जिसमें तार्किक अपनी बुद्धि से पहुंचने का प्रयास करते हैं—

जिस मधुर भूमिका में जन को दर्शन-तरंग पहुंचाती है,
उस दिव्य लोक तक हमें प्रेम की नाव सहज ले जाती है।

और तब नारी का अस्तित्व सीमित न रहकर असीमित हो जाता है—

ओ शून्य पवन में मुझे देख चुम्बन अर्पित करने वालो!
संपूर्ण निशा में मेरी छवि का उन्निद्र ध्यान धरने वालो!
मैं देश-काल से परे चिरन्तन नारी हूं।
मैं आत्मतन्त्र यौवन की नित्य नवीन प्रभा,
रूपसी अमर मैं चिर-युवती सुकुमारी हूं।
तुम त्रिभुवन में अथवा त्रिकाल में जहां कहीं भी हो,
अन्तर में धैर्य धरो।
सरिता, समुद्र, गिरि, वन मेरे व्यवधान नहीं।
मैं भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान की कृत्रिम बाधा से विमुक्त,
मैं विश्वप्रिया।

उर्वशी में व्यंजित प्रेम के स्वरूप का विवेचन करने के पश्चात् अब यह देखना आवश्यक प्रतीत होता है कि काव्याचार्यों ने प्रेम के जो आठ गुण बताये हैं, उर्वशी में उनका निर्वाह हुआ है अथवा नहीं।

प्रेम के उल्लास आदि आठ गुण बताये गये हैं, जिनका परिचय पहले दिया जा चुका है। अतः यहां पर गुणों का नामोल्लेख करके उर्वशी से उनके उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा।

१. उल्लास—

स्वर्ग-स्वर्ग मत कहो, स्वर्ग में सब सौभाग्य भरा है,
पर, इस महास्वर्ग में मेरे हित क्या आज धरा है ?

२. ममता—

मिले, अन्त में तब, जब ललना की मर्याद गंवाकर,
स्वर्ग लोक को छोड़ भूमि पर स्वयं चली मैं आयी।

३. विस्रंभ—

इसीलिए, असहाय तड़पता बैठा रहा महल में,
लेकर यह विश्वास, प्रीति यदि मेरी मृषा नहीं है,
मेरे मन का दाह व्योम के नीचे नहीं रुकेगा,
जलद-पुंज को भेद, पहुंचकर पारिजात के वन में,
वह अवश्य ही कर देगा सन्तप्त तुम्हारे मन को।
और प्रीति जगने पर तुम बैकुण्ठ-लोक को तजकर,
किसी रात, निश्चय, भूतल पर स्वयं चली आओगी।

४. अभिमान—

तुम अनंत सौन्दर्य, एक तन में बस जाने पर भी,
निखिल सृष्टि में फैल चतुर्दिक कैसे व्याप रही हो।

५. द्रवीभाव—

खड़ा सिहरता रहता मैं आनन्द-विकल उस तरु-सा,
जिसकी डालों पर प्रसन्न गिलहरियां किलक रही हों,
या पत्तों में छिपी हुई कोयल कूजन करती हो।

६. अतिशय अभिलाषा—

अनासक्ति तुम कहो, किन्तु इस द्विधा-ग्रस्त मानव की,
झांकी तुम में देख मुझे, जाने क्यों, भय लगता है।

७. नवनवत्व की भावना—

नक्षत्रों के बीज प्राण के नभ में बोने वाली।
ओ रसमयी वेदनाओं में मुझे डुबोने वाली।

८. उन्माद—

जब से हम तुम मिले, न जाने, क्या हो गया समय को,
लय होता जा रहा मरुद्गति से अतीत गह्वर में।
किन्तु, हाय, जब तुम्हें देख मैं सुरपुर को लौटी थी,
यही काल अजगर-समान प्राणों पर बैठ गया था।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि उर्वशी में व्यक्त प्रेम शरीर के उस धरातल से प्रारम्भ होता है जिसमें वासना का अनल अहर्निश धधकता रहता है। किन्तु इसकी यहीं पर इति नहीं हो जाती। यह तन का अतिक्रमण करके अत्यन्त व्यापक और उदात्त रूप ग्रहण कर लेता है। ऐसा होना स्वाभाविक भी था, क्योंकि कवि तन की सुन्दरता के माध्यम से अदृश्य सत्ता तक पहुंचा करता है—

कवि प्रेमी एक ही तत्त्व हैं, तन की सुन्दरता से
दोनों मुग्ध, देह से दोनों बहुत दूर जाते हैं,
उस अनन्त में जो अमूर्त्त धागों को बांध रहा है,
सभी दृश्य सुषमाओं को अविगत अदृश्य सत्ता से।

———

व्याख्या भाग

(शब्दार्थ, अर्थ, अलंकार-निर्देश, तुलनात्मक अध्ययन एवं अन्तर्कथाओं से युक्त)

राजा पुरूरवा की राजधानी प्रतिष्ठानपुर के समीप एकान्त पुष्प-कानन; शुक्ल पक्ष की रात; नटी और सूत्रधार चांदनी में प्रकृति की शोभा का पान कर रहे हैं।

सूत्रधार

नीचे पृथ्वी पर……निकल गये हों।

शब्दार्थ—कुसुम-विभा=फूलों की सुन्दरता। निर्मेघ=बादलों से रहित। नीलिमा=नीला आकाश। विकीर्ण=बिखरे हुए। दीप रहे हैं=चमक रहे हैं। चीर=वस्त्र। प्रशान्त=शान्त। निस्सीम जलधि=अनन्त सागर। वारि=जल।

अर्थ—राजा पुरूरवा की राजधानी प्रतिष्ठानपुर के पास एकान्त फूलों के बाग में, शुक्ल पक्ष की रात में, सूत्रधार और नटी प्रकृति की अनन्त शोभा का आनन्द ले रहे हैं। सूत्रधार उसी चाँदनी रात की शोभा का वर्णन करता हुआ नटी से कह रहा है—

हे नटी! नीचे पृथ्वी पर बसन्त ऋतु के फूलों की शोभा छाई हुई है; ऊपर बादल-रहित आकाश में द्वादशी का चन्द्रमा चमक रहा है, मानो नीले वस्त्र पर चाँदी के बूटे चमक रहे हों; या स्थान-स्थान पर अनन्त तथा शान्त सागर के नीले जल को फोड़ कर ज्योति के द्वीप निकल आये हों।

विशेष—उत्प्रेक्षा तथा सन्देह अलंकार।

नटी

इन द्वीपों के……घूम रही हो।

शब्दार्थ—श्रान्त=थकी हुई। मद-विह्वल=नशे से व्याकुल। विरम=ठहर कर।

अर्थ—सूत्रधार ने आकाश के तारों को ज्योति के द्वीप बताया। उसे सुनकर नटी उत्तर देती है—

इन द्वीप जैसे बिखरे हुए तारों के बीच चन्द्रमा धीरे-धीरे चलता है। साथ ही पृथ्वी पर मधुवन की थकी हुई हवा भी धीरे-धरे चल रही है। यह हवा ऐसी प्रतीत होती है, मानो नशे से व्याकुल प्रेम की कामना अलसाकर और प्रत्येक फूल पर ठहर-ठहर कर मन्द और सुन्दर गति से घूम रही हो।

विशेष—उत्प्रेक्षा तथा पुनरुक्ति अलंकार।

सूत्रधार

सारी देह समेट······झुका हुआ है।

शब्दार्थ—निबिड़=गहरा। विसुध=मदोन्मत्त। वसुधा=पृथ्वी।

अर्थ—आकाश अपनी बाहें खोलकर और अपनी सारी देह को समेट कर मदोन्मत्त पृथ्वी को गहरे आलिंगन में भरने के लिए झुका हुआ है।

नटी

सुख की सुगम्भीर······लगता है।

शब्दार्थ—वेला=समय। समाधिस्थ=समाधि में डूबा हुआ। अचेतन=निर्जीव।

अर्थ—यह समाधि में डूबा हुआ निर्जीव संसार सुख के इस अत्यन्त गम्भीर समय में मादकता की धारा में बहता हुआ-सा दिखाई दे रहा है।

सूत्रधार

स्वच्छ कौमुदी······भूल गई हो।

शब्दार्थ—कौमुदी=चाँदनी। प्रशान्त=शान्त। जगती=संसार। दर्पण=शीशा। मंजु=सुन्दर। चन्द्रिका-मुकुर=चांदनी रूपी शीशा।

अर्थ—स्वच्छ चांदनी में संसार इस प्रकार चमक रहा है मानो वह अपना सच्चा स्वरूप छोड़कर किसी शीशे में समा गया हो; अर्थात् उसका स्वरूप भी दर्पणमय हो गया हो। चारों ओर शान्ति ही शान्ति फैली हुई है, मानो प्रकृति सुन्दर चांदनी रूपी शीशे में अपनी शोभा को देखकर स्वयं को भी भूल गई हो—आत्म-विस्मृता हो बैठी हो।

विशेष—उत्प्रेक्षा अलंकार।

नटी

शान्ति-शान्ति······भ्रम से ?

शब्दार्थ—स्वन—स्वर। व्योम-उर=आकाश का हृदय। विभा=ज्योति। इन्दु=चन्द्रमा। ज्योत्स्ना=चांदनी। अपर=दूसरी। सलिल-सी=पानी सी, नदी-सी। अम्बर=आकाश। कनक-प्रतिमाएँ=सोने की मूर्तियां। कुसुम-वल्लियां=फूलों की बेलें। कल्प-कानन=नंदनवन। अर्चियों-सी=किरणों-सी। धरा=पृथ्वी।

अर्थ—जब सूत्रधार और नटी प्रकृति की अनन्त सुषमा का पान कर रहे थे और उसका वर्णन कर रहे थे, तभी आकाश से कुछ रशनाओं (करधनियों) और नूपुरों की ध्वनियां सुनाई दीं, साथ ही आसमान से बहुत-सी अप्सराएँ भी उतरती हुई दिखाई दीं। उन्हीं अप्सराओं का वर्णन करती हुई नटी सूत्रधार से कह रही है—

यद्यपि सब ओर पूर्ण रूप से शांति छाई हुई है, किन्तु यह कैसा क्वरणन-क्वरणन शब्द सुनाई दे रहा है ? इस असीम आकाश के हृदय में ये कैसे नूपुर बज रहे हैं? चन्द्रमा की किरणों को लज्जित करने के लिए यह कौन-सी ज्योति उत्पन्न हुई है ? और इस चांदनी पर यह दूसरी छायी हुई चाँदनी कौन है ? नटी के प्रवाह के समान कल-कल शब्दों को करती हुई, धूम मचाती हुई आकाश से उतरने वाली ये सोने की मूर्तियां कौन हैं ? ये नन्दन वन से छूटकर फूलों की लताएँ उड़ी चली आ रही हैं, या देवताओं की वीणा पर थिरकने वाली रागनियां भटक कर इधर-उधर घूम रही हैं; या ये किसी नवीन कविता की पक्तियां उतर रही हैं; या समाधि के झिलमिलाते अन्धकार में ये नई किरणें फूट रही हैं; या ये तारों-भरे आकाश में फूलों भरी पृथ्वी के भ्रम से बसन्त के स्वप्नों की तस्वीरें घूम रही हैं ?

विशेष—उपमा, रूपक और सन्देह अलंकार।

सूत्रधार

लो पृथ्वी पर······सिमट-सिमट कर।

शब्दार्थ—सुषमाएं अम्बर की=आकाश की शोभा। गुच्छ=समूह।

पद-निक्षेपों में=पैरों के रखने में। भंगिमा=कुटिलता। वसन=वस्त्र। पुष्प-रेणु भूषित=फूलों की धूल से सज्जित। आनन=मुख।

अर्थ—आसमान से उतरती हुई अप्सराओं का वर्णन नटी से करता हुआ सूत्रधार कहता है कि यह देखो, आकाश की शोभा पृथ्वी पर आ पहुंची है। इनका आकाश से उतरना ऐसा ज्ञात होता है जैसे गीत गाने वाले फूलों के समूह उतर आये हों। उनके पैर रखने में उनकी देह-यष्टि इस प्रकार बल खाती है जैसे लहरों की कुटिलता हो। उनके सजल कंठों से गीत निकल रहे हैं और उनकी हंसी इस प्रकार है जैसे फूल झड़ रहे हों। उनके शरीरों पर किरणों की जाली के भीगे हुए वस्त्र हैं। फूलों की धूल से सजे हुए उनके मुख इस प्रकार चमक रहे हैं, मानो चांदनियां सिमट-सिमट कर फूल बन गई हों।

विशेष—उपमा और रूपक अलंकार।

नटी

फूलों की······प्रेयसियां हैं ?

शब्दार्थ—विधु=चन्द्रमा। प्रेयसिया=प्रियतमा।

अर्थ—ये या तो फूलों की सखियां हैं, या चन्द्रमा की प्रियतमा हैं।

सूत्रधार

नहीं, चन्द्रिका······मन की।

शब्दार्थ—चन्द्रिका=चांदनी। शशधर=चन्द्रमा। अभुक्त=जिसका उपभोग नहीं किया गया है। प्रतिमाएं=मूर्तियां। रण-क्लान्ति=युद्ध के द्वारा हुई थकान। मदिर=नशीले। काम=कामदेव।

अर्थ—आकाश से उतरने वाली अप्सराएं न तो चन्द्रमा की चांदनी हैं, न फूलों की सहेलियां हैं, बल्कि ये मन को मोहित करने वाली न उपभोग किये हुए प्रेम की जीवित मूर्तियां हैं। ये देवों की रण के द्वारा हुई थकान को अपने नशीले नैनों से हरण करने वाली, स्वर्गलोक की अप्सराएं और कामदेव के मन की कामनाएं हैं।

विशेष—उल्लेख और अनुप्रास अलंकार।

नटी

पर सुरपुर······आयी हैं ?

शब्दार्थ—सुरपुर=स्वर्गलोक। भू पर=पृथ्वी पर।

अर्थ—लेकिन यह बताओ कि ये किसलिये स्वर्गलोक को छोड़ कर इस पृथ्वी पर उतरी हैं।

सूत्रधार

यों ही······क्या करती हैं।

शब्दार्थ—क्रीड़ा=खेल। मर्त्य=मृत्युलोक, भूलोक। अपर लोक=देवताओं का लोक, अर्थात् स्वर्गलोक। सम्यक्=अच्छी तरह। स्पर्शमुक्त=स्पर्श से मुक्त करना; अर्थात् उसे सूक्ष्म बनाना। गगन=आकाश; यहां स्वर्गलोक से तात्पर्य है। पूरित हैं=भरे हुए है। अकुलाते हैं=व्याकुल होते हैं। त्रिदिवलोक=स्वर्गलोक। अम्बर वालों को=स्वर्ग में निवास करने वाले देवताओं को।

अर्थ—जब नटी ने यह पूछा कि ये अप्सराएं पृथ्वी पर क्यों उतर आई हैं तो इसका उत्तर सूत्रधार इन शब्दों में देता है—

ये अप्सरायें बिना किसी प्रयोजन के खेलती हुई किरणों के तारों पर चढ़ कर यों ही इस पृथ्वी पर उतर आई हैं, क्योंकि ये इधर-उधर घूमते हुए कभी-कभी पृथ्वी पर आ जाती हैं। या, हो सकता है कि इनका पृथ्वी पर आने का कोई विशेष कारण हो, क्योंकि भूलोक, इस धरती के निवासी स्वर्ग को पूर्ण मान बैठे हैं, इसीलिए उनकी धारणा है कि स्वर्ग के वासी किसी विशेष प्रयोजन के वशीभूत होकर ही इस धरती पर उतरते हैं। इस पृथ्वी पर रहने वाले लोगों की यह इच्छा है कि वे प्रेम को स्पर्श से मुक्त कर दें; अर्थात् प्रेम के मांसल रूप का परित्याग करके उसे सूक्ष्म बना दें; किन्तु, इसके विपरीत, स्वर्गलोक के वासी मांसल प्रेम के पुजारी हैं और सदैव रूप को अपनी बांहों में भरने के लिए अकुलाते रहते हैं। वास्तविकता तो यह है कि स्वर्ग और भू लोक दोनों ही अभावों से भरे हुए हैं। दोनों के अलग-अलग प्रश्न हैं, समस्यायें हैं और दोनों की पीड़ाएं भी अलग-अलग हैं। हम भूलोक के निवा-

सियों की यह इच्छा है कि हम सांसारिक बन्धनों को तोड़कर मुक्त पवन में विचरण करें; किन्तु मुक्त देवता कभी-कभी सांसारिक बन्धनों में बंधने के लिये मनुष्य-देह धारण करने के लिये व्याकुल रहते हैं। स्वर्गलोक और भूलोक दोनों के स्वाद भिन्न-भिन्न हैं; किन्तु यह कहना बहुत कठिन है कि इनमें किसका स्वाद श्रेष्ठ है। जो इच्छा मनुष्य को खींचकर स्वर्ग को ले जाती है, वही स्वर्ग के निवासियों को पृथ्वी पर खींच लाती है। लेकिन, छोड़ो इन बातों को। आओ, सुने, ये परियां आपस में क्या बातचीत कर रही हैं।

(नटी और सूत्रधार वृक्ष की छाया में जाकर अदृश्य हो जाते हैं। अप्सरायें पृथ्वी पर उतरती हैं तथा फूल, हरियाली और झरनों के पास घूमकर गाती और आनन्द मनाती हैं)

परियों का समवेत गान

फूलों की······रुपहली आई।

शब्दार्थ—सुधा-सलिल = अमृत रूपी नदी। कूल = किनारा। सुमन्द = मंदी-मंदी बहकर आनन्द लेने वाली।

अर्थ—आकाश से उतर कर परियां सामूहिक रूप से गीत गाती हुई कहती हैं कि हे सखियों! यह रुपहली रात आई है, अतः फूलों की नाव बहाओ। इस रात अमृत रूपी नदी की धारा फूटकर बह निकली है जिसमें नभ का किनारा डूब गया है। इसलिए सजल चांदनी की मंदी-मंदी बहकर आनन्द देने वाली लहरों में तैर कर नहाओ और यह रुपहली रात आई है।

विशेष—'कूल-किनारा' में अधिक पदत्व दोष है।

मही सुप्त······रुपहली आयी।

शब्दार्थ—मही = पृथ्वी। निश्चेत = चेतना-रहित, सूना। मगन = मग्न, डूबा हुआ। अशंक = निडर। अवनी = पृथ्वी।

अर्थ—परियां समवेत स्वर में गाती हुई कहती हैं कि पृथ्वी सोई हुई है; अर्थात् शान्त है। आकाश सूना तथा गम्भीर है, लेकिन वह चुपचाप पृथ्वी को अपने आलिंगन में लिए हुए आनन्द में डूबा हुआ है। हे सखियो! ऐसे

वातावरण में आकाश से उतर कर तथा निडर बनकर पृथ्वी पर उतरो, क्योंकि आज रूपहली रात आई है।

मुदित चांद……रूपहली आयी।

शब्दार्थ—मुदित=प्रसन्न, पूर्ण रूप से खिला हुआ। अलके=केश।

अर्थ—आसमान से उतरती हुई परियां समवेत स्वर में गा रही है कि हे सखियो ! पूर्ण रूप से खिले हुए चाद के केशों को चूमो और तारों की गतियों में घूमकर आनन्द प्राप्त करो। गगन रूपी हिंडोरे पर चढ़कर फूलो और किरणों के तार बढ़ाओ, क्योंकि आज रूपहली रात आई है।

महजन्या

धुली चांदनी में……बस जायें।

शब्दार्थ—धुली=स्वच्छ। धरती=भूलोक।

अर्थ—भूलोक के प्राकृतिक सौन्दर्य की प्रशंसा करती हुई महजन्या अपनी अन्य सखियों से कहती है कि स्वच्छ चांदनी मे पृथ्वी बहुत अधिक शोभा-युक्त बन जाती है। कभी-कभी यह भूलोक भी बहुत सुन्दर दिखाई देने लगता है। मेरा तो यह मन करता है कि हम सभी इस भूलोक पर रहे और इसमें खिलने वाले फूलों में बस जाये।

रंभा

दूर-दूर तक……खूब नहायें।

शब्दार्थ—शबनम=ओस।

अर्थ—दूर-दूर तक दूबों की हरियाली फैली हुई है और इस हरियाली पर पड़ी हुई ओस की बूंदें जाली के समान दिखाई पड़ रही हैं। मेरा तो मन यह करता है कि हम शीतल बून्दों में जी भर कर स्नान करें।

मेनका

आज शाम से……गीत सुनायें।

शब्दार्थ—हरी-हरी हैं=बहुत प्रसन्न हैं। आकंठ=कंठ तक, पूरी तरह।

अर्थ—आज शाम से ही हम अपने मन में बहुत-बहुत प्रसन्न हैं। ऐसा

ज्ञात होता है कि हम पूरी तरह से गीत के जल में भर गई हैं; अर्थात् हमारे मन में अनेक भाव उमड़ रहे हैं। मेरा तो मन यह करता है कि इन खिले हुए फूलों को प्राणों का गीत सुनायें; अर्थात् इनके साथ घुल-मिलकर गीत गायें।

समवेत गान

हम गीतों के······छूम छनन।

शब्दार्थ—सघन=गहरे। व्योम-वीणा=आकाश रूपी वीणा। त्रिभुवन =तीनों लोक।

अर्थ—सब परियां सामूहिक रूप से गीत गाती हुई कहती हैं कि यह गीतों के गहरे प्राण हैं; अर्थात् हमारे हाव-भाव और रूप आदि से ही गीतों का जन्म होता है। हम आकाश रूपी वीणा के तार बजाकर नीली झंकार भरती हैं जिससे तीनों लोक थिरक उठते हैं।

सपनों की······भवन-भवन।

शब्दार्थ—सुषमा=शोभा। कलित=सुन्दर। उड्डीन=उड़ती हुई।

अर्थ—हम स्वप्नों की रंगीन शोभा पर और सुन्दर कल्पना पर उड़ती हुई भवन-भवन में अर्थात् प्रत्येक लोक में फिरा करती हैं।

हम अभुक्त······रस-कन।

शब्दार्थ—अभुक्त=जिनका भोग नहीं किया गया है। रस-कन=आनन्द के कण।

अर्थ—हम आनन्द की वे हिलोरें हैं जिनका भोग नहीं किया गया है। हम आकाश और पृथ्वी के छोरों को भिगोकर आनन्द के कण बरसाती हुई फिरती हैं।

रम्भा

बिछा हुआ है······होती है।

शब्दार्थ—रश्मि=किरण। मही=पृथ्वी। मृत्ति=मिट्टी, धरती।

अर्थ—किरणों का जाल बिछा हुआ है, जिस पर पृथ्वी आनन्द में डूबकर सो रही है। इस प्रकार की शोभा से युक्त धरती को देखकर स्वर्ग के निवासियों को भी उसकी शोभा से ईर्ष्या होती है।

मेनका

कौन भेद है……मन में ?

शब्दार्थ—धरती=धरती पर रहने वाले लोग। गगन=स्वर्ग में रहने वाले लोग।

अर्थ—हे रम्भा ! क्या तेरे मन में भी यह प्रश्न उठता है कि धरती पर रहने वाले लोगों में तथा स्वर्ग में रहने वाले लोगों का क्या अन्तर है। इनमें क्या भेद है ?

रम्भा

प्रश्न उठे……माया है।

शब्दार्थ— मर्त्यलोक=भूलोक। सुरलोक=स्वर्गलोक। स्निग्ध=सुन्दर। निर्धूम शिखा-सी=बिना धुएँ की लौ के समान।

अर्थ—स्वर्गलोक और मर्त्यलोक में क्या अन्तर है ? इस प्रश्न का उत्तर देती हुई रम्भा कहती है कि चाहे यह प्रश्न मेरे मन में उठे, या न उठे, किन्तु इन दोनों का एक अन्तर तो स्पष्ट ही है और वह अन्तर यह है कि भूलोक के निवासी मरने वाले हैं, जबकि स्वर्गलोक के निवासी अमर होते हैं। देवताओं का शरीर तो अमिट, सुन्दर और बिना धुएँ की लौ के समान चमकने वाला होता है। इसके विपरीत भूलोक में रहने वाले लोगों के शरीर की सुन्दरता तो क्षण भर की ही माया है; अर्थात् उनका सौन्दर्य क्षणभंगुर होता है।

विशेष—उपमा अलंकार।

मेनका

पर, तुम भूल……बलिहारी है।

शब्दार्थ—अम्बर को=स्वर्ग में रहने वाले लोगों को। व्यंजनों का=सुन्दर भोजनों का। रसना=जीभ। स्वर-माधुरी=संगीत की मधुरता। श्रवण=कान। अनिर्वचनीय=जिसका वर्णन न किया जा सके। क्षुधा=भूख। स्वत्व=अधिकार। समीरों-सा=पवनों के समान। सौरभ=सुगन्धि। धूम=धुँआ। मलिन=तुच्छ। उन्मद=नशीली। तरंग=लहर। चिरता=अमरता।

अर्थ—मर्त्यलोक स्वर्गलोक से हीन है, रम्भा के इस कथन का उत्तर देती हुई मेनका कहती है कि रम्भा ! यह सच है कि भूलोक के निवासी मरने वाले हैं, नश्वर हैं, किन्तु तुम नश्वरता की श्रेष्ठता को भूल रही हो। पृथ्वी पर रहने वाले लोगों को जो आनन्द आसानी से मिल जाता है, वह स्वर्ग में रहने वाले देवताओं को कभी प्राप्त नहीं हो सकता। हम स्वर्ग के वासी इतने विवश हैं कि केवल गन्ध पीकर ही रह जाते हैं। (कहा जाता है कि देवता भोजन नहीं करते) और स्वादिष्ट भोजनों का आनन्द कभी भी अपनी जीभ से नहीं ले पाते।

हम केवल कानों से ही संगीत की मधुरता का पान करके तृप्त हो जाते हैं और सौन्दर्य का उपभोग या तो केवल मन से करते हैं या तृष्णा-भरे नयनों से। लेकिन सौन्दर्य को देखकर जब हमारे मन में आवेगों का ज्वार आ जाता है तो हमारा जीवन उस भूख से व्याकुल हो उठता है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

तब उस पीड़न से बचने के लिए हमें कोई राह नहीं मिलती। हमारे हृदय में प्रेम की जो वेदना उठती है, उसका यहां स्वर्ग में खुलकर पोषण नहीं किया जा सकता। किन्तु इन भूलोक के निवासियों पर हमारे जैसा कोई बन्धन नहीं है और इनका प्रेम केवल गन्ध तक सूक्ष्म विचारों तक, ही सीमित रह सके, ऐसा भी इन पर कोई बन्धन नहीं है; अर्थात् भूलोक के वासी खुलकर प्रेम कर सकते हैं और मांसल रूप से उसका उपभोग कर सकते हैं।

आदमी आदमी ही रहे या देवता बन जाये, वह केवल गन्ध का ही सेवन करे, अथवा आगे बढ़कर फूलों को गले लगा ले, यह बात मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है, किन्तु देवताओं को यह अधिकार नहीं है कि वे मनुष्य बन जावें और न वे गन्धों की सीमा से ही आगे बढ़ सकते हैं।

यह सच है कि देवता अमर होते हैं किन्तु उनका यह अमरत्व क्या है? केवल हवाओं की तरह सुगन्धों का पान करना और अपने मन में धुएँ को मेट कर—अपने मन को मसोस कर—बाहरी शान्ति धारण करके घुम-घुमों

तक जीवित रहना। लेकिन यह सोचो कि नश्वर मनुष्य कितनी अधिक मात्रा में मधु-रस पीता है। भले ही उसका जीवन दो दिन का ही सही, क्षणभंगुर ही सही, लेकिन अपने जीवन की इस अल्प अवधि में भी वह धधक-धधक कर—अत्यन्त उत्साह और आवेगों को संजोकर—जीवित रहता है। मनुष्य के जीवन के इन धधकते हुए आवेगों के सामने देवताओं के जीवन की सारी शान्ति तुच्छ है। उनके जीवन की क्षणभंगुर नशीली लहर में देवताओं के अमरत्व को न्योछावर करती हूं।

कहने का भाव यह है कि मनुष्यत्व देवत्व से बहुत ऊंचा और श्रेष्ठ है।

विशेष—रूपक और उपमा अलंकार।

सहजन्या

साधु ! साधु······गाती हो।

शब्दार्थ—मिट्टी का=धरती का निवासी। मोहन=मोहित करने वाला। अन्तर में=हृदय में। महीतल पर=पृथ्वी पर। रूपसी=प्रेमिका। मर्त्य नयनों की=नश्वर मनुष्य के नेत्रों की। रस-प्रतिमा=आनन्द देने वाली मूर्ति।

अर्थ—हे मेनका ! तुम ठीक कहती हो। ऐसा लगता है कि तुम्हारा भी किसी से प्रेम हो गया है; धरती का निवासी तथा मन को मोहने वाला कोई तुम्हारे हृदय में आ बसा है। तुम इस पृथ्वी पर किसी की प्रेमिका बन गई हो; तुम किसी भूलोक-निवासी के नेत्रों को आनन्द देने वाली मूर्ति बन गई हो; किसी के हृदय की उर्वशी बन बैठी हो। हे सखि ! तुम उर्वशी के समान भी कुछ मदोन्मत्त प्रतीत होती हो, क्योंकि इस भूलोक के नश्वर प्राणियों की महिमा तुम भी उसी प्रकार गा रही हो, जिस प्रकार उर्वशी गाती है।

विशेष—रूपक और उपमा अलंकार।

रम्भा

अरी ठीक······आयी ?

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—हे सहजन्या ! तुमने यह अच्छा ही किया जो उर्वशी की याद

दिखा दी। लेकिन यह बताओ कि वह आज यहां हमारे साथ क्यों नहीं आई।

सहजन्या

वाह तुम्हें······बांहों में लेकर।

शब्दार्थ—दिव्य = महान्। दैत्य = राक्षस। लुब्ध श्येन-सा = लोभी बाज की तरह। त्रास = दुःख। अपरिमित = बहुत अधिक, अपार।

अर्थ—बड़े आश्चर्य की बात है कि तुम्हें अपनी प्राणप्यारी सखी उर्वशी की कथा भी मालूम नहीं है और तुम भी उस महान् नारी के प्रेम के दुःख को नहीं जानतीं! क्या तुम्हें यह ज्ञात नहीं कि एक दिन जब हम कुबेर के घर से लौट रही थीं तो इतने में ही लोभी बाज के समान एक राक्षस ऊपर से नीचे आया और हमको अपार दुःख देकर हमारी प्यारी सखी उर्वशी को अपनी बांहों में भर कर तुरन्त उड़ गया।

रम्भा

बांहों में······कथा सुनाओ।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—क्या कहा? एक राक्षस उर्वशी को अपनी बांहों में लेकर उड़ गया! हे सखि! मुझे यह पूरी कथा सुनाओ।

सहजन्या

यही कि······बचाओ।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—पूरी कथा यही है कि हम उसे ले जाते देखकर रो पड़ीं और पुकार मचाने लगीं कि अरे! कोई हमको बचाओ।

रम्भा

तब······हुआ?

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—तब फिर क्या हुआ?

महजन्मा

पुकार हमारी······काल-कवल से ।

शब्दार्थ--सदय=दयालु । अविलम्ब=शीघ्र । काल-कवल=मृत्यु का मुख ।

अर्थ--हमारी पुकार एक राजा ने सुनी और वे दयालु राजा शीघ्र ही उर्वशी को उस राक्षस के पंजे से छुड़ाने के लिए दौड़ पड़े। उन्हीं नर वीर राजा के साहस से, भुजाओं के बल से, उस दिन हमारी सखी उर्वशी काल के मुख से छूटी।

रंभा

ये राजा······वीर हैं ।

शब्दार्थ--सरल है ।

अर्थ--जिस राजा ने उर्वशी को राक्षस के पंजे से छुड़ाया, ये राजा तो वास्तव में बड़े वीर हैं ।

महजन्मा

और परम······जाने को ।

शब्दार्थ--मनोमुग्धकारी=मन को मोहित करने वाला । अमर=देवता । कौमुदी=चांदनी । कलित=सुन्दर । राग=प्रेम । शोणित=खून । रति=कामदेव की स्त्री, जो सबसे अधिक सुन्दर मानी जाती है । रमा=लक्ष्मी । प्रतिमा=मूर्ति । तृषा=प्यास, लालसा । विधु=चन्द्रमा । काम=कामदेव । मदिर=नशीला ।

अर्थ--वह राजा जिसने उर्वशी को राक्षस के पंजों से छुड़ाया, वीर ही नहीं, बल्कि परम सुन्दर भी है । देवता भी ऐसा मन को मोहित करने वाला नहीं होता । इसीलिए तो सखी उर्वशी जो नन्दनवन की ऊषा है, स्वर्गलोक की चांदनी है, इन्द्र के मन की सुन्दर इच्छा है, सिद्ध और वैरागियों की समाधि में भी प्रेम को जगाने वाली है, देवताओं के खून में मधुर आग लगाने वाली है, जो रति की और लक्ष्मी की साक्षात् मूर्ति है और विश्वमय नर की लालसा है, जो चन्द्रमा की प्राणेश्वरी है, कामदेव के हाथ की आरती-शिखा

है; जिसके चरणों पर चढ़ने के लिए प्रत्येक व्यक्ति विकल और व्यग्र है, जिस शोभायुक्त उर्वशी के नशीले ध्यान में तीनों लोक मग्न और मुग्ध हैं, वही उर्वशी उस पुरुष-रत्न को देखकर अपने-आपे में न रह सकी; अर्थात् स्वयं पर नियन्त्रण न कर सकी। वह स्वर्गलोक की शोभा मर्त्यलोक के वासी से प्रेम करके अपने स्वप्नों में खो गई। जिस उर्वशी को अपना सर्वस्व न्यौछावर करके प्राप्त करने के लिए देवता सदैव तैयार हैं, वह स्वर्ग-कुसुम स्वयं पृथ्वी पर आने के लिए व्याकुल है।

विशेष—रूपक और उल्लेख अलंकार

रंभा

तो क्या······व्यथा सहेगी ?

शब्दार्थ—मिट्टी की=मर्त्यलोक की। व्यथा=दुःख।

अर्थ—तो अब क्या उर्वशी स्वर्ग से आकर सदा के लिए पृथ्वी पर बस जायेगी और निरी मानवी बनकर मर्त्यलोक के दुःखों को सहन करती रहेगी ?

सहजन्या

सो जो हो ·····बाहु-वलय में।

शब्दार्थ—अन्तर=हृदय। शिरा=नस। देव-निलय=स्वर्गलोक। बाहु-वलय=बाहु-पाश।

अर्थ—चाहे जो भी हो, किन्तु यह निश्चित है कि उर्वशी के प्राणों में जो प्रीति उगी है, उसके हृदय की प्रत्येक नस में प्रीति की जो आग सुलगी है, वह अब उसे स्वर्गलोक में नहीं रहने देगी बल्कि उसे खींच कर उसी राजा के बाहु-पाश में ले जायेगी।

कहने का भाव यह है कि उर्वशी अब स्वर्गलोक में नहीं रह सकती।

रंभा

ऐसा कठिन······होता है ?

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—क्या प्रेम ऐसा कठिन—दुःखदाई—होता है ?

सहजन्या

इसमें क्या · · · · · · चली आयेगी ?

शब्दार्थ—प्रणय=प्रेम । अश्रु=आँसू । मुख-सरोज=मुख-कमल । आभा-विहीन=शोभा-रहित । भुवन-मोहिनी=तीनों लोकों को मोहित करने वाली । श्री=शोभा । चन्द्रानन=चन्द्रमुख । निरानंद=नीरस । लास्य=एक प्रकार का नाच ।

अर्थ—वास्तव में प्रेम बहुत कठिन होता है, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं । कहते हैं कि मर्त्यलोक में जितने भी रोग हैं, उनमें सबसे कठिन रोग प्रेम का है । जिसे यह रोग लग जाता है, उसे रात-भर नींद नहीं आती । उसका दिन विरह के कारण रोत-रोते और रात आह भरते-भरते कट जाती है । उसका मन खोया-खोया सा रहता है, आँखों में हर समय आँसू झलकते रहते हैं और उसकी भीगी हुई पुतलियों में उसके प्रियतम अथवा प्रियतमा की मूर्ति सदैव विद्यमान रहती है । इसीलिए सखी उर्वशी भी कुछ दिन से खोई-खोई सी रहती है । वह शरीर से तो जागती रहती है, किन्तु मन से सोई-सी रहती है और अपने स्वप्नों के निकुंजों में विचरण करती रहती है । वह खड़ी-खड़ी अनमने भाव से कुसुम की पंखुड़ियों को तोड़ती रहती है और किसी के ध्यान में (राजा पुरूरवा की स्मृति में) ही वह सारे समय को बिता देती है । उसे अपनी आँखों से निकलते हुए आंसुओं का भी पता नहीं चलता; कौन आया, कौन गया, इसका भी उसे कुछ ध्यान नहीं होता । प्रेम-रोग लगने पर व्यक्ति का मुख-कमल मुसकान के अभाव में शोभा से रहित हो जाता है और तीनों लोकों को मोहित करने वाली मुख-कमल की शोभा भी मलीन पड़ जाती है । जिस उर्वशी के जिन पायलों की झमक को सुनकर स्वर्ग की तन्द्रा समाप्त हो जाती थी; अर्थात् समूचे स्वर्ग में जीवन का संचार हो जाता था, योगी की साधना और सिद्ध की नींद उचट जाती थी, वे नूपुर आज चुप पड़े हुए हैं, विरह-दुःख के कारण उर्वशी ने नृत्य करना छोड़ दिया है और इसीलिए सारा स्वर्गलोक नीरस बन गया है । अब देवसभा में लास्य (एक प्रकार का नृत्य) की वह मधुर लहर नहीं

रही जो उर्वशी के नाचने से दौड़ करती थी। हे सखि ! अब उर्वशी हमें छोड़कर चली जायेगी। न जाने अब क्या होगा ?

विशेष—विरही के भावों और अनुभावों का सजीव चित्रण हुआ है।

रंभा

स्वर्ग बनेगा······पीड़ा है।

शब्दार्थ—निमित्त=लिए। मग्न=प्रसन्न होकर। निधि=सम्पत्ति। क्रीड़ा=खेल।

अर्थ—हे सहजन्या ! जब उर्वशी स्वर्ग छोड़कर पृथ्वी पर चली जायेगी, तब पृथ्वी स्वर्ग बन जायेगी और स्वर्ग पृथ्वी का रूप अपना लेगा। लेकिन मुझे तो यह आश्चर्य है कि हम मानवी नहीं, परियाँ हैं और हम परियों को किसी के प्रेम में फँसकर रोने से कोई सरोकार नहीं होता; अर्थात् हम किसी भी व्यक्ति के साथ गम्भीरता से प्रेम नहीं करतीं। इसीलिए हमें किसी एक आदमी के प्रेम में पड़कर अपना धैर्य नहीं खोना चाहिए। हम वे मानवी नहीं हैं जो जहाँ भी प्रेम का अंकुर उनके हृदयों में अंकुरित होता है, वे वहीं रुक जाती हैं। उन्हें जहां भी प्रेम का दान मिलता है, वे वहीं पर प्रसन्न होकर झुक जाती हैं। प्रेम मानवी की सम्पत्ति है, लेकिन हमारे लिए तो वह केवल एक खेल है। वह मानवी के लिए आकुल पीड़ा है, किन्तु हमारे लिए तो वह केवल स्वाद है।

कहने का भाव यह है कि परियां किसी के साथ गंभीरतापूर्वक प्रेम नहीं किया करतीं।

जनमीं हम······तन में।

शब्दार्थ—मोद=प्रसन्नता। मुग्ध=यौवन से परिपूर्ण। आनन=मुख। सुरभि=सुगंध।

अर्थ—हमारा जन्म ही इसलिए हुआ है कि हम सब व्यक्तियों के मन में प्रसन्नता करें; अर्थात् सभी को प्रसन्न करें। हमारा ध्येय किसी एक व्यक्ति को अपना यौवन से परिपूर्ण जीवन अर्पित कर देना नहीं है। किसी एक मुख

के लिए हमारी संकुचित सृष्टि नहीं हुई है और न हम किसी एक व्यक्ति के लिए अपने तन में सुगंधि संजोती हैं।

कहने का भाव यह है कि परियों को किसी एक व्यक्ति से प्रेम नहीं करना चाहिए।

खल-खलकर······भ्रमण है।

शब्दार्थ—कूल-हीन=किनारा-रहित। गेह=घर। द्युति=प्रकाश। परिरंभण=आलिंगन। रश्मि=किरण। निर्मुक्त=स्वच्छन्द।

अर्थ—हम वह जल हैं जो किनारा-रहित है, अर्थात् किनारों के बन्धनों में बंधा हुआ नहीं है। हम किसी घर का दीपक नहीं हैं, बल्कि वह कोमल प्रकाश हैं जो सबके लिए प्रकाशित होता है। हम रचना की वेदना जगाकर संसार को उमंगों से भरती हैं और कभी देवता का तथा कभी मनुष्य का आलिंगन करती हैं; किन्तु यह आलिंगन प्रकाश का होता है, किरणों के रमण द्वारा मन का होता है; अर्थात् यह हमारा आलिंगन बहुत सूक्ष्म होता है। हमारा प्रेम गन्धों के संसार में दो प्राणियों का स्वच्छन्द भ्रमण होता है।

कहने का भाव यह है कि हमारा प्रेम स्थूल नहीं, सूक्ष्म होता है।

सच है······मिलना है।

शब्दार्थ—अनुरागमयी=प्रेम से परिपूर्ण। कनक रंग=स्वर्ण रंग। अधर-मधु=होठों का अमृत। ताप-तप्त=दुःख से दुःखी। उष्ण=गरम; उद्वेलित=चंचल। तरंग=लहर।

अर्थ—यह भी सच है कि हम प्रेम से परिपूर्ण होकर कभी-कभी तन से भी मिलती हैं, अर्थात् हमारा मिलना स्थूल भी होता है और तब हम अनुरागमयी मनुष्य को स्वर्ण-रंग में रंग देती हैं। हम अपने होठों का अमृत प्रेमी के दुःख से दुःखी होठों पर उड़ेल देती हैं और कनक-कलश के समान शरीर को मनुष्य के गरम हाथों में सुख से छोड़ देती हैं। किन्तु यह हमारे जीवन का ध्येय नहीं, बल्कि आनंद से भरा हुआ एक प्रकार का विनोदपूर्ण मिलन है जिसमें हमारे मधुर भाव खिलते हैं। वस्तुतः यह तन की चंचल लहर पर प्राणों का मिलन है।

रचना की वेदना······भरने वाली ।

शब्दार्थ—सागर-आत्मजा=सागर की पुत्री । उच्छल=उछलन । अमित=अपार ।

अर्थ—हम रचना की वेदना जगाती हैं, किन्तु स्वयं वेदना का निर्माण नहीं करतीं; अर्थात् स्वयं दुःखी नहीं होतीं । हम विविध पीड़ाओं में बंधकर भी कभी नहीं पचतीं । हम सागर की पुत्रियां हैं और सागर की भांति ही असीम उछलन हैं, अर्थात् जिस प्रकार सागर तरंगित होता है, उसी प्रकार हम भी अपने यौवन की तरंगों से लहराती रहती हैं । हम इच्छाओं की लहरों से झंकृत होती हैं और चंचल बनी रहती हैं । हम तो अप्सरा हैं और स्वच्छन्द पवन में स्वतन्त्रापूर्वक विहार करने वाली हैं । हम गीत की ध्वनियों से, सदा सौरभ की सुगंधि से सबके मन को भरने वाली हैं ।

विशेष—उपमा अलंकार ।

अपना है आवास······नहीं खुली है ।

शब्दार्थ—आवास=निवास ।

अर्थ—हमारा निवास तो न जाने कितने मनुष्यों की इच्छाओं में है, अर्थात् न जाने कितने मनुष्य हमें प्यार करते हैं और प्राप्त करना चाहते हैं, फिर हम किसी एक व्यक्ति को प्रेम करके उसकी दो बांहों में कैसे बंधी रहें । और उर्वशी जिस भूलोक में निवास करने पर तुली हुई है, उसे अभी तक यह ज्ञात नहीं हो सका है कि इस मर्त्यलोक में कितने-कितने दुःख हैं ।

सहजन्या

कौन व्यथा······कंठ लगाकर ।

शब्दार्थ—सरल है ।

अर्थ—पृथ्वी पर जाकर उर्वशी को कोई दुःख नहीं होगा, बल्कि प्रियतम को अपने गले से लगाकर उसे सुख ही मिलेगा ।

विशेष—'जाकर' के स्थान पर 'आकर' का प्रयोग अधिक उपयुक्त है, क्योंकि सहजन्या और रंभा पृथ्वी पर उतर कर ही वार्ता कर रही हैं ।

रम्भा

सो सुख तो······बनना होता है ।

शब्दार्थ—मही=पृथ्वी, भूलोक । कुत्सित=घृणित । निहित है=छिपी हुई । अलम्=बस ।

अर्थ—उर्वशी को प्रियतम के कंठ से लगकर सुख तो अवश्य प्राप्त होगा, किन्तु यह भूलोक बड़ा ही घृणित है । यहां प्रेम की मादकता में यातना भी छिपी हुई है । यहां पर केवल फूल की स्थिति ही बस नहीं है, अर्थात् केवल मनोरंजन ही से इतिश्री नहीं हो जाती, बल्कि फल को भी उत्पन्न करना होता है । इस भूलोक में जो भी प्रेम करती है, उसे माता बनना होता है, किसी न किसी शिशु को जन्म देना होता है और शिशु को जन्म देना हम अप्सराओं की मर्यादा के विरुद्ध है ।

और मातृपद को······भरती है ।

शब्दार्थ—मातृपद=माता का स्थान । ममता=मोह । उन्मुक्त=स्वतन्त्र । सौरभ=सुगंधि । इन्द्रधनुषी=रंग-बिरंगी ।

अर्थ—इस भूलोक में यद्यपि माता का स्थान पवित्र माना गया है, तथापि माता बनकर नारी को अनेक प्रकार के कष्ट सहने पड़ते हैं । शिशु को जन्म देने के कारण उसका शरीर शिथिल हो जाता है और प्रेम-दान करने से यौवन नष्ट हो जाता है, स्वप्न-लोक में विचरण करने के मार्ग रुक जाते हैं, स्वतन्त्र रूप से फूलों में घूमने की तथा सुगंधि प्राप्त करने की आदत समाप्त हो जाती है । तब मन की इच्छा इतनी प्रबल नहीं रह जाती कि वह बादलों के साथ स्वतन्त्र होकर खेल कर सके और फिर मन में रंग-बिरंगी उमंगों का जन्म होता है ।

कहने का भाव यह है कि माता बनने से नारी की तमाम स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है और उसकी स्वच्छन्द प्रवृत्तियां छिन जाती हैं ।

रोग, शोक, संताप······विपत्तियाँ सारी ?

शब्दार्थ—सन्ताप=दुःख । जरा=बुढ़ापा । विषाद=दुःख । नित=हमेशा । मधु=शहद, आनंद ।

अर्थ—इस भूलोक में माता बनने पर रोग, शोक, दुःख और बुढ़ापे से नारी ग्रस्त हो जाती है और इन्हीं व्याधियों से आक्रांत होकर इस ससार के प्राणी सदैव दुःख पाते रहते हैं। जहां पर नारी बूढ़ी हो जाती है, उससे उसका यौवन छिन जाता है, वह पृथ्वी अच्छी नहीं है। यहां पर केवल एक कण शहद के लिए, तनिक से आनंद के लिए, नारी इतनी सारी विपत्तियां झेलती हैं।

सहजन्या

उफ ! ऐसी है······दिखलायी है।

शब्दार्थ—निर्घिन=घृणित। रौरव-सी=नरक के समान।

अर्थ—उफ ! हे रंभा ! यदि भूलोक वास्तव में ऐसा हो घृणित है, जैसा तुमने बतलाया है, तब तो हमारी प्यारी सखी उर्वशी सचमुच ही नरक में जाने की तैयारी कर रही है। हे रंभा ! तुमने भूलोक के विषय में जो घृणित बातें बतलाई हैं, उन्हें सुनकर तो मुझे भूलोक नरक के समान दिखाई देने लगा है।

गर्भ-भार उर्वशी······प्रेम के कारण ?

शब्दार्थ—प्रकांति=कांति। अयोनिजा=जिसका जन्म योनि से न हुआ हो। योनिज=योनि से उत्पन्न होने वाली। प्रतिमा=मूर्ति। विरूपता =असुन्दरता।

अर्थ—तब तो उर्वशी मानवी की तरह गर्भवती बनकर गर्भ का भार ढोयेगी और उसके कारण अपनी शोभा, अपने शरीर का गठन और अपनी कांति को समाप्त कर देगी। यद्यपि स्वयं उर्वशी का योनि से जन्म नहीं हुआ है, तथापि वह योनि से उत्पन्न होने वाली सन्तानों को जन्म देगी और वह उर्वशी जो सुन्दर सुगंधि की कोमल मूर्ति है, वह माता बन जायेगी। इस प्रकार किरणों के समान दीप्त होने वाली यह परी असुन्दरता को धारण कर लेगी और इतना सब कुछ वह केवल एक प्रेम के कारण सहन करेगी।

रम्भा

हां, अब परियां······करेंगी ढीली ।

शब्दार्थ—विभा=सुन्दरता । दाहक=जलाने वाला । प्रभाहीन=ज्योति-विहीन । ताप-तप्त=गर्मी से तपा हुआ । ठठरी=कंकाल । मदिर=नशीली । क्षीर=दूध ।

अर्थ—हां अब परियां भी प्रेम-देवता की पूजा किया करेंगी, अर्थात् मनुष्य से स्थूल प्रेम करेंगी । इसका अर्थ यह होगा कि स्वर्ग की सुन्दर अप्सराएँ पृथ्वी पर रहने वाले मनुष्यों को नमस्कार करेंगी,उनकी आधीनता मान लेंगी । इस धरती का प्रेम बड़ा ही भयानक होता है । यहां प्रेम वासना की भूख से प्रतिक्षण व्याकुल होता रहता है और अपने प्रथम ग्रास में भी यौवन की ज्योति को निगल जाता है; अर्थात् यौवन नष्ट हो जाता है । वह जलाने वाले आलिंगन के द्वारा रूप को भून कर रख देता है, उसे पूर्णतया नष्ट कर देता है और गर्मी से गर्म चुम्बन के द्वारा वह सुन्दरता को सौन्दर्य-विहीन बना देता है । वह हरी वाटिका को पतझड़ के समान बना देता है और फिर वह सुन्दरता के कंकाल को चूमता रहता है । इसी प्रकार के प्रेम-देवता की बांहों में पड़कर अब परियां भी झुलसा करेंगी और यौवन को मिटाकर अप्सरायें भी माता बना करेंगी । वे पुत्रवती होकर अपने पुत्रों को गोदियों में लेकर विलाप करेंगी और अपनी नशीली तानों को छोड़कर संध्याकाल से ही अपने पुत्रों को सुनाने के लिए लोरियां गाया करेंगी वह उस कंचुकी को पहना करेंगी जो प्रत्येक क्षण उनके दूध से गीली रहेगी और मनुष्य से प्रेम करके वे अपने सुगठित शरीर को शिथिल बना लेंगी ।

कहने का भाव यह है कि मनुष्य से प्रेम करके स्वर्ग की अप्सरायें अपनी समस्त मर्यादाओं से वंचित हो जायेंगी ।

मेनका

पर रंभे······फुला रही हो ।

शब्दार्थ—प्रिया=स्त्री । हिमशिला=बर्फ की चट्टान । असीम=सीमा रहित, अपार । पयस्विनी=नदी । रूपमती=सुन्दर ।

अर्थ—रंभा की बातें सुनकर मेनका उत्तर देती है कि हे रभा! यह ठीक है कि माता बनने से नारी का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है, किन्तु क्या कभी तुमने यह भी सोचा है कि मां बनने के बाद नारी का समाज में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान हो जाता है। यह भी सच है कि बर्फ की चट्टान अपने देह की गठन को नष्ट करके भी गलती है किन्तु गलने के बाद वह अपार और अनेक नदियों का रूप धारण कर लेती है। हे सखि! किसी नवयुवती को माता के रूप में देखकर मेरे मन को बहुत अधिक शान्ति मिलती है और मुझे तो वही स्त्री सुन्दर दिखाई देती है जो गोदी में लेकर अपने दुधमुहे बच्चे को सुला रही हो अथवा अत्यन्त प्रसन्न होकर अपने पुत्र का झूलना हिला रही हो।

कहने का भाव यह है कि मातृत्व का समाज में महत्वपूर्ण स्थान है। नारी के सौन्दर्य की सार्थकता भी मां बनने में है।

एक अप्सरा गुनगुनाती हुई उड़ती है।

रम्भा

अरी देख······कहीं देखा है?

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—जब मेनका रंभा को मातृत्व का महत्त्व बता रही थी, तभी एक अप्सरा गुनगुनाती हुई उड़ती चली आती है। उसे देखकर रंभा सहजन्या को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—

हे सहजन्या! उधर देखो, वह कौन-सी अप्सरा है जो गुनगुनाती हुई और बदली के समान रंग-बिरंगी होकर उड़ती हुई चली आ रही है। क्या तुमको इसे देखकर यह अनुभव नहीं होता कि जैसे इसे पहले भी कहीं देखा है?

विशेष—उपमा अलंकार।

सहजन्या

दुत् पगली·········चित्रलेखा है।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—दुत् पगली! यह तो अपनी सखी चित्रलेखा है।

सब

अरी चित्रलेखे······अधिक गहरायी ।

शब्दार्थ—गगन=आकाश । गहरायी=गहरी हो गई ।

अर्थ—चित्रलेखा को देखकर सारी सखियां एक साथ पुकार कर कह उठती हैं कि अरी चित्रलेखा! हम सब यहां कुसुम के वन में तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हैं, इसलिये जल्दी से आ ताकि हम सब लोग एक साथ आकाश में उड़कर चलें । यह समय बहुत ही सुहावना है क्योंकि भीगी-भीगी वायु चल रही है और रात बहुत अधिक गहरी हो गई है ।

चित्रलेखा

रुको, रुको······माया में ?

शब्दार्थ—सहचरियो=सखियो । मिट्टी की=भूलोक की । माया=ममता ।

अर्थ—हे सखियो ! क्षण भर के लिए रुको; मैं अभी तुम्हारे पास आती हूं । तुम अभी तक तारों भरे आकाश के नीचे खेल कर रही हो । ऐसा प्रतीत होता है जैसे इस भूलोक की ममता में फंस कर तुम स्वर्गलोक को भी भूल गई हो ।

(चित्रलेखा आ पहुंचती है ।)

सहजन्या

तेज तेज······आती है ?

शब्दार्थ—सरल है ।

अर्थ—जब चित्रलेखा आकाश से उतर कर पृथ्वी पर खड़ी हुई अपनी अन्य सखियों के पास आ जाती है तो सहजन्या उससे कहती है—

हे चित्रलेखा ! तुम्हारी सांसें बहुत तेजी से चल रही हैं, तुम्हारी छाती धड़क रही है । बताओ तो सही, इस तरह थककर तुम कहां से आ रही हो ?

चित्रलेखा

आज सांझ से······मिल जाऊंगी ।

शब्दार्थ—रंच=तनिक भी । कल=चैन । कान्त=पति । अंक=गोदी । पवन में मिल जाना=मर जाना ।

अर्थ—आज सायंकाल से ही सखी उर्वशी को तनिक भी चैन न था। वह राजा पुररूवा से मिलने के लिए बहुत ही अधिक व्याकुल थी। वह तो यहां तक कहती थी कि यदि उसे पति की गोद नहीं मिली तो वह निश्चित रूप से मर जायेगी।

'रोक चुकी······बाहु-वलय में।

शब्दार्थ—दिव=स्वर्गलोक। अवलोक सकोगी=देख सकोगी। वसुधा=पृथ्वी, भूलोक। हित=लिए। संचित=इकट्ठा। देव-निलय=स्वर्गलोक। बाहु-वलय=बाहु-पाश।

अर्थ—उर्वशी की करुण वेदना सहजन्या को सुनाती हुई चित्रलेखा कहती है कि मुझसे उर्वशी ने कहा था कि तुम मुझे बहुत रोक चुकी हो, लेकिन अब अधिक नहीं रोक सकोगी; अर्थात् मैं अब अधिक आपकी बातों को नहीं मान सकूंगी। तुम मुझे स्वर्गलोक में रखकर जीवित नहीं देख सकोगी। यदि तुम मेरा भला चाहती हो तो मुझे अपने प्रेमी के पास भूलोक में जाने दो। मेरे लिए भाग्य में जो कुछ भी बदा है, मुझे उसको भोगने दो। इस स्वर्ग में मुझे कहीं भी शांति दिखाई नहीं देती। मेरा सुख तो प्रिय के बाहु-पाश में है जो मुझे बुला रहा है।

कहने का भाव यह है कि मुझे अब स्वर्गलोक में किसी भी प्रकार शांति नहीं मिल सकती। इसलिए मेरा भूलोक में जाना ही हितकर है।

'स्वर्ग स्वर्ग मत कहो······कर जीने से।'

शब्दार्थ—मेरे हित=मेरे लिए। नीरव=मौन।

अर्थ—उर्वशी चित्रलेखा से कहने लगी कि तुम बार-बार स्वर्ग की प्रशंसा मत करो। यह सच है कि यह स्वर्ग सौभाग्य से भरा हुआ है, किन्तु इस महास्वर्ग में मेरे लिए कुछ भी नहीं रक्खा है; अर्थात् इसकी महानता मेरे लिए किसी भी प्रकार उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकती। यह स्वर्ग स्वप्नों का जाल है। मैं इस जाल से छुटकारा पाकर सत्य का स्पर्श खोजना चाहती हूं। मैं कल्पना का नहीं, बल्कि वास्तविक सुख प्राप्त करना चाहती हूं। सांसों के द्वारा सौरभ को पान करने से अब मुझे तृप्ति नहीं होती। मैं अपनी वाणी को दबाये रखने के कारण इस मौन जीवन से ऊब गई हूं।

'लगता है······जो करता है ।'

शब्दार्थ—शोणित=खून । स्वर्ण-तरी=सोने की नौका । अरूप=निराकार, रूप-हीन । माधुरी=मधुरता । प्रमोद=आनन्द ।

अर्थ—उर्वशी ने कहा कि मुझे आजकल ऐसा अनुभव हो रहा है जैसे मेरे खून में कोई सोने की नौका चला रहा हो और मुझे बार-बार उठाकर अपनी बांहों में—बाहु-पाश में—भर रहा हो । न जाने वह कौन-सा देवता है जो इस प्रकार छिप-छिपकर मेरे साथ खेल रहा है और मेरे प्राणों में रस की अगोचर मधुरता को भर रहा है ? जिस देवता के स्मरण मात्र से ही मेरा मन आनन्द से भर जाता है, उसके बहुत निकट होकर जीवन बिताने के लिए मेरा मन बहुत कर रहा है ।

'यही चाहती हूं······समीप पहुंचाओ ।'

शब्दार्थ—अदेह=निराकार । बेर=देर ।

अर्थ—उर्वशी चित्रलेखा से कहने लगी कि हे चित्रलेखा ! इसीलिये मैं यही चाहती हूं कि मेरे शरीर की यह गन्ध तन बन जाये; अर्थात् मेरा गंध-युक्त शरीर भूलोक निवासियों का-सा कठोर शरीर बन जाये और फिर मैं निराकार तथा उड़ते हुए स्वप्न को अपनी बांहों में भर लूं; अर्थात् स्थूल प्रेम का आनन्द प्राप्त करूं । सोचती हूं कि मैं निराकार मन की उमंग को केवल विचारों तक ही सीमित न रखकर प्रयोग में भी लाऊं, उसे रूप दे दूं । मेरे मन में जो प्रेम की आग लगी हुई है, वह फूट पड़े और मैं उसमें तैर-तैर कर स्नान करूं; अर्थात् मैं प्रेम की पीड़ा में भी अपार आनन्द का अनुभव करूं । इसीलिए मैं कहती हूं कि हे चित्रलेखा ! अब देर मत करो और जल्दी से जल्दी, जैसे भी हो, मुझे आज ही मेरे प्रियतम पुरूरवा के पास पहुंचा दो ।

सहजन्या

तो तुमने······किया ?

शब्दार्थ—सरल है ।

अर्थ—उर्वशी की विरह-वेदना को चित्रलेखा के मुख से सुनकर सहजन्या ने पूछा कि फिर तुमने क्या किया ?

चित्रलेखा

अरी क्या······उपवन में।

शब्दार्थ—दु:संकल्पों से=भयानक विचारों से। सुरपुर=स्वर्गलोक। मर्त्यभुवन में=मृत्युलोक में, भूलोक में।

अर्थ—सहजन्या के यह पूछने पर कि तुमने उर्वशी की वेदना को दूर करने के लिए क्या किया? इसका उत्तर देती हुई चित्रलेखा कहती है कि अरी! भला सखी उर्वशी को मर्त्यलोक में पहुंचाने के अतिरिक्त मैं और कर ही क्या सकती थी, क्योंकि मुझे सखी उर्वशी के भयानक विचारों से बहुत डर लगता है। अत: आज सायंकाल ही मैं उसे फूलों से सजाकर सबकी आँखें बचाती हुई स्वर्गलोक से बाहर निकाल लाई और धीरे-धीरे तथा चुपके-से भूलोक में उतर आई। अब मैं उसे राजा पुरूरवा के उपवन में छोड़कर आ रही हूँ।

रम्भा

छोड़ दिया······बिना मिलाये?

शब्दार्थ—नि:संग=एकाकी, अकेली।

अर्थ—क्या तुमने उसे उसके प्रियतम से बिना मिलाए ही अकेली छोड़ दिया?

चित्रलेखा

मुक्ति ठीक है······विरहिणी-वियोगी।

शब्दार्थ—युक्ति=उपाय। उपयुक्त=अनुकूल। उत्कण्ठा=तीव्र इच्छा। कुंज=उपवन। मुक्त=बिना किसी बाधा के।

अर्थ—उर्वशी को एकाकी पुरूरवा के कुंज में चित्रलेखा क्यों छोड़ आई, इसका कारण बताती हुई वह अपनी सखी रंभा से कहती है कि हे रंभा! वही उपाय ठीक है जो समय के अनुकूल हो। अत: मैंने भी उसे इसीलिये अकेली छोड़ना ठीक समझा था, क्योंकि जब मैं उर्वशी को लेकर राजा पुरूरवा के उपवन में गई, तभी उसकी रानी उससे मिलने के लिए वहां आ गई। यदि वह रानी हमें देख लेती तो बेकार में ही बात का बतंगड़ बन जाता।

लेकिन राजा को यह मालूम हो गया था कि उर्वशी उपवन में आई हुई है, इसलिए उससे मिलने की राजा के मन में तीव्र इच्छा उत्पन्न हो गई है। जैसे ही रानी वहां से जायेगी, उर्वशी कुंज से बाहर निकल कर प्रकट हो जाएगी और तब विरहिणी उर्वशी तथा विरही पुरूरवा दोनों बिना किसी बाधा के उस निर्जन स्थान में मिलन का पूरा-पूरा आनन्द प्राप्त करेंगे।

रम्भा

अरी······राजा को ?

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—रंभा आश्चर्य से भरकर चित्रलेखा से पूछती है कि राजा के दूसरी रानी भी है।

चित्रलेखा

तो क्या भय······प्रणय की होगी।

शब्दार्थ—घाट पर=स्थान पर। प्रणय=प्रेम। बोध=ज्ञान। श्रीमन्त =राजा। सुन्दरताओं पर=सुन्दर स्त्रियों पर। सहधर्मिणी=पत्नी। गेह=घर। कुल-पोषण=परिवार का लालन-पालन। अभिसिंचित=भीगा हुआ। दृगहीन=अंधा, मूर्ख।

अर्थ—रंभा के भय का उपचार करती हुई चित्रलेखा कहती है कि यदि राजा पुरूरवा के दूसरी रानी है तो इसमें भयभीत होने की कोई बात नहीं है, क्योंकि किसी भी राजा का प्रेम एक स्थान पर—एक नारी से—बँधा हुआ नहीं रहता। राजा तो नित्य नये प्रेम का ज्ञान करते रहते हैं, अर्थात् नई-नई स्त्रियों से प्रेम करते हैं और नित नई सुन्दर स्त्रियों पर मरते रहते हैं। पत्नी घर में पति को नित्य नई मादकता से भरने के लिए नहीं, बल्कि कुल का पालन-पोषण करने के लिए आती है। पुरुष नारी की इस मर्यादा पर कभी ध्यान नहीं देता। वह तो मधु के नित्य नये क्षणों से भीगना चाहता है—नित नया प्रेम चाहता है; और नित्य ओस के कणों से भीगे हुए एक पुष्प को चूमना चाहता है; अर्थात् यौवन-मद से भरी हुई नारी को बाहु-पाश में बाँधना चाहता है। राजा के प्रेम के क्षेत्र में चाहे जितनी नारियां हों, हमें

इसकी कोई चिन्ता नहीं है, क्योंकि उर्वशी उन सबमें सुन्दर है, और ऐसा कौन मूर्ख व्यक्ति होगा जो उसे छोड़कर अन्यत्र रमण करेगा। चाहे राज-परिवार की महारानी कोई भी हो, लेकिन हृदय की रानी तो उर्वशी ही बनेगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है। वही एकमात्र अपने पति की प्यारी होगी।

सहजन्या

तब तो······भर आयी है।

शब्दार्थ—अपर=दूसरा। नन्दनवन=स्वर्ग का वन। ज्योति=प्रकाश। भू=पृथ्वी।

अर्थ—तब तो तू उर्वशी को एक स्वर्ग से निकाल कर दूसरे स्वर्ग में पहुंचा आई है। तू स्वर्ग के वन की ज्योति को लूटकर उस ज्योति से पृथ्वी को भर आई है।

कहने का भाव यह है कि उर्वशी के अभाव में स्वर्ग तो अवश्य सूना हो जायेगा, किन्तु भूलोक में आनन्द भर जायेगा।

मेनका

अपर स्वर्ग तुम······मर्त्यभुवन में ?

शब्दार्थ—तरल=भावुक। वरने को=वरण करने के लिए। प्रस्तुत=तैयार। अमर्त्य=देवरानी उर्वशी। मर्त्यभुवन=भूलोक।

अर्थ—हे सहजन्या ! तुम चाहे पृथ्वी को दूसरा स्वर्ग मानो, किन्तु मेरे हृदय में यह शंका भरी हुई है कि सम्भव है, राजा का हृदय अत्यन्त भावुक हो। यह सच है कि सखी उर्वशी की पीड़ा से तुम परिचित हो चुकी हो। पर हे चित्रलेखा ! यह तो बताओ कि क्या तुम इसी प्रकार राजा की पीड़ा से परिचित हो चुकी हो ? अर्थात् जिस प्रकार राजा के वियोग में उर्वशी दुःखी है, क्या इसी प्रकार उर्वशी के वियोग में राजा भी दुःखी है ? क्या तुम्हें यह ज्ञात है कि जिस राजा का वरण करने के लिए उर्वशी तड़प रही है, वह राजा भी उसका आलिंगन करने के लिए—उसे अपनाने के लिए—तैयार है। हे चित्रलेखा ! देवरानी उर्वशी के मन में प्रेम की जो आग दहक उठी है, क्या उसका धुँआ भूलोक के राजा पुरूरवा के मन में भी है। भाव यह है कि

क्या राजा पुरूरवा भी इसी प्रकार उर्वशी से अपार प्रेम करता है जिस प्रकार उर्वशी करती है ?

चित्रलेखा

धुँआ नहीं······कल है।

शब्दार्थ—ज्वाला=आग। ताप=दुःख, पीड़ा। उभयदिक्=दोनों ओर। सम=बराबर। रंच=तनिक। कल=चैन।

अर्थ—मेनका के भय का निवारण करती हुई चित्रलेखा कहती है कि मैंने राजा के मन में धुँआ नहीं, बल्कि ऐसी ही आग देखी है, जैसी उर्वशी के मन में लगी हुई है। दोनों ओर की पीड़ाएँ बराबर हैं। देवरानी उर्वशी के मन में जितनी आग है, पुरूरवा की आग भी उससे कुछ कम नहीं है। जैसे उर्वशी सुख तथा आमोद से उदासीन होकर विकल रहती है, उसी प्रकार राजा को भी कभी भी तनिक-सा भी चैन नहीं, वह रात-दिन उर्वशी के लिए तड़पता रहता है।

छिपकर सुना······जाना था।

शब्दार्थ—नीति-भीति=नीतियों का भय। टुक=तनिक भी। स्रस्त=विच्छिन्न, अलग किया हुआ।

अर्थ—मैंने एक दिन छुपकर सुना कि राजा अपने मन से कह रहा था—रे मन! तू उस दिन स्वच्छ मेघों के समान प्रकाशित वन से बेकार ही लौट आया। तुमको उस दिन नीति के भय का, संकोच तथा शील का तनिक भी ध्यान नहीं करना था; अर्थात् मुझे समाज के और मन के सारे बन्धनों को तोड़कर उर्वशी को प्राप्त कर लेना चाहिए था और उस स्वप्न के पीछे-पीछे दौड़ना चाहिए था, जो स्वप्न अब बिखर गया है।

'एक मूर्त्ति में······श्वेत फूलों से।'

शब्दार्थ—सिद्धियां=सिद्धियां आठ मानी जाती हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व। कुंकुम=केसर। जावक=महावर। कांति=शोभा। पावक=आग। अरुण=लाल। वारुणी=मदिरा, शराब। मुकुलित=खिली हुई। विद्रुम-प्रवाल=मोती-मूँगे। व्योम=आकाश।

अर्थ—एक मूर्ति में ही किस प्रकार सारी सिद्धियां सिमट गई हैं; अर्थात् उर्वशी इतनी सुन्दर है कि उसे प्राप्त करना समस्त सिद्धियों को प्राप्त कर लेना है। मुझे यह कभी भी मालूम न था कि नारियां इतनी सुन्दर भी होती हैं। उसके (उर्वशी के) चरण कमल, केसर और महावर की भांति लाल थे। उसका शरीर लाल और शोभायुक्त था, मानो वह आग में धुली हुई हो। उसके लाल होठों में संसार-भर की माधुरी और लाली समाई हुई थी। उसकी आंखों में शराब के रंग के समान अर्थात् मस्तानी निद्रा-सी भरी हुई थी। उसके शरीर की शोभा ऐसी थी, मानो अनन्त ऊषाएँ अपनी लाली लेकर उदय हो गई हों। उसमें इतनी नवीनता थी, मानो समस्त जगत् की हरियाली ही इकट्ठी हो गई हो। उसके पैर पड़ते ही धूलों से मोती-मूँगे फूट पड़ते थे। वह जहां पर भी खड़ी हो जाती थी, वहीं आकाश सफेद फूलों से भर जाता था।

विशेष—१. उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, उल्लेख अलंकार।

२. नखशिख का वर्णन परम्परायुक्त है, फिर भी उर्वशी के सौन्दर्य की व्यापकता का संकेत (जो अंतिम पंक्ति में है) कार्य-परम्परा का पालन है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी सीता के वर्णन में ऐसी ही व्यापकता दिखाई है। महाकवि जायसी ने भी निम्नलिखित पंक्तियों में पद्मावती के रूप की व्यापकता का दिग्दर्शन कराया है—

नैन जो देखे कँवल भए, निरमर नीर सरीर।
हँसत जो देखे हँस भए, दसन जोति नग-हीर॥

'दर्पण जिसमें······मन की।'

शब्दार्थ—आभा=शोभा। निखिल=समस्त। निष्कलुष=निर्दोष। स्रष्टा=ब्रह्मा।

अर्थ—उर्वशी उस दर्पण के समान है जिसमें प्रकृति अपना रूप देखा करती है। उर्वशी वह सौन्दर्य है जिसमें कला अपना सपना देखा करती है। उर्वशी नारी नहीं, बल्कि समस्त भुवन की शोभा है। वह रूप नहीं, बल्कि ब्रह्मा के मन की निर्दोष कल्पना है।

विशेष—उल्लेख और अपह्नुति अलंकार।

फिर बोले······पुकार रही है ।

शब्दार्थ—परितोष=सन्तोष । अन्तरग्नि=हृदय की आग । अंक=गोद ।

अर्थ—फिर राजा पुरूरवा बोले कि न जाने कब उर्वशी प्राप्त होगी जिससे मेरे प्राणों को सन्तोष मिलेगा । न जाने कब तक उसके विरह में जलती हुई मेरे हृदय की आग में मेरे स्वप्न जलते रहेंगे । न जाने वह शुभ दिन कब आयेगा जब मेरी कल्पना साकार होकर मेरी गोद भरेगी; अर्थात् उर्वशी मेरी गोद में होगी । न जाने कब कल्पवृक्ष की लता के समान वह उर्वशी आकर अपने आलिंगन से मेरे मन के दुःख को दूर करेगी ? आह ! न जाने कौन मेरे मन पर सोने का तार मढ़ रही है और कौन मेरे चारों ओर चांदनी बनकर पुकार रही है ?

नक्षत्रों के बीज······अन्तर को ?

शब्दार्थ—रसमयी=आनन्दपूर्ण । आभा=शोभा । स्यात्=शायद । अम्बर=आकाश । अन्तर=हृदय ।

अर्थ—चित्रलेखा मेनका से राजा पुरूरवा की विरह-वेदना का वर्णन करती हुई कहती है कि राजा उर्वशी के लिए कह रहे थे कि उर्वशी प्राण के आकाश में नक्षत्र रूपी बीज बोने वाली है । वह आनन्दपूर्ण वेदनाओं में मुझे डुबाने वाली है । वह स्वर्गलोक की सुधा और नन्दनवन की शोभा है । हे उर्वशी ! मैं किस प्रकार अपने मन की पीड़ा को तुम तक पहुंचाऊँ । शायद मेरे प्रेम का तप अभी पूरा नहीं हुआ है, क्योंकि अभी तक मेरी आहों ने आकाश को भेदकर तुम्हारे हृदय को नहीं छुआ है ।

विशेष—रूपक अलंकार ।

पर मैं नहीं······खोलेगा ।

शब्दार्थ—व्याप्त=रमा हुआ । रव=ध्वनि । नीलिमा-पुंज=आकाश ।

अर्थ—अपनी विरह-वेदना को प्रकट करते हुए राजा पुरूरवा कह रहे थे कि इस पर भी मैं निराश नहीं हूं, क्योंकि समूची सृष्टि में एक ही मन रमा हुआ है । आकाश का गुण शब्द है, इसलिए यह अपने में सभी शब्दों अथवा

ध्वनियों को समो लेता है। इसीलिए यह निश्चय है कि एक दिन मेरी विरह की पुकार से व्याकुल होकर स्वर्ग डोल उठेगा और तब आकाश हमारे मिलन के लिए रास्ते खोल देगा।

मेरे अश्रु······मन से।

शब्दार्थ—कल्पद्रुम=स्वर्ग का एक वृक्ष। पारिजात-वन=कमल-वन। प्रसून=फूल।

अर्थ—हे उर्वशी ! मेरे ये आंसू ओस का रूप धारण करके कल्पवृक्ष पर छा जायेंगे। कमल-वन के फूल मेरी आहों से कुम्हला जायेंगे। हे मन को मोहने वाली उर्वशी ! मेरी यह दुःख से भरी हुई पुकार व्यर्थ नहीं जायेगी। आज नहीं तो कल अवश्य ही यह पुकार तुम्हें स्वर्ग में तड़पायेगी। फिर यह पुकार तुम्हें स्वर्ग से उतर कर पृथ्वी पर आने के लिए विवश करेगी; या मैं इस देह का त्याग कर स्वयं ही तुमसे मिलने के लिए स्वर्गलोक आ जाऊँगा।

कहने का भाव यह है कि यदि मुझे उर्वशी नहीं मिली तो मैं उसके विरह में शरीर-त्याग कर दूँगा।

सहजन्या

यह कराल······प्रणय-व्रती की।

शब्दार्थ—कराल=भयंकर। प्रणय-व्रती=प्रेम का व्रत करने वाला।

अर्थ—अरे ! पुरुष की, प्रेम का व्रत करने वाले मानव की यह विरह-वेदना तो बहुत ही भयंकर है।

चित्रलेखा

यही समुद्वेलन······रत्नाकर है।

शब्दार्थ—समुद्वेलन=व्याकुलता। राका=पूर्णिमा की रात। रत्नाकर=सागर।

अर्थ—मनुष्य की यही व्याकुलता तो नारी की शोभा है। यदि मनुष्य नारी के लिए न तड़पे तो फिर उसके सौन्दर्य का कोई मूल्य नहीं रह जाता; और यदि तड़पता है तो उसके रूप में चार चांद लग जाते हैं। इसीलिए तो उर्वशी की सुन्दरता में—यद्यपि वह पहले भी सुन्दर थी—और अधिक वृद्धि

हो गई है। पूर्णिमा की रात की तभी विजय समझनी चाहिए जब उसकी ज्योति से सागर में उफान आ जाये।

सहजन्या

महाराज पर……गूढ़ कहानी।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—जब महाराज विरह-वेदना से इतने अधिक पीड़ित हैं तो उनकी रानी अवश्य ही उनकी गूढ़ प्रेम-कहानी को मन ही मन समझ गई होंगी ?

चित्रलेखा

कैसे समझे नहीं……आराध रही हैं।

शब्दार्थ—कुल-वामा=कुलीन नारी। आराध रही हैं=पूजा कर रही हैं।

अर्थ—अवश्य ही समझ गई हैं, क्योंकि प्रेम छिपाये से नहीं छिपता। लेकिन जब यह विपत्ति आ ही जाती है तो कुलीन नारी कर भी क्या सकती है। यह सुना है कि वह रानी अपने प्रियतम की प्रीति को बनाये रखने के लिये किसी व्रत की साधना कर रही हैं और आजकल चन्द्र देवता की पूजा कर रही हैं।

सहजन्या

तब तो……होड़ पड़ी है।

शब्दार्थ—चन्द्रानना=चन्द्रमुखी उर्वशी।

अर्थ—तब तो चन्द्रमुखी उर्वशी और चन्द्र देवता में अच्छी-खासी होड़ लग गई है।

मेनका

यह भी है……घड़ी है ?

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—क्या तुमको इस बात का भी ध्यान है कि अब रात केवल चार घड़ी शेष रह गई है।

रंभा

अच्छा, कोई तान······स्वर में ।

शब्दार्थ—मुक्त अम्बर=स्वच्छंद आकाश ।

अर्थ—अच्छा, यदि रात केवल चार घड़ी रह गई है तो कोई तान शुरू करो और स्वच्छन्द आकाश में उड़ो । अपने गीत के मधुर स्वर में पृथ्वी और आकाश को साथ-साथ मिलाते हुए चलो ।

(समवेत गान)

बरस रही मधु······चाँदनियों में बस रे ।

शब्दार्थ—विभा=शोभा । तरंग=लहर । तिमिर=अन्धकार ।

अर्थ—हे मन ! आकाश से मधु की धारा बरस रही है, अतः तू इसका रस-पान कर ले । इस समय जो शोभा उमड़ रही है, उसे तू अपनी बाँहों में कस ले, पूर्णतया आत्मसात् कर ले । सुन्दरता का यह सागर अनन्त, रसमय, अतल और मधुमय है, अतः इसमें पूरी तरह से डूब जा; फेनिल लहरों को प्राप्त करके ही सन्तुष्ट मत हो जा । कहने का भाव यह है कि इस सुषमा का पूर्णतया आनन्द उठा; इसके किसी एक अंश पर ही सन्तुष्ट न हो । दिन में जैसी सख्त धूप होती है, रात को वैसा ही भयानक अन्धकार होता है; इसलिए तू इन प्रकाशयुक्त चांदनियों में बसकर नवीन तथा झिलमिलाते प्रकाश की सृष्टि कर; अर्थात् अन्धकार को प्रकाश में बदल ।

(इस प्रकार सामूहिक रूप से गाती-गाती सभी परियाँ आकाश में उड़कर छिप जाती हैं ।)

द्वितीय अंक

(प्रतिष्ठानपुर का राजभवन : पुरूरवा की महारानी औशीनरी अपनी दो सखियों के साथ ।)

औशीनरी

तो वे······गये ?

शब्दार्थ—सरल है ।

अर्थ—प्रतिष्ठानपुर के राजभवन में महाराज पुरूरवा की महारानी औशीनरी अपनी दो सखियों—निपुणिका और मदनिका—के साथ है। वह अकस्मात् अपनी सखियों से पूछ बैठती है—

तो क्या यह सच है कि महाराज पुरूरवा उसे छोड़ कर चले गये हैं ?

निपुणिका

गये······स्वर्ग से आयी ।

शब्दार्थ—प्रमदवन=रानियों का बाग । अनुरक्त=प्रेम में बंधे हुए । नियति=भाग्य ।

अर्थ—हाँ, यह सच है कि महाराज उर्वशी से मिलने के लिए चले गये हैं । उस दिन जब आप अपने पति की पूजा करके प्रमदवन से हृदय में यह सन्तोष भरकर तथा विश्वास लेकर लौटी थीं कि जिस प्रकार रोहिणी और चन्द्रमा आपस में प्रेम से बंधे हुए हैं, उसी प्रकार महाराज का प्रेम भी आपके प्रति अटल होगा, वे आपसे ही प्रेम करेंगे । अब जीवन में कोई भी ऐसा दुःखद क्षण नहीं आयेगा, जब महाराज अपनी ओर से उदासीन होकर अन्य नारियों के प्रति आसक्त होंगे । हे देवि ! तभी आपके भाग्य पर दुर्दैव मुस्कुराया और महाराज से मिलने के लिए उर्वशी स्वर्ग से उतर कर पृथ्वी पर आ गई ।

औशीनरी

फिर······हुआ ।

शब्दार्थ—सरल है ।

अर्थ—औशीनरी ने निपुणिका से पूछा कि फिर क्या हुआ ?

निपुणिका

देवि, वह······अनुचरी कहेगी ?

शब्दार्थ—अनुचरी=दासी ।

अर्थ—देवि ! इसके पश्चात् जो कुछ हुआ, उसे यह आपकी दासी कहने में सर्वथा असमर्थ है ।

औशीनरी

पगली, कौन······माया से ?

शब्दार्थ—व्यथा=दुःख । सानुकूलता=अनुकूलता । छवि=शोभा ।

अर्थ—तू तो पागल है । तू यह नहीं जानती कि दुनिया में ऐसा कोई भी दुःख नहीं, जिसको नारी नहीं सहती, अर्थात् नारी को सभी प्रकार के दुःख सहने पड़ते हैं । तूने राजा पुरूरवा और उर्वशी के मध्य जो प्रेम-व्यापार देखा, उसकी सारी कहानी निस्संकोच होकर मुझे सुनाती जा, ताकि मेरे हृदय में जलती हुई आग और भी अधिक तेज हो जाये । यदि तुम्हारी इस दुःखद कहानी से मुझ अभागिन का हृदय जलता है तो उसे जलने दे, क्योंकि इसमें तुम्हारा कुछ भी दोष नहीं है । उस दिन तो स्वामी पुरूरवा के स्वर में मेरे प्रति भारी अनुकूलता थी, अर्थात् वे और किसी अन्य स्त्री से प्रेम न करने की शपथ ले रहे थे, किन्तु मेरी समझ में यह नहीं आता कि वे एक क्षण में ही कैसे बदल गये । न जाने ऐसी कौन-सी परी है जो उन पर इस प्रकार का मोहक मन्त्र डाल सकती है और पुरुषों की धीरता का एक पल में ही हरण कर सकती है । मेरी समझ में नहीं आता कि उस अप्सरा ने मेरे स्वामी को अपनी शोभा से, रूप-छबि से छला है अथवा अपनी माया से छला है ।

निपुणिका

प्रकटी जब उर्वशी······आग लगाने वाली ।

शब्दार्थ—द्रुम=वृक्ष। स्वर्ण-प्रतिमा=सोने की मूर्ति। विभा=शोभा। नारीश्री=नारी की शोभा। कुसुम-कलेवर में=फूल के रूप में। प्रदीप्त=जगमगाती हुई। वसनों से=वस्त्रों से। उत्फुल्ल=खिला हुआ। सान्द्र=सुन्दर, प्रिय। लास्य=एक प्रकार का नाच। शोणित=खून।

अर्थ—निपुणिका महारानी औशीनरी से उर्वशी के रूप का वर्णन करती हुई कहती है कि जब पेड़ की छाया से चांदनी रात में बाहर आई तो ऐसा प्रतीत हुआ मानो साँप के मुख से मणि निकल आई हो। या स्वयं चाँदनी सोने की मूर्ति में आकर ढल गई हो, या प्रमद-वन की स्वप्नों की शोभा स्वयं शरीर धारण करके आकाश से उतर आई हो, या तीनों लोकों की नारी-शोभा एक स्थान पर इकट्ठी होकर उदित हो गई हो, या वह ज्वाला से भरे हुए मन की फूल के रूप में जलती हुई शोभा थी। उसके शरीर की शोभा वस्त्रों से छनकर पूर्ण रूप से चमक रही थी। उसका प्रत्येक अंग हिम के कणों से सिक्त कुसुम के समान झिलमिला रहा था। ऐसा प्रतीत होता था, मानो खिला हुआ कमल अभी-अभी जल से निकला हो। किसी सन्दर तथा प्रिय वन के समान उसके नेत्रों में हरियाली (प्रसन्नता) छाई हुई थी। उसकी बड़ी-बड़ी आंखें यौवन के मद से इस प्रकार अलसाई हुई थीं, मानो उनमें नींद भरी हुई हो। उसके अंग-अंग से राग जगाने वाली लास्य की लहरें दौड़ रही थीं। वह, निस्संदेह, मनुष्य के सोये हुए तथा शान्त खून में आग लगा देने वाली थी।

विशेष—१. उत्प्रेक्षा, संदेह और उपमा अलंकार।

२. नारी के सौन्दर्य का परम्परामुक्त वर्णन।

मदनिका

सुप्त, शान्त······सिन्धु लहराया।

शब्दार्थ—पूर्ण चन्द्र=यहां उर्वशी से तात्पर्य है। सिन्धु=सागर; यहां महाराज पुरूरवा से तात्पर्य है।

अर्थ—हे निपुणिका! तुम मनुष्य के खून को सुप्त और शान्त कहती हो। तुम्हारा यह कथन ठीक नहीं है। जो शक्ति पर्वतों में जल की धारा

को प्रवाह देती है, वही शक्ति चुपचाप मनुष्य के प्राणों में छिपकर और दौड़-दौड़कर उसके खून के प्रवाह में लहरें उपजाया करती है और ये ही लहरें एक दिन फूटकर प्रेम की धारा बन जाती हैं। लेकिन इन बातों को छोड़ो। तुम आगे की कहानी सुनाओ कि क्या चन्द्रमा के समान उर्वशी को देखकर सिन्धु के समान महाराज पुरूरवा अचल रहे अथवा अपनी मर्यादा को छोड़कर उबल पड़े ?

विशेष—सागर मर्यादा का प्रतीक माना जाता है, क्योंकि यह अपने तटों की मर्यादा का कभी उल्लंघन नहीं करता, किन्तु पूर्णिमा की चाँदनी में यह अपने तटों की मर्यादा को छोड़कर ज्वार-भाटे के रूप में उफन पड़ता है। कवि का इसी तथ्य की ओर संकेत हैं।

निपुणिका

सिन्धु अचल रहता······गिरि-मल्लिका-लता-सी।

शब्दार्थ—दारुण=भयानक। कोपानल=क्रोध की आग। सुख-संभार-नता सी=सुख के बोझ से दबी हुई सी।

अर्थ—यदि सागर के समान महाराज पुरूरवा अचल रहते, उर्वशी के प्रेम-पाश में न फंसते तो आज हम राजमहल में क्यों रोते और क्यों इस प्रकार भाग्य के क्रोध की भयानक आग में जलते। महाराज ने उर्वशी को देखकर, अधीर होकर तथा अकुला कर, उसे दौड़कर और उठाकर अपनी बांहों में भर लिया। वह अप्सरा भी महाराज के हृदय के बीच में सुख के बोझ से दबी हुई-सी होकर इस प्रकार समा गई, जैसे पर्वतों के पंखों में सिमटी हुई कोई गिरिमल्लिका की लता हो।

विशेष—उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकार।

और प्रेम-पीड़ित······जल है।

शब्दार्थ—उपचार=इलाज। सुरभि=सुगंधि। बेलि=लता। मूर्धा=मस्तक। पाटल=कमल। दल=पंखुड़ियां। अनिल=पानी। निस्तल=अतल।

अर्थ—और तब प्रेम से पीड़ित राजा कहने लगे कि मैं क्या इलाज करूं। सुख की मादक तरंग के समान इस उर्वशी को मैं कहाँ समेट कर

रख लूं ? न जाने सागर प्राण के किस अदृश्य किनारे को छूना चाहता है ? खून की धारा हृदय को फोड़कर किसको छूना चाहती है ? न जाने मेरे प्राणों में कौन सुगंधि की दिव्य लता लहलहा उठी है ? और न जाने कौन नई तारिका मेरे मस्तक पर चमक उठी है। न जाने किस कमल की पंखुड़ियां सुगंधि से विकल होकर जल की लहर में प्राणों के मादक सर में धीरे-धीरे तिर रही हैं। यह सुख की गंभीर समाधि अतल है, इसका पार नहीं पाया जा सकता। इसमें जहां तक प्राण डूबते हैं, वहीं तक आनंद ही आनंद और जल ही जल उपलब्ध होता है।

प्राणों की मणि······विचरें हम।

शब्दार्थ—मनोज्ञ=कामदेव । दुरन्त=कठिन । दुस्सह=भयानक । उन्निद्र=उनींदी। आतप=गर्मी। हिमकाल=शरद ऋतु। सतत=लगातार। विधु=चन्द्रमा। इन्दु-मुख=चन्द्रमुख । इंगित=संकेत । स्रोतस्विनी=नदी। सैकत=बालू । अभिसिक्त=भिगोना। घनाली=बादलों का समूह।

अर्थ—हे प्राणों की मणि! कामदेव को भी मोहित करने वाली उर्वशी! इस कठिन विरह में पड़कर मैं क्या-क्या कठिन वेदनाएं नहीं झेलता रहा हूं ? अर्थात् मैं सब प्रकार की कठिन से कठिन पीड़ाओं को सह रहा हूं। रात-दिन उनींदी आंखों में तेरा ही ध्यान संजोकर मैंने लगातार रो-रोकर गर्मी, वर्षा और शरद ऋतु बिता दीं। विदा होते समय तुमने जिन मधु-मस्त आंखों से देखा था, उस समय की वे आंखें, वह मूर्ति, वह दृष्टि कभी भी एक क्षण के लिए नहीं भूली जाती। तुम्हारा ध्यान आते ही मेरा मन चांदनी जैसी उज्ज्वलता से भर जाता है; चुम्बन की कल्पना करते ही समस्त शरीर में सिहरन उत्पन्न हो जाती है। तू ही मेघों में छिपकर मेरा मन हरती रहती है और चन्द्रमा की ओट लेकर मुझे अपने पास बुलाने के लिए संकेत करती रहती है। प्रत्येक फूल में तुम्हारा ही चन्द्रमुख मेरे मन में आकर्षण पैदा करके, सौ बार हँस कर तथा मुझे अपने संकेत से अपने पास बुलाकर छिप जाता है। तुम्हारी स्मृति की नदी लहराकर मेरे प्राणों में आनंद का संचार तो करती है, किन्तु विरह से दग्ध इस वेदना रूपी बालू

को भिगो नहीं पाती थी; अर्थात् तुम्हारी स्मृति से मेरे मन को सुख तो मिलता था, पर वेदना की दाह कभी नहीं होती थी। किन्तु आज मुझे तुमसे मिलकर इसी प्रकार प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है, जिस प्रकार आषाढ़ के महीने में मेघों का मतवाला समूह आकाश में छा जाता है। यही प्रसन्नता की नवीन हरियाली आज चारों ओर से घेर कर खड़ी हो गई है।

हे प्राणेश्वरी ! हम नित साथ-साथ रहकर मिलन-सुख का अनुभव करें और मधुमय हरियाले निकुंज में आजीवन विचरण करते रहें।

विशेष—प्रकृति का वर्णन उद्दीपन रूप में किया गया है, किन्तु इस वर्णन में परम्परा का त्याग करके नवीन पद्धति का समावेश किया गया है।

औशीनरी

आजीवन वे······अच्छा मरना है।

शब्दार्थ—आजीवन=जीवन-भर।

अर्थ—यदि महाराज और उर्वशी दोनों जीवन-भर साथ-साथ रहेंगे तो मुझे अब जीकर करना भी क्या है। इस जीते-जी मरण से तो एक बार मरना ही बहुत अच्छा है।

निपुणिका

मरण श्रेष्ठ है······जीना है।

शब्दार्थ—गन्धमादन=एक पर्वत का नाम। प्रत्यागत हो=लौटकर। नैमिषेय=एक प्रकार का यज्ञ। प्रीता=प्रियतमा। कुलवनिता=कुलीन स्त्री। परिणीता=विवाह की हुई नारी, पत्नी।

अर्थ—यह सत्य है कि इस प्रकार के जीवन से मरना बहुत अच्छा है, किन्तु आपको मरना भी तो सुलभ नहीं है, क्योंकि जाते समय महाराज पुरूरवा ने अपने मंत्रियों से यह बात कही थी कि एक वर्ष के पश्चात् वे गन्धमादन नामक पर्वत पर विचरण करेंगे और वहां से लौटकर नैमिषेय नामक यज्ञ का विधान करेंगे। महाराज प्रियतमा के वशीभूत होकर पर्वत पर विचरण तो कर सकेंगे, किन्तु उनका यज्ञ बिना कुलीन पत्नी के पूर्ण नहीं होगा; अतः हे भुवनेश्वरि ! उस यज्ञ की पूर्णता में अपना फर्ज निभाने के लिए आपको

जीवित ही रहना पड़ेगा, क्योंकि यदि आप मर गईं तो वह यज्ञ फिर किस प्रकार पूर्ण होगा।

औशीनरी

हाय, मरण तक······लेते हैं।

शब्दार्थ—हलाहल=भयंकर विष। गणिका=वेश्या, उर्वशी। अहित=बुरा। भ्रमा=भ्रम में डालकर। प्रवंचिकाएँ=ठगिनी। हित=लिए। कुल-वामाओं को=कुल नारियों को। आखेट=शिकार।

अर्थ—यह बड़े दुःख की बात है कि जब तक मुझे मरने का अवसर मिलेगा, तब तक मुझे भयंकर विष को पीते रहकर जीना होगा। न जाने उस वेश्या उर्वशी का मैंने क्या बुरा किया था, न जाने कब और किस पूर्व-जन्म में मैंने उसका क्या सुख छीन लिया था, जिसके कारण मेरे पति की बुद्धि को भ्रम में डालकर वह अधम पापिनी मेरे पति को मुझ से छीनकर ले गई।

न जाने ये ठगिनी अप्सराएँ अपने मन में दया क्यों नहीं करतीं और निर्दयी बनकर अपने आनन्द के लिए कुल की नारियों को तड़पाती रहती हैं।

ये अपने रूप और यौवन का जाल फेंकती रहती है और हँसी-हँसी में नरों के मन का शिकार कर लेतीं हैं। लेकिन इन व्याधिनियो के बाण किसको दुःख पहुंचाते हैं? पुरुषों को तो वे आनन्द देती हैं, पर उनकी नारियों के प्राणों को हर लेती हैं; अर्थात् इनके कारण नारियों को ही दुःख होता है, पुरुषों को नहीं।

निपुणिका

पर कैसी है······बहती है।

शब्दार्थ—श्रान्त हुई=थकी। व्यजन=पंखा। पल्लव-दल=फूलों का समूह। निखिल=समस्त। पय=दूध। मज्जित करके=नहला करके पुलकातिरेक=हर्ष का आधिक्य।

अर्थ—लेकिन इस उर्वशी के ऊपर भाग्य की भी तो बहुत अधिक कृपा है क्योंकि महाराज का सारा प्रेम उमड़ कर उसके ऊपर बरस रहा है;

अर्थात् महाराज पूर्णरूप से उसे प्रेम करते हैं। जिस दिशा में उर्वशी चलती है, महाराज उसी ओर उसके पीछे-पीछे चलते हैं। वह यदि जरा भी थकी तो महाराज फूलों के समूह से उसको हवा करते हैं, उसके लिए पंखा झलते हैं।

वे उसकी समस्त देह को दृष्टि के गाढ़े दूध से नहला करके और उसके प्रत्येक अंग को नवोत्पन्न पत्ते, पराग तथा फूलों से सजाकर फिर तुरन्त ही यह कह बैठते हैं कि ये भी ठीक नहीं लगते। इसीलिए वे तरह-तरह के प्रसाधन—सजाने के सामान—बनाते रहते हैं।

और उर्वशी सारे आनन्द को समेट कर चुपचाप रहती है, बोलती तक नहीं है। वह आनन्द के कारण अर्ध-चेतन अवस्था में होकर हर्ष के आधिक्य में धीरे-धीरे बहती रहती है।

मदनिका

इसमें क्या आश्चर्य······बन्धन में।

शब्दार्थ—केसरी=सिंह, शक्तिशाली पुरुष। अनिमिष=निरन्तर। रोमाकुलित=रोमांच से भरकर। अनिर्वच=अवर्णनीय। उडुओं=नक्षत्रों कौमुदी=चांदनी। जावक=महावर। विधु=चन्द्रमा। पावक—ज्योति से तात्पर्य है। तपोनिष्ठ=तपस्वी। प्रमदा=युवती। उद्वेलित=उत्तेजित।

अर्थ—यदि विविध भांति के प्रसाधनों से उर्वशी को सजाकर भी महाराज सन्तुष्ट नहीं हो पाते तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि जब मनुष्य के हृदय में प्रथम बार प्रेम जगता है तो उसे नारी किसी दुर्लभ स्वप्न के समान सुन्दर दिखाई दिया करती है।

नारी-जीवन की वह कितनी गौरवपूर्ण घड़ी होती है, जब शक्तिशाली और अजेय पुरुष अपने तन-मन की समस्त सुध-बुध भूलकर नारी के चरणों में पड़ा रहता है और उसके मुख को निरन्तर देखता रहता है तथा प्रत्येक क्षण रोमांच में भरकर गूढ़ और अवर्णनीय सुख का भोग करता रहता है।

यही वह समय होता है जब नारी जो चाहे उसे ही प्राप्त कर सकती है। वह चाहे तो नक्षत्रों की तगड़ी और चांदनी का दुकूल मँगवा सकती है, चाहे तो ऊषा के महावर से अपने चरणों की उंगलियों को रंगवा सकती है और चाहे तो पूर्णिमा के चन्द्रमा की ज्योति से अपनी आरती सजवा सकती है।

उस समय तपस्वी का संचित तप, ज्ञानी का ज्ञान, मानशील का मान, गर्वीले का गर्व और अभिमानी का अभिमान ये सब सहज ही युवती के चरणों की भेंट हो जाते हैं और तब उत्तेजित मनुष्य नारी से कुछ भी नहीं बचा पाता।

किन्तु, अत्यन्त दु:ख का विषय है कि मनुष्य की यह उत्तेजना भी सरल तथा स्वाभाविक नहीं है, बल्कि माया से भरी हुई है। जिस सहज आतुरता से पुरुष का हृदय धधकता है, उस आतुरता से नारी के मन में उत्तेजना नहीं आती। वह सागर जैसे गम्भीर मनुष्य को अपने बन्धन में बांधकर रख लेना चाहती है।

औशीनरी

किन्तु बन्ध को······पिरोनी होगा।

शब्दार्थ—बंध=बन्धन। प्रशमित=शान्त।

अर्थ—लेकिन बन्धनों को तोड़कर जब नारी के हृदय में प्रेम का आवेश पैदा होता है, तब तक नर का प्रेम शिथिल होकर शान्त होना प्रारम्भ हो जाता है। हम नारियों को पुरुष अर्ध-निद्रा में चूमता है किन्तु जब हम निद्रा से जगती हैं तो वह प्रेम-जगत के प्रति विमुखता दिखलाने लगता है। तब रमणी अर्ध-निद्रा से जागकर और प्राणों में प्रेम की आग लेकर अपने प्रेमी का पंथ देखती रहती है तथा उसके विरह में आंसू बहाती रहती है। मुझे भी अब आंसू बहाने के सिवाय और कोई चारा शेष नहीं रह गया है।

निपुणिका

इसी भांति······भज सकते हैं।

शब्दार्थ—भन्नारी=सुन्दर स्त्री। स्ववेंश्या=गणिका।

अर्थ—लेकिन क्या इस प्रकार महाराज भी आपके प्रति प्रेम से उदासीन हो जायेंगे और आपके समान सुन्दर तथा गुणवती नारी को तजकर बिना सोचे-समझे उस गणिका—उर्वशी—को कब तक अपनाये रह सकते हैं?

औशीनरी

कौन कहे······चाहता मन है।

शब्दार्थ—अलभ्य=जिसे प्राप्त न किया जा सके।

अर्थ—कौन जाने कि महाराज मुझे छोड़कर उर्वशी के प्रति ही अपने प्रेम का प्रदर्शन करेंगे; किन्तु इतना सत्य है कि प्रेम हृदय की सबसे बड़ी उलझन है और प्रेम में मन उसी वस्तु को प्राप्त करना चाहता है जो प्राप्त न की जा सके।

मदनिका

उस पर भी······बस में।

शब्दार्थ—प्रतिमाओं का=सुन्दर स्त्रियों का। तोष=सन्तोष। ग्रीवा=गर्दन। दूरे=छिप जाये। अंक=गोद। निमज्जित=डुबोया हुआ। प्रमदा=युवती।

अर्थ—यद्यपि प्रेम स्वयं एक ऐसी उलझन है जो अलभ्य वस्तु की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहती है, इस पर भी मनुष्य में प्रति क्षण आकुल होने की आदत है। वह नित नई सुन्दरियों का प्यार प्राप्त करना चाहता है। उसके वश में जो वस्तु आ जाती है, उससे उसे सन्तोष नहीं होता और न उसके लिये उसे सन्तोष होता है जिसे उसने जीत कर अपने वश में कर लिया है।

मनुष्य नई सिद्धियों को प्राप्त करने के लिये नित नये संघर्ष की इच्छा करता रहता है। वह नया स्वाद, नई जय और नित नया हर्ष प्राप्त करना चाहता है। उसे भौतिक स्पर्श से दूर रह कर स्वप्नों की झिलमिलाहट अच्छी लगती है। वह उस जल की इच्छा करता है जिसे वह छक कर नहीं पी सका हो। जो नारी अपना सर्वस्व त्याग कर उसकी गर्दन में झूलती रहती है उसके प्रति उसके मन में कभी भी प्रीति नहीं जगती। चांदनी के समान जो नारी उसे अपना सर्वस्व अर्पण कर देती है, उसे वह फीकी लगने लगती है।

मनुष्य उसी नवयुवती के वश में रहता है जो बार-बार चुम्बन लेकर प्रकट होती है तथा छिप जाती है; जो स्वयं को प्रियतम की गोदी में समेट लेती है; जो स्वप्नों के समान बाहु-पाश में उड़ती रहती है और अन्धकार की लहर के समान बार-बार लौटकर डूब जाती है और जो सदैव प्रियतम को अतृप्ति के रस में डुबाये रहती है।

विशेष—नारी-मन का यथातथ्य मनोवैज्ञानिक चित्रण है।

औशीनरी

गृहिणी जाती हार······बनकर हारी।

शब्दार्थ—जयिनी=विजयी। गृहिणी=धर्मपत्नी।

अर्थ—धर्मपत्नी अपने सम्पूर्ण जीवन को समर्पित करके भी अपना दांव हार जाती है और अप्सरा पुरुष में ललक भर कर विजयी बन जाती हैं। बेचारी गृहिणी नारी मनुष्य में ललक जगाना नहीं जानती, उसकी वासनाओं को उत्तेजित करना नहीं जानती। इसीलिये हे सखि! अप्सरा जीत गई, वह मेरे पति पर अपना अधिकार करने में सफल हुई और मैं रानी बनकर भी हार गई, अपने पति के प्रेम से वंचित हो गई।

निपुणिका

इतना कुछ······धर सकती है?

शब्दार्थ—धनद=कुबेर। व्योमवत्=आकाश की भांति। जलद-निभ=बादलों के समान। मनोज्ञ=सुन्दर। कुसुमायुध-से=कामदेव के समान। अनुरागी=प्रेमी। वामा=स्त्री।

अर्थ—हे महारानी! आप इतना सब कुछ जानती थीं, फिर आपने अपने ऊपर इस विपत्ति को आने दिया और अपने पति को अपने हाथों से क्यों जाने दिया? महाराज भी कोई साधारण पुरुष नहीं हैं। उनका मन अप्सराएं सहज ही हरण नहीं कर सकतीं। वे कार्त्तिकेय के समान शूरवीर, देवताओं के गुरु वृहस्पति के समान ज्ञानी, सूर्य के समान तेजस्वी, इन्द्र के समान प्रतापी तथा स्वाभिमानी, कुबेर के समान सम्पन्न, आकाश के समान मुक्त, बादलों के समान त्यागी, कुसुम के समान मधुर और सुन्दर तथा कामदेव के समान प्रेमी हैं।

ऐसे असाधारण व्यक्ति के लिए स्त्री सभी कुछ कर सकती है, उसे वश में करने के लिए अपनी समस्त शक्ति का प्रयोग कर सकती है और ऐसो कोई भी वस्तु नहीं है जिसे वह उसके चरणों पर न्योछावर न कर सके।

विशेष—उपमा अलंकार।

औशीनरी

अरी, कौन है······उठती है नारी।

शब्दार्थ—कृत्य=कार्य। प्रणय-वेदी=प्रेम की वेदी। आराध्य-चरण पर=पति के चरणों पर। हेरती रहती=देखती रहती। श्री=शोभा। अन्तर=हृदय। वयस=आयु। कर अवगाह=स्नान करके।

अर्थ—हे निपुणिका! कोई भी ऐसा कार्य शेष नहीं है जिसे मैं इसके लिए अब तक न कर पाई हूं; अर्थात् महाराज को उर्वशी के प्रेम से उदासीन करने के लिये मैंने सब प्रकार के प्रयत्न कर लिए हैं। ऐसा कोई भी फूल नहीं बचा है जिसे मैंने प्रेम की वेदी पर न चढ़ाया हो। ऐसा मेरे पास कोई धन नहीं है जिसे मैंने अपने पति को समर्पित न किया हो। हे सखि! मैंने तो अपने पति के चरणों पर तन, मन और जीवन सभी कुछ न्यौछावर कर दिया है।

इतना सब कुछ समर्पण करने के पश्चात् भी तो मैं भिखारिनी की भांति उनके मुख की ओर देखा करती हूं। और अपने प्रियतम की आंखों में सदैव अपने सुख को देखती हूं; अर्थात् उनके मुख को देखते रहने में ही मुझे अपार आनन्द मिलता है। लेकिन प्रियतम के अभाव में मुझे वह सुख भी तो नहीं मिलता। न जाने उनके नयनों की चमक कहां खो गई है? न जाने स्वामी के मधुर प्रेम की शोभा कहाँ पर जाकर सो गई?

मुझे अब भी सारा सुख प्राप्त है, केवल एक प्रियतम के मिलन का ही सुख नहीं है। इसी सुख से तो नारी के हृदय में मान का कमल खिला करता है। यही वह सुख है जो उस दृष्टि से बरसा करता है जिससे नर मधु-मत्त नयनों से नारी को देखा करता है।

यही वह दृष्टि है जिसके कारण अवस्था का अन्तर मिट जाता है और प्रौढ़ा नायिका भी जिसे प्राप्त कर युवती बन जाती है। यह वह अत्यन्त पवित्र, जलयुक्त (स्नेहपूर्ण) और सुखकारी दृग की निर्झरी है जिसमें स्नान करके नारी फिर से नवीन हो जाती है; अर्थात् पुनः यौवन तथा जीवन-प्रेरणा प्राप्त कर लेती है।

मदनिका

जब तक यह······प्रचंड होते हैं।

शब्दार्थ—रस-दृष्टि=आनन्द से भरी हुई दृष्टि। रसोद्रेक=रस (आनंद) का संचार। दारुस्पर्शवत्=लकड़ी को छूने के समान। वपु= शरीर। काय=काया, शरीर। दुष्कर=मुश्किल। मधुकर=भौंरा। प्रणय-क्षुधा=प्रेम की भूख। जननि का=माता का। वक्ष=गोद से तात्पर्य है। श्रमित-श्रान्त हो=थक कर। उद्दाम=तीव्र। अनल=आग, प्रेमाग्नि। अप्रतिम=अपूर्व। रूपसी=रूपवती। तिमिराच्छन्न=अंधकार से भरा हुआ। परिरंभ=आलिंगन। जलधि=सागर। विक्रान्त=अजेय।

अर्थ—जब तक पुरुष की नारी के प्रति यह आनन्द से भरी हुई प्रेम की दृष्टि बनी रहती है, तभी तक जीवन में आनन्द का संचार होता रहता है। इसी से आलिंगन में पुलक और चुम्बन में सजीवता एव सिहरन आती है। जब यह दृष्टि प्रेम-विहीन हो जाती है तो चुम्बन का स्वाद नष्ट हो जाता है और आलिंगन सूखी हुई लकड़ी के छूने के समान निरर्थक बन जाता है।

शरीर तो केवल एक ग्रन्थ के समान है। तन पर जो प्रेम की कविता लिखी जाती है वह तो मन से उत्पन्न होती है, अतः केवल शरीर का मिलन व्यर्थ है। लेकिन सदा आदमी के मन को वश में रखना बहुत ही कठिन काम है, ठीक उसी प्रकार जैसे फूलों से भरी हुई पृथ्वी के होने पर भी चंचल भौंरा सदैव एक फूल से दूसरे फूल पर जाने के लिए ही विकल रहता है।

मनुष्य सदा प्रेम की मादक भूख से आक्रांत होकर विचरण किया करता है। मनुष्य को न तो विजय प्राप्त करके तृप्ति होती है और न यश की अमृत प्राप्त करके उसे सन्तोष मिलता है। यदि असफलता मिलने पर नर को अपनी मां की गोद याद आती है तो मुसीबतों के आने पर उसे युवती की सेज का स्मरण होता है।

जब मनुष्य संघर्षों से पूर्णतया थक जाता है तो वह विह्वल होकर केवल एक क्षण सिर रखकर सोने के लिए नारी का हृदय ढूंढ़ा करता है। जब मनुष्य की आंखों में आंसू भर जाते हैं तो वह किसी का चुम्बन चाहता है और विपत्ति में रमणी के शरीर से गाढ़ा आलिंगन चाहता है।

जलती हुई धूप में मनुष्य को या तो छांह की, या जल की या किसी निकुंज में बैठकर प्रतीक्षा करती हुई युवती के अंचल की याद आती है। और मनुष्यों में भी जो मनुष्य जितना अधिक विक्रमी और प्रबल होगा, उसकी प्रेमाग्नि भी उतनी ही अधिक तीव्र, वेगमयी तथा दीप्त होगी।

जो व्यक्ति प्रकृति के कोप से जितना ही अधिक तेज लेकर आता है, वह उतनी ही आसानी से फूलों से कट जाता है। कहने का भाव यह है कि जो व्यक्ति जितना ही अधिक शक्तिशाली होता है, वह उतना ही अधिक भावुक और अनुरागी होता है। जो व्यक्ति अगम, अगाध और अपूर्व तेज-बल को धारण करने वाले होते हैं, वे बड़ी आसानी से सुन्दर नारी के सामने घुटने टेक देते हैं।

जो दृष्टि अन्धकार से भरे हुए आकाश को पार करने में समर्थ होती है, वही किसी युवती के सुन्दर कपोल को छूकर कुंठित हो जाती है। जो बांहें उखाड़कर पर्वत को भी अपनी गोद में ले लेती हैं, वे ही हृदय की पीड़ा तथा आलिंगन की वेदना का दान करती हैं।

जो सागर जितना ही अधिक विक्रान्त, अगम और रत्नों से भरा हुआ होता है, उसमें उतनी ही अधिक संघर्षशील और दुर्दम बाडवाग्नि होती है। नद, नाले और सोते ही (तटों के) बन्धनों को स्वीकार करते हैं। महानद तो स्वभाव से ही प्रचण्ड होते हैं।

निपुणिका

इस प्रचंडता······नहीं है ?

शब्दार्थ—उपचार=इलाज।

अर्थ—तो क्या इस प्रचंडता का संसार में कोई इलाज नहीं है ?

औशीनरी

प ति के सिवा······रोयेंगी।

शब्दार्थ—योषिता=युवती, रमणी।

अर्थ—पति के सिवाय पत्नी (रमणी) का और कोई आधार भी तो नहीं होता। जब तक रमणियों के लिए केवल पति ही आधार बना रहेगा, तब

तक नारियों की व्यथाएँ दूर नहीं होंगी। वे आंसुओं को छिपाकर हँसेंगी और हँसते-हँसते रोयेंगी।

(कंचुकी का प्रवेश)

कंचुकी

जय हो······आराधन में।

शब्दार्थ—भट्टारिके=महारानी औशीनरी के लिए सम्बोधन। भट्टारक=महाराज पुरूरवा के लिए सम्बोधन। सक्षेम=कुशल। उत्पल=कमल। ग्रीव=गर्दन। अम्बर=आकाश। अतिशय=अत्यन्त। वंशधर=पुत्र। आराधन में=पूजा में।

अर्थ—जब औशीनरी और उसकी सखियों में बातचीत हो रही थी, तभी कंचुकी आता है और कहता है—

हे महारानी आपकी जय हो! महाराज को जो सैनिक गन्धमादन पर्वत का मार्ग दिखलाने के लिए तथा उन्हें कुशल-पूर्वक वहाँ पहुँचाने के लिए गये थे, वे आज नगर में लौट आये हैं और आपके लिये महाराज का यह सन्देश लाये हैं।

महाराज ने सन्देश में कहा है कि यहां की पवन स्वास्थ्य-वर्द्धक और शीतल है। यहां का जल मीठा है। झीलों में, जिधर देखिए, उधर ही कमल ही कमल दिखाई देते हैं। लम्बे-चौड़े चीड़ के वृक्ष आकाश की ओर गर्दन उठाये हुए हैं। वे ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो एक चरण पर खड़े हुए तपस्वी अपने ध्यान में लीन हों।

दूर-दूर तक यहां फूलों के सुन्दर बन हैं जो दूर-दूर तक फैले हुए हैं। जहां देखिये, वहीं पर लता तथा तरुओं के बने हुए कुंज-भवन दिखलाई देते हैं। पर्वतों की चोटियों पर बर्फ के ढेर हैं और नीचे झरनों का पानी बह रहा है। इन पर्वतों के बीच में प्रकृति हरियाली का वसन ओढ़कर सोई हुई है।

मैं इस मधुवन में बहुत ही मग्न और प्रसन्न हूं, किन्तु यहां भी मेरे मन में बार-बार वही वेदना (पुत्राभाव की) उभर आती है। यद्यपि प्रतिष्ठानपुर में ऐसा वैभव है कि वह इस पृथ्वी पर स्वर्ग के समान है, किन्तु यह समस्त वैभव पुत्र के अभाव में सूना ही लगता है।

क्या अपने घर में कभी भी पुत्र-रत्न नहीं चमकेगा ? अर्थात् इस वंश में कोई पुत्र उत्पन्न नहीं होगा ? हे देवि ! क्या यह महान् ऐल वंश पुत्राभाव के कारण आगे नहीं चल सकेगा। आप भगवान् से निरन्तर पुत्र के लिये प्रार्थना करती रहें। आपके धर्म-साधन में किसी प्रकार की गलती न होने पाये। मैं जहां भी रहूंगा, इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये निरन्तर ईश्वर की पूजा में लगा रहूंगा।

निपुणिका

सुन लिया……आर्ये !

अर्थ—हे महारानी ! क्या आपने महाराज का सन्देश सुन लिया ?

औशीनरी

हां अनोखी……फूल हों।

शब्दार्थ—रमना=रमण करना। आराधना=पूजा। अवलम्ब=सहारा। मरुत=वायु, ग्रह। शूल=कांटे।

अर्थ—हां, मैंने महाराज का सन्देश सुन लिया है। उनकी साधना बड़ी ही अनोखी है, क्योंकि वे अप्सरा के साथ रमण करने को ईश्वर की पूजा बता रहे हैं। वे पुत्र प्राप्त करने के लिए कुंजों में और वनों में आनन्द के साथ विचरण करते रहें और मैं इस सूने भवन में पुत्र के लिये पूजा करती रहूं, इससे अधिक मेरा दुर्भाग्य और क्या हो सकता है ? उनका यह न्याय भी कितना अनोखा है ? इस न्याय का विरोध करने के लिए भी तो कोई उपाय नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि इस संसार में सबको सहारे मिल सकते हैं, किन्तु नारी को नहीं मिल सकते, क्योंकि वह असहाय है। नारी के लिये तो यही उचित है कि वह अपने मन के दुःख-दर्द को किसी से न कहे और मन की व्यथा को गीत का रूप न दे। उसके मन में वेदना की जो हूक उठे, उसे अपनी जबान पर न लाये।

इतना सब कुछ होने पर भी मैं भगवान् से यही प्रार्थना करती हूं कि सारे ग्रह मेरे स्वामी के अनुकूल हों। उनके मार्ग में जो कांटे हों, वे मुझे

मिल जायें और मेरे प्रियतम जहां भी रहें, वहीं सब जगह उनके पथ में पृ बिछे रहें। अर्थात् महाराज कुशल-पूर्वक तथा आनन्दपूर्वक अपने जीवन त की निर्वाह करते रहें। है,

विशेष—इन पंक्तियों में औशीनरी के चरित्र की महत्ता साकार हो उठी है।

तृतीय अंक

(गन्धमादन पर्वत पर पुरूरवा और उर्वशी)

पुरूरवा

जब से हम-तुम······करती हो।

शब्दार्थ—अभिसारों में=मिलन-क्षणों में। सितासित=श्वेत और काला; अर्थात् शुक्ल-पक्ष और कृष्ण-पक्ष। अमा=अमावस्या। ज्योत्स्ना=चांदनी। फुल्ल=खिले हुए। अनिनिष=अपलक। गिरा=वाणी।

अर्थ—गन्धमादन पर्वत पर निवास करते हुए महाराज पुरूरवा अपनी प्रियतमा उर्वशी से कह रहे हैं कि हे उर्वशी! जब से हम-तुम मिले हैं तब से इन मिलन-क्षणों में न जाने कितनी बार रजनी श्रृंगार करके शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष को साथ लेकर आकाश में घूम चुकी है? अर्थात् कितने ही शुक्ल और कृष्ण पक्ष व्यतीत हो चुके हैं—बहुत अधिक समय बीत गया है। न जाने, तब से कितनी बार अपना समय आने पर अमावस्या चन्द्रमा को चुरा कर ले गई है और न जाने कितनी बार फिर चांदनी उसे लेकर प्रकट हुई है।

जब से हम तुम इस रूप के अगम और खिले हुए कानन में मिले हैं तब से मेरी अपलक दृष्टि किसी विस्मय में डूबी रहती है। यह विस्मय इतना अधिक है कि मुझे स्वयं अपनी वाणी का ही अर्थ समझ में नहीं आता। मेरे शब्दों से अर्थों की जो मूर्तियां बनती हैं वे तुम्हारी आंखों से उठने वाले क्षीर ज्वार में गलकर खो जाती हैं।

अपनी इस विवशता के कारण मैं आनन्द से विकल होकर सिहरता हुआ उस वृक्ष की भाँति खड़ा रहता हूं जिसकी डालियों पर गिलहरियां बड़े आनन्द के साथ किलक रही हों, या जिसके पत्तों में छिपकर कोयल बोल रही हो।

विशेष—१. समय का नाटकीय एवं संकेतात्मक विवरण।

२. उपमा अलंकार।

उर्वशी

जब से हम-तुम······मैं श्रायी ।

शब्दार्थ—मरुद्‌गति से=बहुत तेजी से। अतीत-गह्वर में=भूतकाल की गुफा में। कल्प=बहुत लम्बा समय (इसे ब्रह्मा का एक दिन बताया गया है, किन्तु मानव-समय के अनुसार इसमें ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष होते हैं।) काल-निशाएं=मृत्यु के समान भयंकर रातें। कामद्रुम-तल=कल्पवृक्ष के नीचे। ललना=नारी।

अर्थ—जब से हम और तुम मिले हैं, तब से न जाने समय को क्या हो गया है, क्योंकि यह बड़ी तेजी से भूतकाल की गुफा में छिपता जा रहा है; अर्थात् बड़ी जल्दी-जल्दी व्यतीत हो रहा है। लेकिन जब तुम्हें देखकर मैं वापिस स्वर्गलोक को गई थी तो यही अजगर के समान सुखद बनकर मेरे प्राणों पर बैठ गया था। सूर्य आकाश में उदय होकर छिपने का नाम भी नहीं लेता था, अर्थात् दिन काटना पहाड़ बन जाता था और रातें तो काल के समान भयंकर होती थीं तथा कल्प के समान बीतती थीं। उन दिनों मैं कल्पवृक्ष के नीचे गरम फूलों पर पड़ी हुई तड़पती रहती थी। लेकिन तुम कभी छिपकर भी मेरी सुध लेने नहीं आये। तुम इतने कठोर निष्ठुर निकले कि स्वयं तो महल में बैठे-बैठे निश्चिंत होकर सुख प्रताप का, यश का, जय का, कलियों का और फूलों का सुख भोगते रहे और मैं तुम्हारे विरह में एकाकी तड़पती रही। अन्त में, तुम मुझे तभी मिले जब मैं नारी की मर्यादा को भंग करके तथा स्वर्गलोक को छोड़कर स्वयं इस भूलोक पर उतर आई।

विशेष—१. मिलन का समय बहुत तेजी से तथा वियोग का बहुत देरी से बीतता हुआ प्रतीत हुआ करता है। इन पंक्तियों में कवि ने इसी मनोवैज्ञानिक सत्य का निरूपण किया है।

२. उर्वशी के द्वारा उपालंभ के कारण इन दोनों प्रेमियों के प्रेम की गंभीरता की ओर संकेत है।

पुरूरवा

चिर-कृत हूं······चली आओगी।

शब्दार्थ—दनुज=राक्षस। वियोजित करके=छुड़ा करके। क्षीरोदधि= दूध का सागर। लालिमा=लाली। भिक्षाटन से=मांगने से। निमित्त= लिए। अन्त:पुर से=भीतर से। अव्यय=अखंड। निकुंज-वीथि=कुंजों की गली। मृषा—झूठ। पारिजात=कमल। संतप्त=वेदनापूर्ण।

अर्थ—तुम मेरे कारण स्वर्गलोक छोड़कर इस भूलोक पर उतर गई, तुम्हारी इसी कृपा के लिये मैं तुम्हारा बहुत-बहुत आभार मानता हू; लेकिन इसके अतिरिक्त मिलन का तुम्हारे लिये और कोई मार्ग भी तो संभव नहीं था। उस दिन राक्षस के हाथों से तुम्हें छुड़ाकर और तुम्हें तुम्हारी सखियों को सौंपकर जब मैं अपने घर वापिस लौटा था तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मेरा शरीर तो किसी प्रकार रथ में पड़कर घर तक आ गया है, किन्तु मेरे प्राण उन्हीं उज्ज्वल मेघों के वन में छूट गए हैं जहां तुम मुझे दूध के सागर में लहर की लालिमा के समान मिली थीं।

कई बार मन में यह इच्छा हुई कि स्वयं इन्द्र से जाकर मैं इस बात को कहूं कि उर्वशी के बिना यह जीवन अब बोझा वन गया है। आपकी बड़ी कृपा होगी, यदि आप उर्वशी को भूलोक पर जाने की आज्ञा दे दें।

लेकिन मेरे मन ने इस मार्ग को स्वीकार न किया। मेरे मन ने कहा कि क्षत्री होकर भीख मांगना उचित नहीं है। और प्रेम भीख माँगने से कभी मिलता भी तो नहीं। यदि इन्द्र की कृपा से मुझे उर्वशी मिल भी गई तो उसके हृदय का द्वार मेरे लिये कौन खोलेगा? मनुष्य के हृदय में बाहर तो सांकल लगी हुई नहीं है कि जब चाहा उसे खोल लिया और हृदय में प्रवेश कर लिया। हृदय-मंदिर का द्वार तो सदैव भीतर से ही खुला करता है; अर्थात् प्रेम भावना का विषय है, थोपे जाने का नहीं।

और कभी-कभी मैंने यह भी सोचा था कि जिस उर्वशी के तन की सुगन्धि से तृप्त होकर तीनों कालों की तथा तीनों लोकों की वायु विकल तथा मस्त होकर बह रही है उस सर्वत्रव्यापिनी सुगन्धि की अखंड एवं अमर शिखा को मैं मर्त्यलोक का प्राणी प्राण की किस कुंज-गली में संजोकर रख सकूंगा, अर्थात मैंने यह सोचा कि मैं उर्वशी की तुलना में बहुत छोटा हूं, इसलिये मेरा उससे प्रेम-व्यापार नहीं निभ सकता।

इसीलिए मैं असहाय बनकर महल में बैठा-बैठा तड़पता रहा। साथ ही मुझे यह विश्वास था कि यदि मेरा प्रेम झूठा नहीं है तो मेरे मन की यह विरह-वेदना आकाश के नीचे, मर्त्यलोक में, नहीं रुक सकेगी। यह बादलों के समूह को भेद कर अवश्य ही कमल के बन में पहुंचेगी। तब यह अवश्य ही तुम्हारे मन को भी वेदना से भर देगी और प्रीति के जगने पर तुम स्वर्गलोक को तजकर निश्चय ही किसी रात को स्वयं ही इस पृथ्वी पर चली आओगी।

उर्वशी

सो तो मैं······अपयश था।

शब्दार्थ—अयस्कान्त=चुम्बक। अयस=लोहा। उद्भ्रान्त=भटकता हुआ। महोदधि=महासागर। बाहु-वलय=बाहु-पाश। विक्रम-तरंग=शक्ति की लहर।

अर्थ—सो तो मैं आ गई, किन्तु मेरा यह आगमन ठीक इसी प्रकार का है जिस प्रकार चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींचकर अपने-से चिपका लेता है। लेकिन इस प्रकार के आने में उस प्रकार का तनिक भी आनन्द नहीं है जो उन वामाक्षी मनस्विनियों को मिला करता है जिन्हें प्रेम से आवेशयुक्त होकर बलवान और विक्रमी व्यक्ति या तो रण में जीत कर लाते हैं, अथवा बल-सहित उनका हरण करते हैं।

नदियाँ स्वयं आकर सागर में मिल जाती हैं, किन्तु सागर उन पर कोई ध्यान नहीं देता। बेला का सौभाग्य जिस चिर-अतृप्त और भटकते हुए महासागर को आलिंगन में भरने के लिए आकुल रहता है, वह महासागर उसकी तनिक भी चिन्ता न करके लहरें मारता ही रहता है।

वही नारी धन्य है तो मानवती और प्रेमिका होते हुए भी अपने प्रेमी के बाहु-पाश में स्वयं खिचकर नहीं आई, बल्कि अपने प्रेमी की विक्रम-लहरों पर चढ़कर आई है, अर्थात् जिसे उसके प्रेमी ने अपनी शक्ति से प्राप्त किया है। यदि आपको इन्द्र से मांगने में अपयश का डर था तो आपने मेरा हरण क्यों नहीं किया ?

पुरूरवा

अयशमूल······पवित्र करता है।

शब्दार्थ—अयशमूल=अपयश के कारण। विकर्म=दुष्कर्म। पर के=दूसरे के। अनायास=सहज ही। ज्या=प्रत्यंचा, धनुष की डोरी। दारुण=कठिन। पुण्डरीक=कमल। मृत्तिजल=मिट्टी और जल। अलिप्त=उदासीन। सलिल=पानी। कर्दम=मिट्टी, कीचड़। इतर=दूसरी।

अर्थ—चाहे हरण हो या भीख, दोनों ही दुष्कर्म हैं और अपयश के कारण हैं। और फिर हरण भी करता तो किसका? क्या उस सौन्दर्य-सुधा का जो देवों के लिए कान्ति थी और इंद्र के मन की शीतलता थी?

मैंने कभी किसी अन्य राजा के मुकुट पर हाथ नहीं बढ़ाया, अर्थात् किसी भी अन्य राजा की स्वतन्त्रता छीनकर मैंने कभी भी उसे परतन्त्र बनाने की कोशिश नहीं की। न किसी की पृथ्वी छीनने के लिए, राज्य छीनने के लिए मैंने कभी संघर्ष किया। तब भी प्रतिष्ठानपुर की वन्दना दूसरे राजा करते हैं, इसकी अधीनता स्वीकार करते हैं। और मेरे राज्य की सीमा दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। इसी प्रकार प्रत्येक सुयश, सुख, विजय और जीवन की सिद्धि की प्राप्ति मुझे सहज ही अपने-आप हो जाती है। यह सब उस भगवान् की कृपा है जिसकी रचना यह गूढ़ सृष्टि है। हम तो केवल धनुष के समान हैं जो डोरी के आधार पर झुका हुआ है और जिस पर किसी अन्य शक्ति की इच्छा के बाण चला करते हैं।

कहने का भाव यह है कि मनुष्य कर्ता नहीं, कर्ता तो अन्य शक्ति (ईश्वर) है जिसके इशारे पर मनुष्य की यही प्रवृत्ति निष्काम कर्मयोग कहलाती है।

मैं मनुष्य हूँ। कामना की वायु मेरे भीतर बहती है। वह वायु कभी प्राणों में सिहरन तथा पुलक जगाती हुई मन्द गति से बहती रहती है और कभी झंझा की भयानक गति को लेकर डालियों को मरोड़ती हुई बहती है। कहने का भाव यह है कि मनुष्य में काम-वासना कभी तो अल्प मात्रा में होती है और कभी बहुत अधिक मात्रा में होती है। काम-वासना का आधिक्य मन के

दीपक का बुझाकर हृदय को अंधकार से पूर्ण बना देता है; अर्थात् इस अवस्था में मनुष्य में उचितानुचित का विचार नहीं रहता। तब काम-वासना मनुष्य के मन के दीपक को बुझाकर अर्थात् उसके ज्ञान को नष्ट करके उसके हृदय को अज्ञान के अंधकार से भर जाती है। लेकिन मनुष्य अज्ञान रूपी अन्धकार के शासन को स्वीकार नहीं करता। वह अज्ञान रूपी तिमिर से संघर्ष करता है और फिर ज्ञान के दीपक जल उठते हैं।

जब रंगों की—विविध सौन्दर्य की—आकुल तरंग हमको अपने वश में कर लेती है तो हम केवल उसमें डूबते ही नहीं, बल्कि उसके ऊपर तैरते भी हैं, अर्थात् मनुष्य सदा सौन्दर्य में डूबा नहीं रहता, बल्कि वह कभी-कभी उससे ऊपर भी उठता है। मनुष्य का जीवन उस कमल के समान है जो मिट्टी और फल में उत्पन्न होता है, किन्तु फिर भी जल में डूबता नहीं, बल्कि जल तथा कीचड़ दोनों से ऊपर उठा रहता है। इसी प्रकार मनुष्य का जीवन प्रेम और अनुराग है, फिर भी वह इनमें हमेशा के लिए नहीं डूबता। वह यथासमय इनसे ऊपर भी उठ जाता है।

दूसरी इच्छाओं तक ही अनासक्ति सीमित नहीं है। अनासक्ति के कारण ही प्रेम में भी थोड़ी-बहुत पवित्रता आती है।

उर्वशी

यह मैं क्या······माला सी।

शब्दार्थ—बाहु-वलय=बाहु-पाश। प्रतिमा=मूर्ति। तिमिर-ग्रस्त=अज्ञान से पूर्ण।

अर्थ—महाराज पुरूरवा की ज्ञान-मीमांसा को सुनकर उर्वशी कहती है कि आपके मुख से मैं ज्ञान और अज्ञान का भेद सुनकर आश्चर्य में डूब गई हूँ। मुझे ऐसा प्रतीत होता है जैसे मैं देवताओं के जग से चल कर फिर से किसी देवता के बाहु-पाश में आकर फंस गई हूं। मैं तो अंधकार की, अज्ञान की, मूर्ति हूं। जब तक तुम्हारा हृदय अज्ञान से भरा हुआ रहेगा तभी तक तुम पर मेरा आधिपत्य रहेगा। और जिस दिन तुम ज्ञान का दीपक जला लोगे, उस दिन तुम मुझे इसी प्रकार त्याग दोगे जिस प्रकार प्रभात में रात की शृंखला समाप्त हो जाती है।

कहने का भाव यह है कि नारी के प्रति मनुष्य को आसक्ति तभी तक रहती है, जब तक उसके मन पर अज्ञान का आवरण पड़ा रहता है। जब यह आवरण हट जाता है तो मनुष्य नारी को त्याग देता है।

विशेष—उपमा अलंकार।

वह विद्युन्मय······खुल जाती हैं ?

शब्दार्थ—विद्युन्मय=बिजली के समान झिकझोर देने वाला। जड़ता=अज्ञानता। निखिल=सब।

अर्थ—हे महाराज ! तुम यह समझते हो कि नारी का स्पर्श बिजली के समान झिकझोर देने वाला अज्ञान है जिसे पाकर शरीर (त्वचा) की नींद टूट जाती है और रोगों में दीप जल उठते हैं, अर्थात् नारी में सिहरन तथा पुलकन पैदा हो जाती है। आलिंगन उस अंधकार के समान है जिसमें बँध जाने पर प्रकाश के महासागर में उतराने लगते हैं और तुम यह भी कहोगे कि चुम्बन उस तिमिर शूल के समान है जिससे अज्ञानता की, तन-मन की समस्त ग्रन्थियां खुल जाती हैं।

यह भी कैसी······भय लगता है।

शब्दार्थ—मधुपूर्ण पुष्प=यौवन से भरी हुई युवती। देहधर्मी=शरीरधारी। फूलों के=रमणियों के।

अर्थ—यह भी कैसी उलझन है कि देवता गन्धों के सूक्ष्म भावों के घेरे से निकल कर यौवन से भरी हुई युवतियों का चुम्बन नहीं ले सकते और इसके लिए वे सदा ललचाते रहते हैं। इसके विपरीत, शरीरधारी मनुष्य रमणियों के आलिंगन को छोड़कर सूक्ष्म भावों के आकाश में उड़ जाने के लिए ललचाते रहते हैं। कहने का भाव यह है कि देवों का प्रेम सूक्ष्म होता है और मनुष्य का स्थूल। देव स्थूल प्रेम के लिए ललचाते रहते हैं और मनुष्य स्थूल को छोड़कर सूक्ष्म के लिए प्रयत्न करते हैं। चाहे तुम यह मान लो कि अनासक्ति के द्वारा भी प्रेम में पवित्रता आती है, किन्तु तुम में मानव-मन की इस द्विधा की झाँकी देखकर मुझे न जाने क्यों भय लगने लगा है ?

तन से……सुनते हो।

शब्दार्थ—विषण्ण=दु:खी। पीयूष=अमृत।

अर्थ—तुम शरीर से तो मुझे अपने दृढ़ आलिंगन में कसे हुए हो, किन्तु मन से दु:खी होकर तुम न जाने मुझसे दूर होकर कहां चले जाते हो? तुम आंखों से आंखों में प्रेम का अमृत बरसा कर मुझे देखते हुए न जाने कहां जाकर खो जाते हो। कभी-कभी मुझे ऐसा अनुभव होता है कि मैं तुमसे जो कुछ कहती हूं उसका आशय तुम्हारे लिए कुछ नहीं होता, तुम केवल मेरे शब्दों को सुनते रहते हो।

क्षण में प्रेम अगाध……कोई कविता हूं।

शब्दार्थ—अगाध=अपार। आलोड़न में=ज्वार-भाटे में। उत्फुल्ल=खिली हुई।

अर्थ—एक क्षण में तो तुम्हारा प्रेम ज्वार-भाटे में समुद्र की तरह अपार हो जाता है और क्षण में ही उसमें इतनी शिथिल शांति आ जाती है, जिसमें वृक्षों के पत्ते तक भी नहीं हिलते। अभी तक तुम्हारी दृष्टि मुझे देखकर इतनी खिली हुई और प्रसन्नता से भरी हुई होती है कि जैसे मेरा तुम्हारा युग-युगों से परिचय हो; और अभी यह भाव तुम्हारे मन में आ जाता है जैसे मैं तुम्हारी गोद में पड़ी हुई कोई युवती नारी नहीं, बल्कि कोई प्रार्थना की कविता हूं।

विशेष—उपमा अलंकार।

शमित वन्हि……जीने देता है।

शब्दार्थ—शमित वन्हि=शांत आग। ज्वलन्त=जलते हुए।

अर्थ—देवताओं की प्रेम की शांत आग तो ज्ञात है ही, किन्तु मनुष्य के जलते हुए प्रेम पर न जाने किसका अंकुश लटक रहा है जो निर्बंध रूप से उसे जीवन का रस छककर नहीं पीने देता और न देवताओं के समान उसे गन्ध के आकाश में जीने ही देता है।

(कहने का भाव यह है कि प्रेम-जगत में मनुष्य की दशा बड़ी ही विचित्र है। वह न तो देवताओं की भांति सूक्ष्म प्यार पर ही निर्भर रह सकता है और न खुलकर स्थूल प्रेम ही कर सकता है।)

पुरूरवा

कौन है अंकुश······निरन्तर भागती है ।

शब्दार्थ—तृषा=प्यास ।

अर्थ—मनुष्य के प्रेम पर किसका अंकुश लगा हुआ है, इसे तो मैं भी नहीं पहिचानता, किन्तु इतना अवश्य जानता हूं कि सरोवर के किनारे कंठ में एक प्रकार की प्यास—वेदना—लगी हुई है (अर्थात् यह बड़े ही दुर्भाग्य का विषय है कि साधन होने पर भी साध्य सिद्ध नहीं हो रहा है ।) मैं जानता हूं कि मनुष्य के जीवन में कोई ऐसी आग लगी हुई है जो न तो शान्त ही होती है और न खुलकर आदमी को खेलने ही देती है, बल्कि खुलकर खेलने से वह निरन्तर दूर भागती रहती है ।

विशेष—विशेषोक्ति अलंकार ।

रूप का रसमय······उद्भ्रान्त हूंगी ।

शब्दार्थ—रूप का=यौवन का । रसमय=आनंदपूर्ण । वन्हि=आग । उद्भ्रान्त हूंगी=भटकूंगी ।

अर्थ—मेरी समझ में नहीं आता कि यह यौवन का आनन्दपूर्ण निमंत्रण है, अथवा मेरे ही खून की आग है जो मुझे शांति से नहीं जीने देती । वह हर समय मुझसे कहती रहती है कि उठो और इस चन्द्रमा को हाथ से धर कर निचोड़ लो । चन्द्रमा का अमृत-पान कर लो, तभी मैं शान्त हूंगी और कभी भी आगे नहीं भटकूंगी ।

√किन्तु रस के पात्र······आलिंगन नहीं है ।

शब्दार्थ—अधर=होंठ । पेय=पीने का पदार्थ । रक्त=शरीर ।

अर्थ—लेकिन ज्योंही मैं रस के पात्र को अपने होठों से लगाता हूं और घूंट या दो घूंट पीता हूं तभी न जाने हृदय के किस कोने से मुझे यह आवाज सुनाई देती है कि हे पुरूरवा ! तू अभी तक भी नहीं समझा कि जो सौन्दर्य केवल दृष्टि का पेय पदार्थ है अर्थात् जो केवल निहारने के लिए है, वह शरीर का भोजन—स्पर्श का विषय—नहीं है । आलिंगन करना सौन्दर्य की पूजा करना नहीं है । भाव यह है कि सौन्दर्य का उपभोग केवल आंखों से करना चाहिए, शरीर-स्पर्श से नहीं ।

विशेष—यही भाव अंग्रेजी की इस पंक्ति में निहित है—

'Beauty is to see, not to touch.'

टूट गिरती हैं······और क्या है ?

शब्दार्थ—अप्रतिम=आश्चर्य-चकित होकर। उद्विग्न—आकुलता से भरा हुआ। पृच्छा=प्रश्न। चिरन्तन=पुराना।

अर्थ—इस शब्द को सुनकर मेरी सारी उमंगें नष्ट हो जाती हैं और मेरी बाहुओं का पाश ढीला हो जाता है। फिर मैं आश्चर्य-चकित होकर उसी दुर्गम सागर में डूब जाता हूं। मेरे मन में फिर से वही आकुलता से भरा हुआ चिन्तन आरंभ हो जाता है, वही पुराना प्रश्न सामने आ जाता है—यदि रूप की आराधना का मार्ग आलिंगन नहीं तो और क्या है ? रस-चुम्बन यदि प्रेम का सौन्दर्य के लिए उपहार नहीं तो यह और क्या है ? कहने का भाव यह है कि यदि प्रेम की चरम-परिणति आलिंगन नहीं है, शरीर का स्थूल भोग नहीं है तो और क्या है ?

रक्त की उत्तप्त······पहचान लूं।

शब्दार्थ—रक्त=खून। उत्तप्त=गर्म। परिधि=सीमा। व्योम=आकाश। रेख=रेखा।

अर्थ—खून की गर्म लहरों की सीमा के पार अर्थात् उत्तेजना के अतिरिक्त यदि कहीं कोई सत्य है, तो मैं चाहता हूं कि उसके भेद का पता लगा लूं। सौन्दर्य की पूजा का मार्ग यदि आकाश में भी है तो मैं वहां से ही उसकी सूनी रेखा को पहचानना चाहता हूं। कहने का भाव यह है कि मैं यह जानना चाहता हूं कि प्रेम की पूजा का क्या मार्ग है। फिर वह मार्ग चाहे जितना कठिन हो, मैं अवश्य उसको प्राप्त करके रहूंगा।

पर जहाँ तक······अम्बर नहीं है।

शब्दार्थ—मृत्ति=मिट्टी, मर्त्यलोक का प्राणी। महदाकाश=विशाल आकाश।

अर्थ—लेकिन चाहे जहाँ तक मैं उड़ूं, इस प्रश्न का कि सौन्दर्य की आराधना का मार्ग क्या है, कोई उत्तर नहीं है। मिट्टी—संसार का प्राणी—

आखिर विशाल आकाश में कब तक ठहर सकता है ? उसके लिए तो सब शून्य ही शून्य है और इस मर्त्यलोक में भी सन्तोष नहीं होता, क्योंकि सांसारिक प्राणी के मन से गंगनचुंबी कल्पनाएँ, उड़ानें कभी दूर नहीं होतीं ।

इस व्यथा को······लौट आता ।

शब्दार्थ—निस्सीमता में=असीमता में । विभ्रांत=भटका हुआ । श्रवण =कान ।

अर्थ—आकाश की इस असीमता में इस पीड़ा को सहन करता हुआ मैं विकल और भटककर घूमता हूं, लेकिन कुछ भी प्राप्त नहीं होता । मेरे मन में जो प्रश्न उत्पन्न होता है वह सब ओर से गगन के सूनेपन में गूँजकर भी वापिस मेरे कानों में लौट आता है ।

और इतने में······स्वच्छन्द मिलते हैं ।

शब्दार्थ—हरित=हरा । कंटकित=रोमांचित ।

अर्थ—और इतने में पृथ्वी का यह गीत सुनाई देता है कि पृथ्वी पर भी ऐसा संसार बसा हुआ है जहाँ पर फूल खिलते हैं । हमारे देवता की शैया हरी-हरी दूब है और यहीं पर फूलों के वे कुंज-मंदिर हैं जहां प्रकृति के शीतल, हरे और एकान्त मंडप में रोमांचित युवती और युवक निर्बंध होकर आपस में मिलते हैं ।

इन कपोलों की······ढली सी ?

शब्दार्थ—ललाई=लालिमा । चंपक-यष्टि-सी=चम्पा की लता के समान । श्लथ=शिथिल । पुष्पाभरण=फूलों के गहने ।

अर्थ—पृथ्वी के गीत में मुझे यह भी सुनाई पड़ता है कि इन कपोलों की लाली देखते हो ? इन अधरों की कुन्द-सी, जूही की कली के समान हँसी देखते हो ? इस गोरी चम्पा की लता के समान, फूलों के गहनों के भार से शिथिल हुई तथा कला के स्वप्न के सांचे में ढली हुई-सी सोने की मूर्ति के समान इस देह को देखते हो ?

विशेष—उपमा अलंकार ।

यह तुम्हारी कल्पना······शृंगार कर लो ।

शब्दार्थ—रूपसी=रूपवती । मधुमास=बसन्त ऋतु । कर्पूर=कपूर ।

कुंकुम=केसर, रोली। कुटज=इंद्र जौ।

अर्थ—पृथ्वी के गीत में मुझे यह सुनाई पड़ता है कि जैसे मेरे लिए सम्बोधित करके कहा जा रहा है कि यह तुम्हारी कल्पना है। अपनी कल्पना को छोड़ो नहीं, बल्कि प्यार से संभाल कर रक्खो। रूपवती नारी इस सृष्टि का सबसे मनोहर चित्र है। ओ आकाश में विचरण करने वाले! यहाँ पृथ्वी पर बसन्त ऋतु की छाया है। इसलिये महदाकाश की कल्पना छोड़कर भूमि पर उतरो और कमल, कपूर, केसर तथा इन्द्रजौ से इस अपार सौन्दर्य का शृंगार कर लो।

गीत आता है······पड़ते त्वचा में।

शब्दार्थ—मदिर=मादक। उल्लास=हर्ष। तरंगित=यौवन की लहरों से भरे हुए। स्वर्णवर्णा=सोने के समान रंगवाली। वल्लरी=लता। त्वचा =खाल; यहां शरीर से तात्पर्य है।

अर्थ—मुझे यह ज्ञान नहीं होता कि यह गीत पृथ्वी से फूटता है या मेरे ही खून का गीत आकाश में गूंजने लगता है। इस गीत के सुनते ही हृदय में बुलबुलों के समान मधुर स्मृतियां फूटने लगती हैं। मादक हर्ष में फूला हुआ बन याद आ जाता है। अंग के रोमांच और कंपन याद आने लगते हैं और सोने के समान रंग वाली लता में फूल की भांति खिलते हुए मुख का स्मरण हो आता है तथा रात्रि की गहनता में उन्माद का सुख याद आने लगता है। तब कामनाएं प्राणों को झिकझोरने लगती हैं और शरीर में चुम्बनों के चिन्ह उभर आते हैं।

फिर किसी का······गाद में।

शब्दार्थ—तृण=घास। पिपासित=प्यासा। अकुंठित=निर्बाध।

अर्थ—इस प्रकार की घटनाओं की याद आते ही मेरे मन की घास फिर किसी का स्पर्श पाने के लिये चीत्कार कर उठती है। लेकिन मैं कहीं भी तो नहीं रुक पाता और शून्य से साकार शोभा के भुवन में प्यासा ही लौट आता हूँ। युद्ध से भागे हुए वेदना से विह्वल उस युवक की भाँति जो कहीं भी नहीं रुकता, बल्कि निर्बाध गति से बेचैन होकर सीधा तीर की भाँति अपनी प्रिया की गोद में जा गिरता है।

विशेष—उपमा अलंकार ।

चूमता हूं······डूब जाता हूं ।

शब्दार्थ—प्रसूनों को=फूलों को । पल्लवों को=पत्तों को । बल्लरी=बेल । निस्तब्धता=खामोशी ।

अर्थ—तब मैं भावावेश में आकर दूब को, जल को, फूलों को, पत्तों को चूमता हूं और लता को बाँह में भर कर हृदय से लगाता हूं । फिर बालकों की तरह तुम्हारे वक्ष में अपना मुँह छिपाकर मैं नींद की खामोशी में डूब जाता हूं ।

नींद जल का······चलना पड़ा हो ।

शब्दार्थ—स्रोत=झरना । श्यामल=काला । वर्तिका-सी=बत्ती के समान ।

अर्थ—नींद पानी का झरना, गहरी छाया, काला मेघ और शीतल पवन के समान है । लेकिन जब मैं जग जाता हूं तो देखता हूं कि मेरी इच्छाएं बत्ती के समान जल रही हैं और वे अभी भी प्यास से व्याकुल होकर उसी प्रकार जल रही हैं जैसे पहले भी वे प्यास से व्याकुल थीं । ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उन्हें रात-भर दीपक के समान जलना पड़ा हो, या नींद में उन्हें किसी मरुदेश में चलना पड़ा हो ।

विशेष—उल्लेख, उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकार ।

फिर क्षुधित······डूब जाती है ।

शब्दार्थ—क्षुधित=भूखा ।

अर्थ—फिर कोई भूखा अतिथि (मन से तात्पर्य है) आवाज देता है; अर्थात् मन में उत्तेजना आ जाती है और फिर चुम्बन के लिए अधर अधर को खोजने लगते हैं । फिर कामना शरीर को छूकर जागृत कर देती है और खून में सोने के सैकड़ों साँप रेंगने लगते हैं । तब चेतना रस की लहर में डूब जाती है ।

और तब सहसा······संगीत सुनता हूं ।

शब्दार्थ—भुज=बाँह । अपलक=निर्निमेष दृष्टि से । उद्‌गम=उत्पत्ति का स्थान । वीचियों से=लहरों से ।

अर्थ—हे उर्वशी ! और तब न जाने कि सहसा मेरा ध्यान कहां पर खो जाता है। यह सत्य है कि उस समय मुझे यह ध्यान नहीं रहता कि तुम कविता हो, कामिनी हो या कुसुम हो। मैं तुम्हें आरती की ज्योति के समान अपनी भुजाओं में लपेट कर एकाग्र मन से तथा निर्निमेष दृष्टि से देखता रहता हूं और तुम्हारे अगम्य रूप की उत्पत्ति के स्थान के विषय में सोच विचार करता हूं। तुम्हारे साँसों में सुगन्धि, रूप में संगीत भरा हुआ है। तुम्हारी साँसों से निकली हुई लहर की भीनी सुगन्धि से मैं अपने प्राणों को सींचता हूं और अंगों की शोभा की लहरों से एकरूप होकर तुम्हारे रंग का संगीत सुना करता हूं।

और फिर यह······बहला रही है ?

शब्दार्थ—वारुणी=शराब। अंक=गोद।

अर्थ—तुम्हारे रूप-रंग में स्वयं को भुलाकर मैं फिर यह सोचने लगता हूं कि न जाने इस समय मैं किस लोक में हूं। यह सघन हरियालियों का वन कौन है जिसमें झूमते हुए फूल तथा लचकती हुई डालियाँ हैं ? (वह देश कौन है जिसकी स्वामिनी मुझे निरन्तर शराब की धारा से नहलाती है; अर्थात् मुझे सदैव मदोन्मत्त बनाये रखती है ? वह जगत कौन है जिसमें अपनी गोद में ज्वालामुखी को समेट कर चांदनी चुपकार बहला रही है ?)

कौमुदी के इस······कहां है ?

शब्दार्थ—कौमुदी=चांदनी। उड्डीन=उड़ान। प्रभंजन=तूफान। उद्दाम=प्रबल। संबल=सहारा।

अर्थ—जब मैं चाँदनी के इस सुनहले थाल का बल तोलता हूं तो मुझे इसके प्रति ऐसा आकर्षण होता है कि मैं एक पल के लिए इसमें उड़ान भरने के लिये अपने पंखों को खोल लेता हूं। लेकिन तूफान इस प्रकार के रस-आमोद में बाधक होता है इसलिए मैं उसकी बाधा के कारण उड़ नहीं पाता और लौटकर फूल की गोद में गिर पड़ता हूं। किसलयों का दाम तोड़े से नहीं टूटता और फूलों की जो लड़ी बँध जाती है वह फिर खोले से नहीं खुला करती। कामनाओं के झोंके मेरी राह रोकते रहते हैं और प्यास (काम-प्यास)

मेरी बांह पकड़ कर मुझे पीछे की ओर खींच लेती है। सागर की तरह से प्रबल मेरा बल भी नहीं है। जिस शक्ति का जय जयकार हर जगह गूंजता रहता है उस अटल शक्ति का सहारा कहां है ?

यह शिला-सा······चलाता हूं।

शब्दार्थ—वक्ष=छाती। आलोक=ज्योति, प्रकाश। समुन्नत=उभरा हुआ। व्याल=सर्प। मारुत=पवन। तूर्य=विजय-शंख। पावक=आग। स्यन्दन=रथ।

अर्थ—मेरी छाती शिला के समान कठोर है, मेरी भुजाएं चट्टान के समान हैं। मेरा उभरा हुआ भाल सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होता है। मेरे प्राणों का सागर अगम, उत्ताल और निरन्तर छलकने वाला है। मेरे सामने सिंह नहीं ठहरते। मेरे भय से पर्वत हिलने लगते हैं। काल रूपी सर्प कुंडली मारकर कांपने लगता है। मेरी भुजाओं में पवन, गरुड़ और गजराज का बल है।

मैं मर्त्यलोक के निवासी मानव की विजय का शंखनाद हूं। हे उर्वशी ! मैं अपने समय का सूर्य हूं। मैं अन्धकार के मस्तक पर अग्नि जलाता हूं और बादलों के सिरों पर रथ चलाता हूं।

कहने का भाव यह है कि मुझमें अपार शक्ति है।

पर न जाने······मुसकान से।

शब्दार्थ—आयुध=शस्त्र। फूल=नारी-सौन्दर्य। बंकिम=तिरछे।

अर्थ—लेकिन मेरी समझ में यह नहीं आता कि यह क्या बात है कि जो पुरुष (मैं) इन्द्र के शस्त्र के कठिन प्रहार को झेल सकता है, सिंह से बांहें मिला कर खेल सकता है, वही नारी-सौन्दर्य के आगे असहाय हो जाता है। और अपार शक्ति के रहते हुए भी निरुपाय हो जाता है। वह तिरछे नयनों के बाणों से आसानी से बिंध जाता है और रूपवती नारी उसे अपनी मुस्कान से जीत लेती है।

मैं तुम्हारे बाण······चाहता हूं।

शब्दार्थ—खग=पक्षी। सर=तालाब।

अर्थ—मैं तुम्हारे बाण के द्वारा बिंधा हुआ पक्षी हूं, इसलिए तुम्हारे ही वक्ष पर अपना सीस रखकर मरना चाहता हूं। (मैं तुम्हारे हाथ का नीला कमल हूं, इसलिए मेरी इच्छा है कि मैं तुम्हारे प्राणों के तालाब में उतर जाऊं।)

कौन कहता है······पाते हैं।

शब्दार्थ—वलय=पाश। गात्र=शरीर। तल्प=शैया।

अर्थ—यह सब झूठ है कि मैं तुम्हें छोड़कर आकाश में विचरण करूंगा। वास्तविकता तो यह है कि तुम्हारी भुजाओं के इस पाश में केवल मेरी देह ही नहीं सोती, बल्कि मेरे व्यग्र और व्याकुल प्राणों को भी यहां विश्राम मिलता है।

मर्त्य नर को······धार है।

शब्दार्थ—मर्त्य=नश्वर। मृषा=झूठ। धूर्णियां=लपटें। दहन=आग। अनल=आग।

अर्थ—नश्वर मनुष्य को देवता कहना झूठ है, क्योंकि देवता तो शीतल होते हैं, जबकि मनुष्य दहकते हुए अंगारे के समान होता है। देवताओं की नदी में ताप की लहरें नहीं उठा करतीं, जबकि मनुष्य के खून में ज्वालामुखी सुलगा करता है, चिनगारियों की लपटें नाचा करती हैं। हवा में पत्तों से आग के टुकड़े नाच-नाचकर उड़ा करते हैं। आदमियों का मन आग की धार के समान होता है जो गलता और पिघलता रहता है।

चाहिए देवत्व······उत्तर नहीं है।

शब्दार्थ—विसर्जित करना=छोड़ना। व्योम=आकाश।

अर्थ—यह सच है कि मैं भी देवत्व चाहता हूं, किन्तु मुझमें जो मानव-सुलभ आग है, उसे कहां पर रख दूं। कामनाओं को किस आकाश में त्याग कर रख दूं। बताओ तो सही कि आग का यह रस-कोष मुझसे कौन ग्रहण करेगा और कौन मेरी आग के बदले मुझे सन्तोष देगा? मेरे इन प्रश्नों को सुनकर दिशाएं फिर से मौन हो गई हैं और फिर उनके पास इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है।

प्राण की······जलते रहो।

शब्दार्थ—वन्हि=आग।

अर्थ—प्राण की इस चिर-संगिनी आग को साथ लेकर भूमि से आकाश तक चलते रहो। इस मर्त्यलोक के प्राणी का यह कैसा दुर्भाग्य है कि जब तक उसे प्रेम की धारा नहीं मिलती, तब तक वह अपनी ही आग में जलता रहता है। कहने का भाव यह है कि मनुष्य को जब तक मनचाहा प्रेम नहीं मिलता, तब तक वह अत्यन्त वेदना से छटपटाता रहता है।

एक हो आशा······तुम्हारी बांह हूं।

शब्दार्थ—सजल=जल से भरी हुई। कादम्बिनी=मेघमाला। ग्रीव=ग्रीवा, गर्दन।

अर्थ—ओ पानी से भरी हुई मेघमाला! इस मरुस्थल की तपन में केवल एक ही आशा है और वह मेरे सिर पर तुम्हारी छाया है; अर्थात् इस जीवन के दुःखों से छुटकारा पाने के लिए तुम्हारे सहारे के अतिरिक्त मेरी और कोई आशा नहीं है। केवल एक ही स्थान पर मुझे सुख मिलता है और वह स्थान है तुम्हारे उर-स्थल से लगना अथवा अपनी गर्दन के नीचे तुम्हारी बांह का होना।

इन प्रफुल्लित······गाना चाहता हूं।

शब्दार्थ—प्रफुल्लित=खिले हुए, प्रसन्न। शाश्वत=अमर।

अर्थ—हे उर्वशी! अपने फूलों के समान खिले हुए प्राणों में तुम मुझे अमर शरण दो क्योंकि मैं गन्ध के लोक से बाहर जाना नहीं चाहता। मैं चाहता हूं कि तुम्हारे रक्त के कणों में समा जाऊं और प्रार्थना के गीत गाऊं।

उर्वशी

स्वर्णदी सत्य ही······स्यन्दन तेरा।

शब्दार्थ—उर्मियां=लहरें। खर=प्रखर, प्रबल। ताप=गर्मी परिताप=दुःख। चटुल=चंचल। कातर=दुःखी। वैश्वानर=अग्नि स्यन्दन=रथ।

अर्थ—उर्वशी महाराज पुरूरवा को सम्बोधित करते हुए कहती है कि निश्चित रूप से वह स्वर्णदी सत्य है जिसमें लहरें नहीं होतीं और प्रखर गर्मी नहीं होती। वही यथार्थ रूप में देवता है जिसके मन में कामना, द्वन्द्व और दुःख नहीं होते। हे जीवन के चंचल वेग ! तू क्यों इतना दुःखी हो रहा है। तू तभी तक पुरुष है, जब तक तेरे भीतर प्रेम की आग जल रही है।

जब तक यह आग शेष है, तभी तक त्रिभुवन तेरा सखा है और तभी तक तेरा रथ पृथ्वी को छोड़कर बादलों के ऊपर चलता है।

जब तक यह······चुम्बन पाने को।

शब्दार्थ—समादर=आदर। अरण्यानी=वन। प्रांशु=ऊंचा।

अर्थ—हे मनुष्य ! जब तक तेरे जीवन में प्रेम की आग शेष है, तभी तक सागर उसका आदर करता है और अपना समस्त मणि और रत्नों का खजाना उसे समर्पित करता है। तभी तक शेर उसका मार्ग नहीं रोकते तथा बन अपने बीच में उसके लिए रास्ता छोड़ देते हैं। तभी तक सामने खड़े हुए अधिकारी तथा ऊंचे पर्वत उसे सिर झुकाते हैं। तब तक ही इन्द्र भी सावधान होकर उसे अपनाने के लिए तैयार रहते हैं और तभी तक उसके अधरों का चुम्बन प्राप्त करने के लिए स्वर्ग से उसके पास अप्सराएं आती हैं।

जब तक यह······घिर जाती है।

शब्दार्थ—द्वन्द्व=संघर्ष। फुल्ल प्रसूनों के=खिले हुए फूलों के। देवालय=मंदिर अथवा स्वर्गलोक।

अर्थ—हे मनुष्य ! जब तक तेरे मन में प्रेम की आग शेष है तभी तक तेरे मन में संघर्ष के भाव उठते हैं। तभी तक बारी-बारी से पृथ्वी और आकाश—भूलोक तथा स्वर्गलोक—सुन्दर दिखाई देते हैं (खिले हुए फूलों के वन में तभी तक मरघट की याद आती है; सूने मरघट को देखकर तभी तक मन में चमेली और जूही की कल्पना साकार हो उठती है। देवालय में तभी तक तुझे सेज की याद जाती है और तभी तक शयनकक्ष में देवता की मूर्ति मन में बसती है।)

किल्विष के मल······जीने आयी।

शब्दार्थ—किल्विष=पाप। मल=कलंक। शुभ्र=पवित्र। अनल-ज्वार =आग का प्रवाह। शोणित=खून। अगुरु=हल्का।

अर्थ—यह प्रेम की शिखा केवल पवित्र आग है, इसमें तनिक भी पाप का कलंक नहीं। यही आग मुझे प्रति क्षण जलाकर और अधिक उज्ज्वल किए जा रही है। इस आग का प्रखर प्रवाह जितना अधिक मेरे खून में उबलता है, उतना ही अधिक मेरा हल्का यौवन दीप्त होकर जलता है। मैं इसी हल्की वेदना की सिहरन को प्राप्त करने के लिए तथा मधुमयी गन्ध पीने के लिए निर्जीव स्वर्गलोक को छोड़कर इस भूमि पर इसी आग को लिए जीने के लिए आई हूं।

बुझ जाय······कहाँ पाये?

शब्दार्थ—मृत्ति का अनल=मर्त्यलोक की प्रेम की आग। दीप्ति=ज्योति।

अर्थ—उर्वशी महाराज पुरूरवा को समझाती हुई कहती है कि हे महाराज! तुम यह चाहते हो कि मर्त्यलोक की प्रेम की आग बुझ जाये, इस बात का तथा स्वर्गलोक का तुमको ध्यान नहीं करना चाहिए। यही आग तो तुम्हें प्रकाश से भरती है, इसलिए तुम्हें इस आग का अपमान नहीं करना चाहिए। तुम इस आग के स्वरूप को नहीं समझ सके हो। इस प्रेम की आग में जिस वस्तु का जन्म होता है, वह देवता तो क्या, इन्द्र के आलिंगन में भी कभी प्राप्त नहीं होती। इस प्रेम के कारण मेरे मन में जो विलकता, व्यग्रता, विह्वलता तथा हर्ष के विविध भाव आ रहे हैं; वे देवताओं की सुन्दरियों को कभी नहीं मिल सकते। स्वर्गलोक में रहने वाली अप्सरा जलते हुए खून का मधुर स्पर्श पा भी कहां सकती है?

वे रक्तहीन······धरने वाला।

शब्दार्थ—रक्त-हीन=खून से रहित; अर्थात् निर्जीव से। शुचि=पवित्र। अम्बरपुर=स्वर्गलोक। लोहित=लाल, खून से भरे। कंदर्प=कामदेव। ललित=सुन्दर।

अर्थ—देवताओं और मनुष्यों की पारस्परिक तुलना करती हुई उर्वशी महाराज पुरूरवा से कहती है कि हे महाराज! देवता निर्जीव-से, पवित्र,

भव्य, स्वर्ग के फूल, शीतल तथा सुन्दर अवश्य होते हैं, किन्तु उनके स्वप्न लोहित संतप्त और प्रखर होते हैं, अतः उन्हें हम किस प्रकार प्रेम का दान दें। इसके विपरीत, मनुष्यों में एक ही साथ शीतलता और आग होती है। वे मन्दिर में साधक व्रती होते हैं तो पुष्पवन में सुन्दर कामदेव के समान होते हैं। वे योगी हैं जो अनन्त, चिन्मय तथा अरूप ब्रह्म को साकार बनाने वाले होते हैं। वे ज्वलन्त योगी बनकर रमणी के मुख पर अधीरता से चुम्बन अंकित करने वाले भी होते हैं।

कहने का भाव यह है कि मनुष्य देवताओं से प्रेम-जगत् में अत्यधिक श्रेष्ठ होते हैं। देवता केवल शीतलता के प्रतीक हैं जबकि मनुष्यों में सम तथा विषम सभी प्रकार के गुण उपलब्ध होते हैं।

मन की असीमता······क्षर-अक्षर भी हूँ।

शब्दार्थ—निबद्ध=बंधे हुए। रसस्विनी=प्रेम-नदी। अमृतनंदन=अमृत के समान आनंद देने वाला। जल-अनल=पानी और आग। मृत्ति-महदम्बर=मिट्टी और विशाल आकाश। क्षर-अक्षर=नश्वर तथा अमर।

अर्थ—मनुष्य के मन की असीमता में नक्षत्र, पिंड, गृह और दिशा तथा आकाश बँधे हुए हैं। तन में प्रेम की नदी की धारा बहती है, जिसमें मिट्टी की सुन्दर और सोंधी सुगंधि बसी हुई है। मानव मानव ही नहीं, बल्कि आनंद देने वाला यह एक अमर लेख भी है। यह एक ही साथ पानी-आग, मिट्टी और विशाल आकाश तथा नश्वर और अमर भी है।

तू मनुज नहीं······खो जाऊँ।

शब्दार्थ—कांति=शोभा। विटपों के=वृक्षों के। महीध्र=पर्वत।

अर्थ—तू मनुष्य नहीं देवता है, इसलिए अपनी शोभा से मुझे मंत्र-मोहित कर ले (क्योंकि देवता मन्त्रों से ही मोहित करते हैं) फिर मनुष्य रूप धारण करके और मुझे उठाकर अपने गाढ़े आलिंगन में भर ले। तुम्हारी भुजा रूपी दो वृक्षों के बीच डूबकर मैं छोटी-सी बेल के समान सो जाऊँ और छोटी लहर के समान टूटकर तुम्हारे हृदय के पर्वत में खो जाऊँ।

कहने का भाव यह है कि मैं तुम्हारे बाहु-पाश में बँधकर अपने को भूल जाऊँ।

विशेष—अपन्हुति और उपमा अलंकार।

आ मेरे प्यारे······सुधा पिलाऊँगी।

शब्दार्थ—तृषित=प्यासा। श्रान्त=थका हुआ। अन्तःसर=मन रूपी तालाब। मज्जित करके=स्नान कराके।

अर्थ—उर्वशी राजा पुरूरवा को सम्बोधित करते हुए कहती है कि हे मेरे प्रेम-प्यास से प्यासे प्रियतम ! तुम थके हुए हो, इसलिए मैं तुम्हें अपने मन रूपी तालाब में स्नान कराके और चांदनी तथा फूलों से सजा करके तुम्हारे मन की गर्मी (दुःख) को दूर कर दूँगी। मैं पानी से भरी हुई बदली बनकर तुम्हें चारों ओर से घेर कर तुम पर छा जाऊँगी और फूलों की छाया के नीचे अपने होठों का अमृत तुम्हें पिलाऊंगी।

कहने का भाव यह है कि मैं तुम्हारे सभी दुःखों का निवारण कर दूंगी।

पुरूरवा

तुम मेरे बहुरंगे······उक्तियों से भी।

शब्दार्थ—मणि-कुट्टित=मणि से काटी अथवा पीसी गई। द्युति=शोभा। भंगिमा-लहर=हाव-भावों की लहर। किलकिंचित=संयोग शृंगार का एक भाव जिसमें नायिका एक बार में कई भाव प्रकट करती है।

अर्थ—राजा पुरूरवा उर्वशी को संबोधित करते हुए कहते हैं कि हे उर्वशी ! तुम मेरे बहुरंगे स्वप्नों की मणि से पीसी गई मूर्ति हो। तुम केवल अपने तन की अत्यधिक शोभा से ही मेरे मन को नहीं हरती हो, बल्कि गति (चाल) में हाव-भावों की लहर से, अपने मधुर स्वर से, अनेक प्रकार के भावों से, गूढ़ दर्शन-चिन्तन से भरी हुई उक्तियों से भी मुझे अपनी ओर खींचती हो।

कहने का भाव यह है कि तुम केवल शरीर से ही सुन्दर नहीं हो, वरन् कामशास्त्र और दर्शनशास्त्र में भी पारंगत हो।

किन्तु अनल की……छा जाती है।

शब्दार्थ—प्रवाल=नव पल्लव। पाटल=कमल। आसुरी शक्ति=काम-वासना।

अर्थ—किन्तु मेरे मन में प्रेम की जो आग दहक रही है, उसकी धधक को तुम्हारे शरीर का सौन्दर्य शान्त नहीं कर सकता। उसे तो केवल तुम्हारे ये दोनों नेत्र ही शान्त कर सकते हैं जिनके शुद्ध, असीम नीले आकाश में प्रवेश करते ही—अर्थात् जिनमें झांकते ही—मन के सारे द्विधा, द्वन्द्व, चिन्ता और भय आदि दुःखद भाव मिट जाते हैं। या नव-पल्लव के समान चमकते हुए तुम्हारे ये अधर दूर कर सकते हैं जिनका चुम्बन लेते ही सारी थकान मिट जाती है और प्राण के कमल खिल उठते हैं तथा तन में फिर से अपार काम-वासना उमड़ पड़ती है।

किन्तु हाय री……ले आती है।

शब्दार्थ—वन्हि=आग। अविच्छिन्न=अटूट। कर्पूरित=कपूर से भरा हुआ। निभृत=अकेला। निलय=स्थान।

अर्थ—किन्तु मनुष्य के शरीर में दौड़ती हुई आग की लहर, जिसे खून कहते हैं और मनुष्य के मन की अटूट वेदना इन दोनों को ही धिक्कार है क्योंकि इनके कपूर से भरे हुए, पागल बना देने वाले सुन्दर और रंगीन कुंए में न जाने मनुष्य को कितनी पुष्पमुखी रमणियों की याद आती है। इस स्मृति के कारण, मादकता की व्याकुल बना देने वाली झंझा के कारण मनुष्य किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो जाता है। वह चाहे जितना सोचे, उसे कोई रास्ता नहीं सूझता है। यदि कभी मनुष्य कुछ देर के लिए किसी एकांत स्थान में जाकर छिप भी जाता है तो शरीर की यही आग उसे फिर से खींच कर मधुवन में—प्रेम के लोक में—ले आती है।

अप्रतिहत यह अनल……मरा करता है।

शब्दार्थ—अप्रतिहत=निर्बाध, लगातार। दाहकता=उष्णता। घूर्णि-चक्र=बवंडर। झंझा=तूफान। दीर्ण-विदीर्ण=चीरते रहते हैं। तिमिर=अन्धकार। क्षुब्ध=व्याकुल। प्लावन-पग=क्रान्ति का अथवा विनाश का

चरण । जगती=संसार । प्रहरी-सेवित=ईश्वर रूपी रक्षक द्वारा रक्षित । दुर्निवार=रोकने में असमर्थ । बन्हि=अग्नि ।

प्रसंग—कवि की विचारधारा के अनुसार मानव शीतल पीयूष-धारा से परे संघर्ष की एक साकार प्रतिमा है । विरह-मिलन तथा सुख-दुःख के द्वन्द्व में जूझते रहना उसे पसन्द है । उसके विशाल वक्षस्थल में संघर्ष, विद्रोह एवं क्रान्ति की आग निर्बाध रूप से जलती रहती है । अतः यहां 'अनल' शब्द मनुष्य के संघर्षशील व्यक्तित्त्व के लिए आया है ।

अर्थ—कवि कहता है कि यह अनल निर्बाध रूप से जल रही है । इसकी घोर उष्णता से तापित होकर (प्रकृति-प्रांगण) के प्रत्येक लता-कुंजों में, जगे हुए कोकिल क्रन्दन कर रहे हैं । (अन्योक्ति अलंकार द्वारा कवि ने कोकिल को पुरुष का रूप दिया है और यह बताया है कि जब प्रेम की आग में तप कर जाग जाता है अर्थात् उर्ध्वमुखी होने लगता है तब उसके हृदय में संघर्ष सा पैदा हो जाता है और वह अपनी इच्छित वस्तु को पाने के लिए क्रन्दन कर उठता है ।) (उसके हृदय में उठे हुए नाना प्रकार के) वात्याचक्र, आंसू (विवशता), पुकार (विनय तथा याचना), तूफान (विद्रोह), आवेग तथा उद्वेलन (अपनी वियोग रूपी) रात्रि के गहन अन्धकार को दीर्ण-विदीर्ण करते रहते हैं और प्रातःकाल (अग्नि से युक्त सूर्य रूपी पुरुष) जब अत्यधिक व्याकुल होकर अपने क्रान्ति के चरणों का विकास करता है तो ईश्वर-रक्षित अथवा धर्म-नैयायिकों द्वारा रक्षित संसार के सभी बंधन चूर्ण-विचूर्ण हो जाते हैं । यह अग्नि अत्यन्त दुर्निवार है । इसकी लौ से मुग्ध तथा संकेतित होकर संसार में बड़े-बड़े तूफान उठते हैं और महाप्रलय का उदय होता है ।

विशेष—पुरुष तथा देवता में भेद्य-भेदक सम्बन्ध दर्शाने वाली यह एक-मात्र अग्नि है । अग्नि तृष्णा, द्वन्द्व, संघर्ष तथा असंतोष की सूचिका है जो पुरुष की मुख्य विशेषता है और देवता शीतल होते हैं । उनमें अग्नि नहीं होती । जब मनुष्य भी इस अग्नि से ऊपर उठकर आभ्यन्तर लोक में पहुंच जाता है तब वह भी देवतुल्य हो जाता है ।

अलंकार—अन्योक्ति ।

उर्वशी

रक्त बुद्धि······रुधिर से।

शब्दार्थ—शोणित=रक्त, खून। निरी=कोरी, केवल। निर्मितियां=रचनाएं, कृतियां। अन्तर=हृदय।

प्रसंग—दिनकर जी ने मानव-अनुस्यूत भावना युत हृदय को रक्त तथा तर्क को बुद्धि माना है। कवि की दृष्टि से आत्मिक चेतना के लिए रक्त ही श्रेयस्कर है, बुद्धि नहीं।

अर्थ—रक्त बुद्धि से अधिक सशक्त और ज्ञानवान (चेतना से स्पन्दित) है क्योंकि बुद्धि का कार्य केवल सोचना है और रक्त अनुभव करता है अर्थात् बुद्धि 'तर्कजाल' में फंसी हुई समस्या है तो भावना उसका समाधान है। कोरी बुद्धि का आश्रय लेकर आज तक जितनी भौतिक वस्तुओं का निर्माण हुआ है वे प्रायः उकठा-काठ के समान निष्प्राण (निस्पंद) सिद्ध हुई हैं। पत्र और पाषाणों पर अंकित जो नाना प्रकार के चित्र और प्रतिमाएं हैं, जिनमें जीवन की सजीव लहर स्पन्दित होती है वह (बुद्धि की) सूझों से नहीं अपितु कलाकार के हृदय में स्रावित होने वाले रक्त की देन हैं।

विशेष—बुद्धि और हृदय में हृदय महान् है। बुद्धि गर्हणीय है। यह भाव कामायनी में बड़े समर्थ शब्दों में प्रकट हुआ है—

बुद्धि, मनीषा, मति, आशा, चिंता,
देख अरी हैं कितने नाम।
अरी पाप है तू जा, चल जा;
यहां नहीं कुछ तेरा काम॥

× × ×

"यह तर्कमयी तू श्रद्धामय।"

क्या विश्वास······नहीं है।

शब्दार्थ—धी=बुद्धि। अमित बार=अनेक बार। छलना=धोखा। तीर्थ-पथिकों=अपने लक्ष्य रूपी तीर्थ पर बढ़ने वाले मुसाफिरों को।

सरलार्थ—इस कल्पनामयी बुद्धि का क्या विश्वास किया जा सकता है?

यह (तर्कमयी बुद्धि) अपने लक्ष्य पर अग्रसर होने वाले पथिकों को प्रवंचना द्वारा ऐसे स्थान पर जाकर छोड़ देती है जिसका कोई अस्तित्त्व ही नहीं होता है।

अर्थ—भाव यह है कि बुद्धि तर्क का विषय है। कल्पना इसका सूत्र है। ठोस धरातल को छोड़कर बुद्धि रूपी अप्सरा अपने कल्पना के लोक में विचरण करने के लिए निकल जाती है। कल्पना की रंगीनियों में वह इतनी बेसुध हो जाती है कि मनुष्य को दिग्भ्रमित करके उसे उसके लक्ष्य रूपी मन्दिर से भटका देती है।

अलंकार—रूपक।

० पर, शोणित······रहा है।

शब्दार्थ—अभिप्रेत=लक्षित, इंगित। प्रसून=फूल। यौवनोत्फुल्ल= यौवन से मदमस्त। विकल-व्यग्र=व्याकुल और उत्सुक। मधुकर=(प्रेमी) भँवरा। रस-आमंत्रण=प्रेम रूपी रस के भोग का निमंत्रण।

अर्थ—लेकिन यह रक्त (हृदय का भाव) जिस क्षेत्र में भी अपने चरण रखता है उस क्षेत्र (दिशा) में वह निश्चय ही (ऐसा लगता है जैसे) कोई सौरभ से युक्त वासन्ती यौवन में विभो पुष्प व्याकुल भंवरे को रस-पान करने का आमंत्रण दे रहा हो।

भावार्थ—भाव यह है कि मनुष्य भावना का आधार लेकर जिस किसी भी कलाकृति (वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत-कला तथा काव्य कला) की रचना करता है उसमें अपने आपको घोल देता है। परिणाम-स्वरूप उस सजीव कृति पर मधुकर रूपी प्रेमी मंडराने लगते हैं क्योंकि उनकी कृति में एक संजीदगी होती है। एक सजीव आत्मा प्रतिबिम्बित होती है। उससे आकर्षित होकर भावुक उसमें डूब जाता है।

अलंकार—अन्योक्ति, उदाहरण।

० या वासकसज्जा······रही है।

शब्दार्थ—वासकसज्जा=वस्त्रों (आभूषणों) से सज्जित रमणी। जोहती =देखती। संकेत-स्थल=प्रेमी-युगल के मिलने का स्थान अर्थात् भावना का

अभिप्रेत स्थल। पद्मरागमणि नूपुर=एक विशेष प्रकार की मणि से निर्मित पायजेब। समुत्सुक=उत्सुक होकर।

अर्थ—अथवा सोलह श्रृंगार किए हुए कोई नायिका (भावना) पुष्पों से निर्मित वाटिका में (हृदय के सहज भाव) किसी की (लक्ष्य) राह जोह रही है। (उसका प्रियतम कहीं अभिप्रेत लक्ष्य न भूल जाय) इसलिये संकेत-स्थल (लक्ष्य) को सूचित करने के लिए पद्मरागमणि की पायजेब (प्रेम का संदेश) बजा रही है (जिससे प्रेमी कहीं बुद्धि के तर्कजाल में न फंस जाय)।

भावार्थ—भाव यह है कि कवि की भावना कला का आवरण पहन कर प्रेम रूपी पद्मपरागमणि की पायल बजाकर भावुक प्रेमी को अपनी ओर आकर्षित करती रहती है जिससे वह बुद्धि के तर्कजाल में फंसकर कहीं भावना की स्पन्दनमयी धरती को छोड़ न बैठे।

अलंकार—सन्देह।

या कोई······सजाकर।

शब्दार्थ—उन्मना=उन्माद से भरी हुई। क्षितिज=मिलन-स्थल। विद्रुम=मूंगा। अरुणाई=लाली। निद्राकलश=उरोज।

अर्थ—अथवा कोई रूपसी (जो प्रेम और प्रिय के मिलन से उत्पन्न लज्जा के कारण) मूंगे के समान लालिमामय हुई अपने चन्द्र के समान मुखमण्डल तथा बेसुध करने वाले अपने उरोजों को सज्जित करके मिलन-स्थल पर प्रणय-सेज सजाकर, उन्मन-सी होकर निर्निमेष दृष्टि से अपने प्रियतम की प्रतीक्षा कर रही है।

अलंकार—उपमा तथा अन्योक्ति एवं सन्देह।

श्रुति-पुट······सकती हैं।

शब्दार्थ—श्रुतिपुट=कान के परदे। उत्तप्त=गर्म। रसना=जिह्वा। अदीपित निश=अंधियारी रात, अमावस। निगूढ़=गहरे।

प्रसंग—कवि दिनकर तर्कमयी बुद्धि तथा भावमय हृदय में स्पष्ट अन्तर दर्शाता हुआ कहता है—

अर्थ—(प्रेमी अथवा प्रेयसी के) कानों के पर्दों पर (भावासक्त)

गर्म-गर्म श्वासों का स्पर्श; (रसमयी) होठों का जिह्वा द्वारा गुदगुदाना, रात्रि के एकान्त एवं गहन तमस में युगल-दम्पति का परस्पर प्रेम में विभोर होकर एक-दूसरे की कोमल त्वचा पर उंगलियों का संचरण करना आदि जो निगूढ़तम प्रेममयी क्रीड़ाएँ हैं वे बुद्धि की सीमा से परे हैं। अर्थात् इस भाव जनित आनन्द का क्या स्वरूप है, बुद्धि इसे समझने में असमर्थ है।

भावार्थ—भाव यह है कि बु का तत्त्व है विचार, कल्पना और तर्क शरीर को एक बुद्धिवादी सृष्टि की रचना के अतिरिक्त कुछ नहीं मानता है वह एक नीरस वैज्ञानिक की भांति उसके स्थूल-तन्तुओं का अध्ययन करता और इसी तर्कजाल में अपने अनमोल जीवन को समाप्त कर देता है। मग दूसरी दिशा में भावप्रवण एवं राग से युक्त हृदय-प्रधान जीव प्रकृति के प्रत्ये अंग में उसकी आत्मा को ढूंढ़ता है। फूल का मुरझाना उसके वासन्ती जीव का पतझड़ एवं बादलों का बरसना उसके विरह का प्रारम्भ है। सृष्टि प्रत्येक पदार्थ में वह अपने हृदय के सुख-दुःख का विस्तार कर देता है औ उनके दुःख से दुःखी तथा सुख से रोमांचित होता है। शैव-दर्शन में इ 'समरसता की पावन भूमिका' कहा गया है।

विशेष—रस के साधारणीकरण में आश्रय और आलम्बन का संयोग आवश्यक नहीं है बल्कि 'उद्दीपन' का भी तदनुकूल होना परमावश्यक है प्रेमी-युगल जब परस्पर मिलें तो वातावरण निस्तब्ध होना चाहिए; एका होना चाहिए। यहां तक कि रात्रि का ऐसा घोर अन्धकार होना चाहिये परस्पर प्रेमी भी एक दूसरे को चर्म-चक्षुओं से न देखकर आभ्यन्तर ने द्वारा उस अमित आनन्द का अनुमान एवं भोग कर सकें। इस दृष्टि **"अदीपित निश के अंधियाले में"** उद्दीपन-विभाव रस-चर्वण में का सहायता देता है।

उसे समझता······पर भी।

शब्दार्थ—दूब=हरी घास। फुनगी=ऊपर की नोक। औचक अचानक।

अर्थ—अचानक ही हरी-हरी दूब के अग्रभाग (फुनगी) के छू

से हृदय में जो एक प्रकार का कंपन पैदा होता है वह तो केवल रक्त ही समझ सकता है (बुद्धि भला इससे उत्पन्न आनन्द की गहराई तक कैसे पहुंच सकती है)।

भावार्थ—भाव यह है कि संवेदनशील जीव जब दूब की फुनगी का स्पर्श पाता है तो उसे भी अपनी प्रियतमा का स्पर्श मानकर रोमांचित हो उठता है इसी को चित्र का विशदीकरण कहते हैं। बुद्धि इसके आनन्द से परे है।

बुद्धि बहुत······चरणों की।

शब्दार्थ—सिकता=सूखी रेत। सिहरित=रोमांचित।

अर्थ—(बुद्धि एवं हृदय की परस्पर तुलना करते हुए कवि कहता है कि) सागर के तट पर फैली हुई सूखी रेत का भी बुद्धि काफी वर्णन करती है अर्थात् उसकी उत्पत्ति एवं उद्भव पर काफी विचार करती है मगर इससे परे जब समुद्र की लहरें उस उत्तप्त सैकत का आलिंगन कर उसे शीतल बनाकर वापिस लौट जाती हैं तब इसका क्या गहरा भाव हो सकता है, इसे तो केवल वही त्वचा जान सकती है जो संवेदनशील एवं रोमांचित होने वाली हो अर्थात् भावप्रवण व्यक्ति सैकत को विरह से उत्तप्त प्रेमी तथा लता को प्रेमिका मानता है। दोनों के परस्पर मिलन से सैकत का शीतल हो जाना उसकी क्षुधा का शान्त हो जाना है। सिहरित करने वाले ऐसे भाव बुद्धिवादी के अन्दर भला कैसे प्रस्फुटित हो सकते हैं।

तुम निरूपते······काँटे हैं।

शब्दार्थ—निरूपते=देखते हो, बताते हो। विराग=वैराग्य, योग। भीषिका=डर। पुण्य-चय=पुण्य का एकत्रीकरण। कुलिश=वज्र।

प्रसंग—इन पंक्तियों में उर्वशी भावतत्त्व की प्रबल महत्ता का निर्णयात्मक उद्घोष करती है। उर्वशी का कथन है कि सभी मार्ग चाहे वे किसी पन्थ अथवा दिशा से जाएँ सत्य का शोध करते हैं। योग की अथवा वैराग्य की भयंकर विभीषिकाएँ हों या प्रेम की पीयूष-धारा दोनों का लक्ष्य सत्य का अनुसन्धान है। अतः मेरी गति तो तप्त शोणित में ही है।

अर्थ—उर्वशी पुरूरवा से कहती है कि तुम मुझे वैराग्य (योग) का उल्लेख कर रहे हो और (उसकी साधना की कठोरता दिखाकर) उसकी विभीषिका सुनाना चाहते हो मगर मेरे लिए तप्त शोणित (प्रेममूलक भावना) ही श्रेष्ठ है (क्योंकि इसका मार्ग सरस है और लक्ष्य उसी सत्य का अनुसन्धान करता है जो योग का कठिन पन्थ करता है।) अतः रक्त की भाषा को पढ़ो अर्थात् प्रेममय हृदय का अध्ययन करो और इसके अन्तर से निकली हुई ध्वनि का विश्वास करो। हृदय से निकली हुई भाषा का उल्लेख मानव को कभी भी भ्रमित नहीं कर सकता। (यह उस) छलना-मयी बुद्धि की भांति नहीं है जो सुख-दुःख से पूरित इस जगत में, जहां सर्वत्र सौन्दर्य स्फुटित होता है, पाप के ही दर्शन करती है और जहां कंकाल, कुलिश और कांटे हैं वहां उसे पुण्य संचयन का उद्भास होता है।

विशेष—इन पंक्तियों में एक प्रकार से प्रेम की उपयुक्तता और योग अथवा वैराग्य की अनुपयुक्तता का घोष है। योग के अनुसार यह विचित्र सौन्दर्य से युक्त सुख-दुःखमयी जगत मिथ्या तथा पापमय है। और योग-साधना के द्वारा अपने शरीर को 'कंकाल', 'कुलिश' अथवा 'कांटा' बना लेना पुण्यों का चयन है। उर्वशी कृष्ण की गोपियों की तरह इस मार्ग की निन्दा करती है और इसी भाव को लक्ष्य करती है कि—"**हमारे सुन्दर श्याम प्रेम को मारग सीधो।**"(भँवरगीत : नन्ददास)

पुरूरवा

द्वन्द्व शूलते······उद्गम की।

शब्दार्थ—द्वन्द्व=सुख-दुःख का संघर्ष। शूलते=दंशित करते हैं। मटमैली =गदली (गुण-दोष से युक्त)। खर=तेज। चटुल= चचल।

प्रसंग—देवता और मनुष्य की परिभाषा बताकर पुरूरवा मानव को, जो संघर्ष के थपेड़ों से टक्कर लेना अधिक श्रेयस्कर समझता है, महान दर्शित करता है। पुरूरवा की दृष्टि में देवता मानवत्व तक पहुंचने की पहली सोपान है।

अर्थ—वास्तव में, मनुष्य वह है जो (अहर्निश) संघर्ष द्वारा दंशित होता रहता है और देवता वह है जो संघर्ष से शून्य है। फिर भी मानव जब इस

धरा पर जन्म लेता है तब सरिता के उद्गम-स्रोत की तरह पवित्र, निर्मल, प्रशान्त, तुम्हारी तरह दिव्य तथा लोकोत्तर होता है मगर आगे बढ़ने पर उसमें और भी विशेषताएं जन्म ले लेती हैं, जैसे मटमैला (सुख-दुःख, आशा-निराशा, विरह-मिलन, योग-वियोग तथा आसक्ति और विरक्ति से मिश्रित मटमैला जीवन) तीक्ष्णता, चंचलता आदि स्रोतों का समावेश। अतः देवों की विशेषताओं के अतिरिक्त मनुष्य में अन्य देवोत्तर विशेषताएं होती हैं, जिनके कारण वह देवों से महान है।

विशेष—मेरी नजर में इस पद की दूसरी पंक्ति दोषपूर्ण है। पंक्ति इस प्रकार है—

"देवी वह जिसके मन में,
कोई संघर्ष नहीं है।"

जबकि होना यह चाहिए था—

"देव वही जिसके मन में,
कोई संघर्ष नहीं है।"

—कारण, मनुज की देव से तुलना की जा रही है। अतः देवी शब्द के प्रयोग से एक तो कविता में लिंग-दोष आ जाता है और दूसरे 'देवी' शब्द की 'मनुज' की तुलना में कोई संगति नहीं बैठती।

रक्त बुद्धि······कलरव में।

शब्दार्थ—अव्यय=अक्षर, शाश्वत। सविता=सूर्य (पूर्ण गुणों से युक्त दिव्य ईश्वर)। माधवी-किरणें=वासन्ती किरणें, काम-जन्य प्रेम की उत्तेजना अथवा आवेग।

अर्थ—प्रेम मूलक भावना बुद्धि से अधिक बलशाली तथा अधिक समर्थ है। परिणामस्वरूप हमारा अपने उद्गम-स्थान (पवित्र, निर्मल तथा शान्त) पर सहज रूप से पुनः लौट आना सम्भव नहीं है (क्योंकि पवित्रता, निर्मलता एवं शीतलता तो भाव मूलक प्रेम तक पहुँचने की प्रथम सोपान है। ये तत्व प्रेम के लिये ठोस धरती का काम करते हैं। दूसरी सोपान है संघर्ष तथा अन्तिम सोपान है—सत्य-रूप प्रेम की आभ्यन्तरिक चरम परिणति)।

(कामजन्य प्रेम की उत्तेजना अथवा आवेग की) वासन्ती किरणें एवं उसके कलरव में इतने अचेत और खो जाते हैं कि उस शाश्वत, सर्वगुण-सम्पन्न पूर्ण-सूर्य (ब्रह्म) तक नहीं पहुंच पाते हैं।

ये किरणें······लगेगा।

शब्दार्थ—सोपान=सीढ़ी। स्यात्=शायद। उर्ध्व=ऊपर। मृत्तिका-विहार=सांसारिक वैभव।

प्रसंग—पार्थिव शरीर एवं मृण्मय जगत आनन्द का चरम लक्ष्य नहीं है। मनुष्य को इनसे बहुत ऊपर उठना पड़ता है। दिनकर जी ने अपनी भूमिका में इस बात को स्पष्ट भी किया है—'**प्रेम की एक उदात्तीकृत स्थिति वह भी है जो समाधि से मिलती-जुलती है। जिसके व्यक्तित्व का देवोपम विकास हुआ है, जिसके स्नायविक तार चेतन और सजीव हैं तथा जिसका मन, स्वभाव से ही उर्ध्वगामी और उड्डयनशील है, उसे काम के स्पर्श मात्र से इस समाधि का बोध होता है।**

"तत्पाणिस्पर्शसौख्यं परमनुभवति सच्चिदानन्दरूपम्
तत्रासीत् बाणभिन्ना रमणरतिपतेः योगनिद्रां गतेव।"

मनुष्य के इस द्वन्द्व का, साकार से ऊपर उठकर निराकार तक जाने की इस आकुलता अथवा ऐन्द्रियता से निकलकर अतीन्द्रिय जगत में आंख खोलने की इस उमंग का प्रतीक पुरूरवा है।"

अर्थ—प्रेम के क्षेत्र में मनुष्य के लिए ये किरणें (सांसारिक ज्ञान का प्रकाश) तथा फूल (सांसारिक पार्थिव सुख) ही अन्तिम सीढ़ी नहीं है। प्रेमी को इस सीमा से बहुत ऊपर उठकर तारों के देश (शून्य) में जाना होगा। कवि का अनुमान है कि आकाश के इस उर्ध्वलोक पर पहुंच कर मनुष्य को दिव्य किरणों वाला सांसारिक वैभव हीन लगेगा।

विशेष—उपरोक्त पंक्तियों में 'उर्ध्व' तथा 'अम्बर' द्रष्टव्य हैं। कवि ने प्रतीक योजना का आश्रय लेकर 'उर्ध्व' को हृदय के उदात्तीकरण तथा अतीन्द्रियता का प्रतीक माना है एवं 'अम्बर' हृदय का प्रतीक है। साहित्य में 'प्रतीकवाद' का बड़ा महत्त्व है। सफल कवि प्रतीक योजना द्वारा ही अपने

भावों का सूक्ष्म वर्णन करता है। 'हिन्दी साहित्य कोश' में प्रतीकवाद की व्याख्या इस प्रकार है।

"……किसी अन्य स्तर की समान रूप वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तर के विषय का प्रतिनिधित्व करने वाली वस्तु प्रतीक है। अमूर्त्त, अदृश्य, अश्रव्य, अप्रस्तुत विषय का प्रतीक प्रतिविधान मूर्त्त, दृश्य, श्राव्य, प्रस्तुत विषय द्वारा करता है। (जैसे उपर्युक्त पद में हृदय के उदात्तीकरण के लिए 'उर्ध्व' तथा 'अम्बर' का प्रतीक लिया गया है।)……साहित्य और कला के क्षेत्र में प्रतीकवाद एक विशिष्ट भावधारा का आन्दोलन और अभिव्यक्ति है……प्रतीकीकरण मनुष्य का सहज स्वभाव होता है……प्रतीकों की दो विशेषताएं होती हैं—(i) प्रतीक सदा किसी न किसी मध्यस्थ प्रकार के व्यापार का प्रतिनिधि होता है। (ii) प्रतीक शक्ति को घनीभूत कर देता है।…मनुष्यों का समस्त जीवन प्रतीकों से पूर्ण है।…हास्यवादियों ने प्रतीकों का विपुल प्रयोग किया है।…प्रतीक कई कार्य कर सकते हैं—१. किसी विषय की व्याख्या करना, २. उसको स्वीकृत करना, ३. पलायन का पथ प्रस्तुत करना, ४. गुप्त या दमित अनुभूति को जागृत करना और ५. अलंकरण या प्रदर्शन का साधन होना।"

"दाह मात्र……करती है।"

शब्दार्थ—उद्वेलित=उफनना, उछलना। अनल रुधिर में=भावों में उष्णता।

प्रसंग—वैसे तो कवि नैसर्गिक प्रतिभासम्पन्न होता ही है मगर उसके भावस्रोत को 'कान्त' एवं द्विगुणित करने के लिए किसी महत्त्वपूर्ण साधन को अपना पार्ट अदा करना पड़ता है। यहां पर कवि दिनकर नारी के उदात्त प्रेम से कवि का जन्म मानता है। बात ठीक भी है। नारी भावरूपा है और कविता की शैया पर भी भावों का आसन विराजता है अतः मानव की सूक्ष्म बुद्धि और नारी की भावना से कवि का काव्य कमनीय हो उठता है।

अर्थ—प्रेम केवल जलन मात्र नहीं है। यह (जीवन्त) अमृत-शिखा भी है। जब कोई नारी पुरुष को लालायित नेत्रों से देखती है तब उसके भावों

में उष्णता और उद्वेलन ही नहीं आता अपितु वह उसके हृदय में किसी 'कान्त कवि' को भी जन्म दे देती है।

विशेष—केशवदास ने अपनी कविप्रिया (४ : २) में कवियों के तीन भेद किए हैं—१. उत्तम, मध्यम और ३. अधम। यथा—

उत्तम, मध्यम अधम, कवि, उत्तम हरि रस लीन।
मध्यम मानत मानुषनि, दोषनि अधम प्रवीन॥

हमारी दृष्टि में उपरोक्त भूमिका में जिस कान्त कवि का जन्म होता है वह मध्यम कोटि अथवा 'मानुषनि' कोटि का कवि कहलाता है जो धीरे-धीरे अन्तर्मुखी होकर उत्तम कवि की कोटि तक पहुंचने का प्रयास करता है।

नट समेट······झंकारों में।

शब्दार्थ—स्थूल=पार्थिव। आभा-तरंग=प्रेम की ज्योति। कवि-क्रीड़ा =प्रेम के भावों का सूक्ष्म आख्यान।

प्रसंग—इन पंक्तियों में कवि दिनकर साधारण मनुष्य के पार्थिव प्रेम तथा कवि के भाव-निर्मित प्रेम का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहता है—

अर्थ—जहां मनुष्य नारी की स्थूल देह को ही अपनी भुजाओं में समेट कर आनन्द का अनुभव करता है। वहां कवि नारी के आन्तरिक सौन्दर्य को अपनी भाव-तूलिका से रंगकर आनन्द की कीड़ा करता है। और जिस समय मनुष्य किसी नारी के कोकिल-कंठ का स्वर सुनकर बेसुध हो जाता है उस समय कवि उसके स्वर में निहित भीतरी रूप की उज्ज्वल झंकृति में अपने आपको लीन कर लेता है।

विशेष—वैसे तो कवि भी मनुष्य ही होता है। उसे कोई सुरखाब के पर नहीं लगे होते हैं। मगर दोनों में एक तात्त्विक भेद है, जिसको दिनकर ने ऊपर की पंक्तियों में स्पष्ट किया है। साधारण मनुष्य भौतिकवादी होता है। वह अपने एक विशिष्ट दृष्टिकोण से वस्तु तत्व की व्याख्या करता है। इसीलिए '**आचार्य मम्मट**' ने कवि की कविता को "**नियति के नियमों से रहित, दूसरे की वश्यता से रहित तथा नव रसों से सुशोभित**" माना है। कवि के सम्बन्ध में '**अग्नि पुराण**' का यह श्लोक दर्शनीय है—

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ।।
नर चाहता······करता है ।

शब्दार्थ—सदेह=देह-सहित । अतिक्रमण=लांघ जाना ।

अर्थ—मनुष्य नारी को पार्थिव शरीर-सहित अपने हृदय में बिठाना चाहता है जबकि कवि नारी के उस सदेह रूप का अतिक्रमण करके (अदृश्य प्रेम पर पहुंचने की याञ्चा करता है) ।

विशेष—इस सम्बन्ध में 'उर्वशी' की भूमिका का एक स्थल द्रष्टव्य है—
"कला, साहित्य और विशेषत: काव्य में भौतिक सौन्दर्य की महिमा प्रखण्ड है । फिर भी, श्रेष्ठ कविता, बराबर, भौतिक से परे भौतिकोत्तर सौन्दर्य का संकेत देती है, फिजिकल को लांघ कर 'मेटा-फिजिकल' हो जाती है ।"

"कवि, प्रेमी······सत्ता से ।"

अर्थ—कवि तथा प्रेमी की समानता का वर्णन करते हुए दिनकर जी कहते हैं कि कवि तथा प्रेमी एक ही तत्त्व है अर्थात् दोनों में समान विशेषताएँ हैं । अपनी प्रेयसी के आन्तरिक सौन्दर्य पर तो दोनों ही मुग्ध रहते हैं मगर देहवादी-प्रेम से वे कोसों दूर हैं । (पार्थिव प्रेम की सीमा को छोड़कर दोनों) अपने प्रेम को भावना के सूक्ष्म तन्तुओं से जोड़ लेते हैं । प्रेमिका की सभी सुषमाओं एवं दृश्यों का सम्बन्ध अविगत एवं अदृश्य सत्ता से स्थापित कर लेते हैं ।

विशेष—प्रेमी तथा कवि का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है । विद्वानों का कहना है कि प्रेमी की गणना कवि की कोटि में की जानी चाहिये । कारण, सच्चा प्रेमी प्रेमिका के पार्थिव शरीर एवं स्थूल-इन्द्रियजन्य प्रेम से परे हटकर उससे आत्मिक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है । उदाहरण के लिये लैला-मजनू का किस्सा लीजिये । लैला भैंस की तरह काली थी मगर फिर भी मजनू उसे अनिंद्य सुन्दरी समझकर अप्सराओं को भी उसके सामने तुच्छ समझता था । लैला का सात्त्विक आत्मा का सौन्दर्य ही उसके लिये सर्वस्व था । और यही मूल तत्त्व कवि में विद्यमान है । अतः कवि और प्रेमी में तात्त्विक समानता है ।

देह प्रेम······करता है।

शब्दार्थ—रुधिर-त्वचा=मांस-पेशियां। प्रसरित=फैली हुई। गुह्य-लोकों=छिपे हुए लोक में, अनुभूति। विभासित=चमकने वाले। अव्यक्त कमल=आभ्यन्तरिक कमल, जो शाश्वत रूप में वासन्ती रहता है।

प्रसंग—जिस प्रकार एक भक्त भगवान की एक प्रतिमा को ध्यान की भूमिका बनाकर आत्मोन्मुख होता है उसी प्रकार कवि अथवा प्रेमी को भी सूक्ष्म प्रेम को पाने के लिए एक ठोस धरती बननी पड़ती है। वह ठोस धरती है—नारी की देह। इसी से कवि अथवा प्रेमी प्रेम की प्रथम सोपान पर कदम रखता है और धीरे-धीरे वही पार्थिव सौन्दर्य उनकी दृष्टि में व्यापक रूप धारण कर लेता है। तभी वास्तविक आनन्द की सृष्टि होती है।

अर्थ—कवि तथा प्रेमी के लिए शरीर प्रेम की जन्म-भूमि है। अर्थात् उनके हृदय में प्रेम-शिशु का जन्म नारी की देह से ही होता है। मगर उनके विचरण के लिए लीला-भूमि का क्षेत्र मांस-पेशियों तक ही सीमित नहीं है। इसकी सीमा-भूमि काफी विस्तृत है जो मन के गहन एवं रहस्यमयी लोकों तक फैली हुई है। (इस गुह्य लोक में पहुंच कर) कवि अथवा प्रेमी चर्म रूप से परे हटकर अरूप सौन्दर्य का मनन करता है। ऐसी अवस्था में जब पुरुष नारी के प्रत्यक्ष जाज्वल्यमान मुखमण्डल को देखता है तथा उस मुखमण्डल में वह किसी दिव्य तथा अव्यक्त कमल के दर्शन करता है और उस शाश्वत कमल के सौन्दर्य के समक्ष नतमस्तक हो जाता है।

विशेष—प्रेम के अध्याय में उपरोक्त पंक्तियां बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। इस पद्यांश में **'मन के गहन, गुह्य लोकों में'** तथा **'दिव्य, अव्यक्त कमल'** शब्द दर्शनीय हैं। प्रथम अंश का अभिधेय 'सच्ची अनुभूति' एवं दूसरे का 'हठयोग' की साधना से है। मन का गहन एवं गुह्य लोक केवल हृदय की अनुभूति है। **"मनोविज्ञान में यह एक आन्तरिक क्रिया है जो बाह्य परिणाम उत्पन्न नहीं करती।······अनुभूति सुखात्मक भी हो सकती है और दुःखात्मक भी। साहित्य के क्षेत्र में कई प्रकार की अनुभूतियों का वर्णन होता है। यथा—१. काव्यानुभूति, २. रसानुभूति, ३. भावानुभूति, ४. प्रातिभ अनुभूति, ५. विलक्षण अनुभूति, ६. रहस्यानुभूति, ७. समानानुभूति, ८. सौन्दर्यानुभूति**

एवं ६. सहानुभूति।" उपरोक्त पंक्तियों की अनुभूति 'काव्यानुभूति' के अन्तर्गत आती है जिसमें लौकिक सुख-दुःखात्मक प्रेम सूक्ष्म एवं गुह्य रूप धारण कर लेता है।

'दिव्य अव्यक्त कमल' हठयोग की शब्दावली है। मेरुदण्ड में छः चक्र माने गये हैं, जिन्हें आकार की समता के कारण 'कमल' कहा जाता है। जैसे मूलाधार चक्र, स्वाधिष्ठान चक्र आदि। इन छः चक्रों को बेधकर कुण्डलिनी अन्तिम चक्र में पहुंचती है, जिसमें सहस्रदल है। इसलिए इसे सहस्रार चक्र या कमल कहते हैं। इसी को शून्यचक्र, गगनमण्डल आदि भी कहते हैं। इसमें शिव का वास होता है। इस अवस्था में चित्त निर्लिप्त हो जाता है। भक्त, प्रेमी तथा योगी के इस सोपान पर पहुंचने के मार्ग अलग-अलग हैं। प्रेमी इसे प्रेममूलक भावना तथा योगी कठोर साधना से प्राप्त करता है।

जगता प्रेम······गगन भी।

शब्दार्थ—लोचन=नेत्र। तरंग-निभ=प्रखर उमंग। एकदेही=एक शरीर वाली। वायव्य=वायु-सम्बन्धी, स्वाति-नक्षत्र।

अर्थ—सबसे पूर्व प्रेम आंखों में पैदा होता है। उसके पश्चात् मन में प्रखर-तरंग पैदा होती है। सर्वप्रथम प्रेमी को प्रेमिका एक शरीर वाली दिखाई देती है (मगर धीरे-धीरे उसके चित्त का विकास होता है और प्रेमिका का स्वरूप) सम्पूर्ण संसार में व्याप्त हो जाता है अर्थात् प्रेमी जगत के स्थावर-जंगम पदार्थों में केवल उसी का रूप-दर्शन करता है। पहले प्रेम में शरीर के स्पर्श से आनन्द का भोग किया जाता है मगर तदुपरान्त उससे उद्भूत रोमांच से चिन्तन का जन्म होता है। इस प्रकार पूर्वावस्था में प्रेम कठोर धरती है (जिसमें प्रेम का बीज जन्म लेता है और पल्लवित होता है) और उसके पश्चात् हृदयाकाश में वायु के समान प्रसरित होकर व्यापक रूप धारण कर लेता है। (इस प्रकार समष्टिगत प्रेम के लिए पहले व्यष्टिगत प्रेम की परमावश्यकता है। ये परस्पर अन्योन्याश्रित हैं)।

अलंकार—रूपक, अन्योक्ति, स्वभावोक्ति।

मुझमें जिस······तुम्हारी ।

शब्दार्थ—निरभ्र=बादलों से रहित । आभा-उर्मियां=प्रेम रूपी ज्योति की लहरें ।

अर्थ—पुरूरवा उर्वशी से कहता है कि पार्थिव देह से परे तुमने मेरे अन्दर एक 'रहस्य-चिंतक' को भी जन्म दे दिया है । मेरा वह 'भावुक' रहस्य-चिंतक निरभ्र (द्वन्द्व-रहित) आकाश में उड़ना चाहता है। यह (रहस्य-चिंतक) अपनी स्निग्ध विभा से तुम्हें चारों तरफ से घेर रहा है अर्थात् अपने आलिंगन-पाश में बद्ध कर रहा है और मेरे इस 'रहस्य-चिंतक' हृदय में तुम्हारी अलक्ष्य उज्ज्वल लहरें समा रही हैं ।

विशेष—इस पद्यांश में **'रहस्य-चिंतक'** शब्द द्रष्टव्य है। यदि केवल यही शब्द होता तो सम्भवतः इसका सम्बन्ध निर्गुण ब्रह्म से हो जाता । मगर दूसरी पंक्ति में एक 'भावुक' शब्द भी है । अतः इसका तात्पर्य हुआ 'प्रेम-परक रहस्य-चिंतक' । 'रहस्य-चिंतक' अपरोक्ष अनुभूति द्वारा सत्य, परमतत्त्व अथवा ईश्वर के समान अपने प्रेमी का साक्षात्कार करता है । रहस्यानुभूति सम्भवतः मनुष्य की श्रेष्ठतम एवं उदात्ततम अनुभूति है। 'रहस्य-चिंतक' किसी जाति, धर्म या देश विशेष में सीमित नहीं रहता । उसकी मर्मानुभूति की असीमता और चिरन्तनता देश-काल के परे है । मनुष्य की यह प्रवृत्ति अद्वितीय है । यह उसको सामान्य जीवन के विषयों से विमुख एवं विरक्त कर देती है । इस अवस्था में रहस्यदर्शी एक नूतन और असीम आनन्द से आक्रान्त और अभिभूत, एक अनन्त सुहृद शिव और सुन्दर तत्त्व में निमज्जित, मुक्त और पवित्रीकृत आनन्द का अनुभव करता है । ऐसी मर्मानुभूति में एक अलौकिक ज्योति अथवा रूपों के दर्शन होते हैं । 'रहस्य-चिंतक' के इसी स्वरूप का हृदयग्राही चित्रण उपरोक्त पंक्तियों में हुआ है ।

वह अंबर······अपने में ।

शब्दार्थ—अम्बर=आकाश, यहां पर इसका अर्थ होगा 'हृदयरूपी आकाश' । पावस=वर्षा का जल अर्थात् प्रेम का संघर्षकालीन समय । नीलिमा शरद की=शुभ्र एवं सात्त्विक हृदय । निरभ्र=बादलों से रहित । समाहित=अन्तर्निहित ।

प्रसंग—प्रेम की प्रथम भूमिका में उत्सुकता एवं संघर्ष आता है। प्रेमी-साधक जब इस अवस्था को लांघ जाता है और उसके हृदयाकाश में प्रेम की चिन्मय ज्योति समा जाती है तब वह सुख-दुःख से परे हटकर शाश्वत आनन्द की सोपान पर अधिष्ठित हो जाता है। ऐसे क्षण में साधक को उसकी प्रिय-तमा ईश्वररूपा एवं प्रेम की ज्योतिपुंज लगती है। एक मुस्लिम शायर के शब्दों में—

मेरे महबूब की शक्ल,
खुदा जैसी है।
मुहब्बत की मुहब्बत है,
इबादत की इबादत (पूजा) है॥

अर्थ—(मेरे हृदय रूपी) आकाश से (सुख-दुःख रूपी) पावस-ऋतु उतर चुका है। अब तो इस आकाश में नहाई-धोई शरद्-ऋतु की नीलिमा (प्रेम की उज्ज्वलता) प्रतिभासित हो रही है। मेरे इस निरभ्र आकाश में तुम चन्द्रमा के समान शीतल बनकर प्रकाश-प्लावन में तैर रही हो और मैं किरण के रूप में तुम्हारे अमित ज्योति-पुंज में समाहित हूं।

विशेष—"**किरण रूप······अपने में**"—इस पंक्ति से प्रेमी (पुरूरवा) तथा प्रेमिका (उर्वशी) का परस्पर '**अंश-अंशी भाव**' स्पष्ट होता है। आचार्य बल्लभाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद सिद्धान्त के पुष्टिमार्ग के अनुसार हम सब अंशी (ब्रह्म) के अंश हैं। यहां पर उर्वशी चन्द्रमा है तो पुरूरवा उसकी एक किरण है जिनका जन्म-जन्मान्तर तक अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। आत्मा-परमात्मा के अंश-अंशी भाव को निर्गुण कवियों ने तो विस्तार से वर्णित किया ही है मगर संस्कृत में तथा आधुनिक कवियों के काव्य में भी इसकी कमी नहीं है। यथा—

"वायुर्यथैको भुवनं प्रतिष्ठो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव:।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा,
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥"

—नारद-सूत्र

*

× × ×

"दरियाव की लहर दरियाव है जी,
दरियाव ओ लहर भिन्न कोयम।
उठे तो नीर बैठता नीर है,
कहो किस तरह दूसरो तोयम।"

--कबीर

× × ×

"तुम तुङ्ग हिमालय शृंग,
मैं चंचल गति सुरसरिता।
तुम विमल हृदय उच्छ्वास,
मैं कान्त कामिनी कविता।"

—निराला : तुम और मैं

'अम्बर' तथा 'पावस' आदि शब्दों में 'श्लेष' तथा 'अन्योक्ति' एवं 'चन्द्रमा-सी' में 'उपमा अलंकार' है।

वह नभ······क्षुधा को।

शब्दार्थ—नभ=आकाश (हृदय)। अम्बर=वस्त्र (रजोगुणी एवं तमोगुणी आवरण)। क्षुधा=प्यास।

अर्थ—पुरूरवा कहता है कि मेरे हृदय रूपी आकाश से, जो रहस्यमयी आभा से परिपूर्ण है, रजस एवं तमस के आवरण विलीन हो गये हैं और अधरों की प्यास उदात्त भावना से शान्त हो गई है तथा रक्तानुभूति की मानसिक तीव्रता भी शान्ति के पथ पर आरूढ़ हो गई है।

विशेष—उक्त पद्यांश में नायक के अपने मन में हुई भावनाओं का स्फीतिकरण दर्शित होता है। पुरूरवा लौकिक भावनाओं के प्रति वैराग्य तथा अलौकिक प्रेम की व्यापकता को महत्त्व देता हुआ दीख पड़ता है।

'नभ' और 'अम्बर' शब्दों में 'पुनरुक्तवदाभास' अलंकार है। मम्मट ने अपने काव्य-प्रकाश में इसकी परिभाषा इस प्रकार की है—

"पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा एकार्थतेव।"

—मम्मट : काव्यप्रकाश : उल्लास ९ : २१७

यह निरभ्र······नारी है ।

शब्दार्थ – निरभ्र=बादलों से रहित, स्वच्छ । निर्विकल्प=विकल्प रहित, निश्चित । सुषमा=सौन्दर्य । प्रतिमान=प्रतिरूप ।

प्रसंग—नायक पुरूरवा भावनाओं के उदात्त रूप को व्यक्त करते हुए स्त्री और पुरुष के लौकिक रूप की अपेक्षा अलौकिक रूप को महत्व देते हुए लौकिक शरीर और लौकिक बुद्धि से ऊपर उठकर 'आत्मतत्व' की ओर अग्रसर हो रहे हैं ।

अर्थ—पुरूरवा कहते हैं कि उस स्वच्छ आकाश (हृदय) में, जहां कलुषित कल्पनाओं का सर्वथा अभाव है और विशुद्ध सौन्दर्य कूट-कूट कर भरा हुआ है वहां न तो वह वासना प्रधान पुरुष, पुरुष है और न नारी, नारी । अपितु ये दोनों इस पुराण पुरुष परमेश्वर के प्रतिनिधि के रूप हैं जिसे प्राप्त करने के लिये देहाध्यास और बुद्धिवाद के बन्धनों को तोड़कर मानव **'आत्मचेतना'** के चौराहे पर पहुंच जाता है । अर्थात् जिस आत्मचेतना से आत्मज्ञान की पृष्ठ-भूमि पर अनात्म में आत्मभ्रांति का मिथ्याभिमान ध्वस्त हो जाता है और उस सही रास्ते का पूर्ण ज्ञान हो जाता है जिससे मानव को मानव होने का लक्ष्य प्राप्त हो जाता है । निदान वह 'अन्नमय' व 'प्राणमय' कोश से निकल कर 'मनोमय कोश' में चला जाता है ।

ऊपर जो······अतिक्रमण है ।

शब्दार्थ—द्युतिमान=आलोकवान, प्रकाशवान । मनोमय=अन्तश्चेतना से ओत-प्रोत, पंचकोशों में एक भेद । अतिक्रमण=सीमा का उल्लंघन ।

प्रसंग - पूर्वोक्त पद्य के प्रसंग में ही पुरूरवा कह रहे हैं कि हम शरीर-सत्ता के मोह-बन्धन को तोड़कर किस प्रकार आत्मसत्ता से सम्बन्ध जोड़ सकते हैं । इसी भाव को यहां दार्शनिक शब्दावली द्वारा व्यक्त किया गया है ।

अर्थ—उन्नत पथ पर अग्रसर होने वाले मानव के लिए जो उज्ज्वल, प्रशस्त 'मनोमय' जीवन झलक रहा है उसे यदि हम उपलब्ध करना चाहते हैं तो विषय-वासना से बंधे हुए 'अन्नमय' और 'प्राणमय' कोशों में विशेष रूप से संश्लिष्ट इस पांच-भौतिक स्थूल शरीर के मोह, परिपालन और संतोषण

की लौह-प्राचीर को भंग करना पड़ेगा, तब कहीं हमें प्रकाशपूर्ण 'मनोमय जगत' की झलक मिलेगी।

विशेष—शरीर-विज्ञान के आधार पर पांच कोश माने गये हैं जो मोक्ष-प्राप्ति की सोपान हैं। दार्शनिक शब्दावली में उनके नाम इस प्रकार हैं—१. अन्नमय, २. प्राणमय, ३. मनोमय, ४. विज्ञानमय तथा ५. आनन्दमय कोश।

"'मनोमय कोश' का निर्माण १० इन्द्रिय + मन + पंच-तन्मात्राओं सहित १६ तत्त्वों के संगठन से होता है। यह विशेष रूप से 'क्रिया प्रधान' कोश है।

यद्यपि यह मानव-देह सब कोशों का आधार तथा धारक है किन्तु 'अन्नमय' तथा 'प्राणमय' कोशों के विज्ञान मात्र से ही मोक्ष नहीं मिल जाता। मोक्ष-प्राप्ति में साक्षात्-हेतु तो विवेक-ज्ञान है। यह निर्विवाद सर्वतन्त्र सिद्धान्त है।"

—**स्वामी व्यासदेव** : Science of Soul : **पृष्ठ १८७**

"तन का······बिला रही है।"

शब्दार्थ—सुरंग = सुन्दर। वातायन = गवाक्ष, झरोखा। अदृश्य = अक्षि-प्रत्यक्ष से परे, परोक्ष। मृत्ति = पार्थिव। बिला = विलीन, अन्तर्भूत।

अर्थ—जब हम शारीरिक मोह को अतिक्रमित कर जाते हैं जो इन दोनों नेत्रों के 'दूरवीक्षण-यन्त्र' से उस अप्रत्यक्ष ज्ञानमय मूल सत्ता-रूप परब्रह्म को भांप लेते हैं जहां इस पार्थिव जगत की चकाचौंध अथवा मोहक गति-विधि शान्तिपूर्ण वातावरण से ओत-प्रोत परब्रह्म में विलीन होती हुई दिखाई देती है। अर्थात् मानव लौकिक मोह-जाल से ऊपर उठकर अलौकिक ब्रह्म की प्रेम-मयी गलियों में भ्रमण करने लगता है।

"तन का······इंगित करते हैं।"

शब्दार्थ—मांसल = मांस-प्रधान। आवरण = पर्दा। गोपन = छिपाना। इंगित = संकेत।

प्रसंग—पुरूरवा शरीर के मोह-त्याग की बुद्धि का वर्णन करते हुए स्पष्ट करते हैं कि हमें अपनी आंखों के सामने से वह परदा हटा देना चाहिये जिससे हमारी दर्शन-शक्ति वास्तविक पदार्थ के दर्शन में असमर्थ हो जाती है और जहां हृदय की अपेक्षा चर्मचक्षु ही अधिक क्रियाशील रहते हैं और 'अस्थि

चर्ममय देह में' अधिक प्रेम मानते हैं। यही नहीं वे लौकिक प्रेम-प्रधान चर्म-चक्षु निराकार शब्द-ब्रह्म को सुनने वाले कर्ण-कुहरों को भी अपना अक्रीत दास बना लेते हैं जिनसे उन प्रेम-कथाओं के श्रवण करने में और लौकिक-प्रेमपूर्ण भावों को भरने में उनका वे सहयोग देते हैं तथा इतने प्रभावित हो जाते हैं कि स्पष्ट रूप से अपने भावों को व्यक्त नहीं कर सकते और नेत्रों के इशारे पर ही नाचते हैं।

अर्थ—मनुष्य को इन्द्रिय-जनित आस्वादों से हटकर तथा अपने सम्पूर्ण मांसल आवरण हटाकर अपने अन्तश्चक्षुओं से अपने वास्तविक हृदय को, जिसमें प्रेम की पवित्र, निश्चछल एवं शाश्वत पीयूष-धारा बहती है, देखना चाहिये। कानों से, बाहरी शोर को हटाकर उन भावों का श्रवण करना चाहिए जो प्रत्यक्ष जगत में ध्वनित नहीं होते अपितु जिनका ध्यान न केवल आभ्यन्तरिक श्रवण-गह्वरों से ही सम्भव है तथा उनका संकेत भी इतना रहस्यमयी होता है कि पार्थिव शरीर इसे बोध करने में असमर्थ है।

जो कुछ······जगती है।

शब्दार्थ—अटकल-अनुमान-सदृश=आंख मींचकर अन्दाजा लगाना। लंघित=अतिक्रमित। अन्तरस्थ=भीतर में बैठा हुआ।

प्रसंग—पुरूरवा तन और मन के ताने-बाने से बने हुए जगत की आस्थाओं को मिथ्या सिद्ध करते हुए अर्थात् बाह्य जगत का खण्डन करते हुए आभ्यन्तर जगत की मान्यता का विश्लेषण कर रहे हैं।

अर्थ—नायक कहता है कि हमने तन और मन की लौकिक गति-विधियों से जो कुछ भी समझा है, निर्मित किया है और सांसारिक भावनाएँ बनाई हैं वे सब टिकाऊ प्रतीत नहीं होतीं। वह हमारा ज्ञान तो 'अंधों' के हस्ति-ज्ञान के सदृश अटकल-पच्चू एवं अनुमान सा लगता है। इस घूर्णाक्षर न्याय में हमारी सर्वथा आस्था नहीं है। इसलिये तन-मन के बने हुए ताने-बाने के जटिल जाल को तोड़कर हमें किसी भी उपाय से उस अंतर्लोक में विचरण करना होगा जो तन और मन के इस लोक से बहुत दूर है तथा जिस अध्यात्म लोक में कल्पनाओं का अभाव है और बुद्धि-जनित शंकाओं की इतिश्री है। अर्थात् जो सर्वथा भय एवं चिन्ताशून्य, आशंका रहित निर्द्वन्द्व लोक है।

विशेष—इसी लोक की रूपरेखा उपनिषदों में निम्न प्रकार से की है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकौ,
नेमा विद्युतो भाति कुतोऽयमग्नि ।

'कामायनी' में भी इस ब्रह्म-लोक का अत्यन्त हृदयग्राही चित्रण किया गया है—

शापित न वहाँ है कोई,
तापित व्यक्ति न जहां है ।
जीवन वसुधा समतल है,
तुम अशेष······सौन्दर्य तुम्हारा ।

शब्दार्थ—अशेष सुन्दर=सर्व सुन्दर। कोर-मात्र=अंश रूप। विराट छवि=परब्रह्म की झलक। जलदों=मेघों। पटल=परदा। मधुकान्तिमान =सुरम्य, शोभाशाली।

प्रसंग—अतथ्य, लौकिक-सौन्दर्य की अपूर्णता से विरक्त पुरूरवा अलौकिक और पूर्ण सौन्दर्य के जगत की कल्पना करते हुए उर्वशी को सम्बोधित करके कहते हैं कि यदि मैं तुम्हारे इस अपूर्ण सौन्दर्य को, जो कि उस पूर्ण सुन्दर ब्रह्म का कण मात्र है, ब्रह्म रूप में देख सकूं तो अपने आपको मैं परम सौभाग्यशाली समझूं।

अर्थ—पुरूरवा कहते हैं कि हे उर्वशी ! तुम्हारे सौन्दर्य पर मुझे पूर्ण आस्था है, परन्तु वस्तुतः यदि पारमार्थिक दृष्टि से देखा जाय तो यह तुम्हारा सौन्दर्य उस विराट सत्ता के पूर्ण सौन्दर्य की अल्प सी झलक है जो अज्ञान से घिरी हुई होने के कारण मुझे प्रत्यक्ष दृष्टिगत नहीं हो रही है। अब मैं उस सौन्दर्य को पूर्ण रूप से देखने के लिये इन लौकिक व्यामोह के बादलों को हटाना चाहता हूं जिससे उस प्रेम रूप ब्रह्मलोक में तुम्हारे मधुर एवं उज्ज्वल सौन्दर्य को अविकल रूप में देख सकूं।

विशेष—'विशिष्टाद्वैत' सिद्धान्त के अनुसार लेखक ने उर्वशी तथा ब्रह्म में अंश-अंशी भाव दिखाने का प्रयास किया है।

"विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार तीन नित्य तथा स्वतन्त्र पदार्थ हैं—परमात्मा (ईश्वर), चित् (जीव) और अचित् (प्रकृति)। परमात्मा अन्तर्यामी रूप से जीवन और प्रकृति में विद्यमान है। वह अंगी (अंशी) है और जीव तथा प्रकृति उसके अंग (अंश) हैं। 'ईश्वर अंश जीव अविनासी' (तुलसी) चित् और अचित् से विशिष्ट परमात्मा ही एकमात्र सत है। चित् और अचित्, द्रव्य तथा गुण दोनों हैं। परमात्मा सगुण द्रव्य है। उसमें सजातीय और अजातीय भेद नहीं हैं क्योंकि वह एक और अद्वितीय है। पर चित् और अचित् के गुण भी होने के कारण स्वगत भेद है। ईश्वर का चित्-अचित् के साथ जो सम्बन्ध है वह विशेषण सम्बन्ध है। इसकी पारिभाषिक संज्ञा अपृथक् सिद्धि है।" —हिन्दी साहित्यकोष : विशिष्टाद्वैतवाद : ७२२

मध्यान्तर······आभा से।

शब्दार्थ—मध्यान्तर=बीच में। अनुलंघ्य=अनतिक्रमणीय, न लाँघने योग्य। प्रभा=प्रकाश। सुवर्ण-सेतुक=सुनहरा पुल। उद्भासित=प्रतिबिम्बित, प्रतिफलित। भूतरोत्तर=पृथ्वी से ऊपर।

अर्थ— शरीर और आत्मा के बीच में जो खाई है वह ऐसी नहीं है जिसे पार न किया जा सकता हो। (शरीर और आत्मा के इस रिक्त स्थान को) ज्ञान के प्रकाश से संयोजित किया जाता है। अर्थात् ज्ञान के इस पुल का माध्यम इन दोनों की दूरी को जोड़ने वाला एकमात्र साधन है। शारीरिक मोह का त्याग इसलिये आवश्यक है कि हम जगत के स्वर्णिम लेकिन झूठे स्वप्नों से निकल कर उत्तरोत्तर जग में अपनी आत्मा का विकास करके उज्ज्वल जीवन के अधिकारी बन सकें।

विशेष—'सुवर्ण-सेतुक' में **रूपक** (निरंग) अलंकार है। यहां **'सुवर्ण-सेतुक'** शब्द दर्शनीय है। इस शब्द से संसार की उस मोहक छटा को लक्षित किया है जिसके आकर्षण में फंस कर मानव की बुद्धि जड़-पदार्थों पर अपने उद्धार की आस्था कर बैठती है। यहां सम्भवतः पुरूरवा का अभिप्राय उर्वशी के स्वर्णाभ कलेवर से है जो उसके लिये बन्धन का एकमात्र कारण है और जीवन की उदात्त भावनाओं को विगलित करने वाला है।

सुनें......झरते हैं।

शब्दार्थ—अशब्दित=अध्वनित। गोपन=प्रच्छन्न, अप्रकट। समाधि-कानन=ध्यानावस्था। कालद्रुम=समय रूपी वृक्ष। नीरव=शान्त।

प्रसंग—काल-चक्र के आरों में पिसे हुए सांसारिक प्राणियों की अनुभवशीलता के इतिहास को दृष्टि में रख कर पुरूरवा भविष्य के जीवन को उज्ज्वल बनाने की उद्भावना व्यक्त करते हैं—

अर्थ—अब हमें स्वान की अस्थि के स्वाद-सम संसार के मिथ्यास्वाद को छोड़कर उस सच्चे आनन्द का आस्वादन करना चाहिए जिसका आभास हमें अभी तक नहीं है। हम उन अध्वनित विचारों को सुनें जिनमें ज्ञान का सरोवर लहरा रहा है और उन गुप्त रहस्यों को पहचानें जिन्हें समाधिस्थ होकर काल-कल्पद्रुम से फूलों की तरह अपनी सुगन्ध विकीर्ण करते हुए रस से परिपूर्ण ग्रहण कर सकते हैं। अर्थात् समय की गति ने हमें यह अनुभव प्रदान किया है कि भविष्य में अपने जीवन को उत्तम बनाएँ; सांसारिक निम्नताओं से ऊंचे उठें और उन अपठित पाठों को पढ़ें, जो लोकोत्तर, कल्याणकारी, पुष्प-सम सुगन्धित एवं शाश्वत सरस हैं।

विशेष—'समाधि-कानन' तथा 'काल-द्रुम' में 'रूपक' तथा 'कुसुम-सदृश' में 'लुप्तोपमा' अलंकार है।

यह अतिक्रान्ति......जाना है।

शब्दार्थ—अतिक्रान्ति=अभ्युत्थान। आलिंगित=संश्लिष्ट। अन्तरात्मा=आध्यात्मिक तत्त्व।

अर्थ—नायक कहता है—यह सांसारिक सुख-भोगों से उपराम स्त्री-पुरुष के लिए वियोग की अवस्था नहीं है किन्तु केवल देह-मात्र के मोह से ऊपर उठकर अध्यात्म तत्त्व की ओर अग्रसर होना है। अर्थात् सांसारिक कूप-मण्डूकता से मुक्त होकर आध्यात्मिक जगत के मुक्त वायुमण्डल में विचरण करना है जो नर और नारी—दोनों के लिए ही प्रशस्त-कल्याण-पथ है। जीवन का क्रम-प्राप्त अभीष्ट भी है।

यह प्रदान······रहे हैं।

शब्दार्थ—विमुग्ध=मोहित करने वाले। प्रक्षेपित=फेंकता है। बिम्बों=अक्स, प्रतिच्छाया।

अर्थ—शरीर-सीमा से परे हटकर पुरूरवा को जो आत्म-रूप की प्रतीति होती है उसका मनोवैज्ञानिक वर्णन करते हुए कवि कहता है—पुरुष जब अपनी प्रेयसी को विमुग्ध नेत्रों से देखता है तो उसके हृदय में नेत्रों के रास्ते अपने आत्म-तत्त्व का प्रवेश करा देता है, इसी प्रकार नारी की मौन शोभा-शाली अपार प्रतिच्छाया भी नारी के हृदय से निकल कर पुरुष के हृदय में घर कर लेती है।

(भाव यह है कि चर्म-सौन्दर्य से परे भी एक सौन्दर्य है जो नारी और पुरुष की आत्मा का सौन्दर्य कहा जाता है। प्रेमी-प्रेमिका शारीरिक-दाम्पत्य योग से उसे न पाकर आत्म-तत्त्वज्ञता से ही पा सकते हैं। इससे ऊपर वाले पद की पंक्ति—"**देह-धर्म से परे अन्तरात्मा तक उठ जाना है।**" इस भाव को अधिक सशक्त रूप में स्पष्ट करने में समर्थ है।)

यह अतिक्रान्ति······प्रणयिनी नारी।

शब्दार्थ—अतिक्रान्ति=अतिक्रमण, अभ्युत्थान। प्रशस्ति=स्तुति-पाठ। छलना=प्रवंचना। उपत्यकाओं=पर्वत की ऊपरी भूमियों। नगपति=हिमालय। तुंग=उच्च। शिवा=पार्वती। प्रणयिनी-प्रेमिका।

अर्थ—यह अतिक्रमण अर्थात् मनुजत्व से ऊंचे उठकर देवत्त्व की ओर बढ़ना—दो प्रेमियों की वियोगावस्था नहीं कहला सकती अपितु मानव के सांसारिक उत्तापों से तपे हुए रक्त का स्नेहसिक्त शान्त परिवर्तन है। या यूँ कहिए कि अनन्त प्रकाश प्रदान करने वाले दीपक की लौ में स्थिर परिणति है। यह (अतिक्रमण) मानव-प्रेम की कोई निन्दा नहीं है अपितु देवत्त्व की ओर बढ़ने के कारण उसकी स्तुति है। इस क्रिया से मानव को ठगा नहीं जा रहा है अपितु ऊँचे लक्ष्य को समर्पित किया जा रहा है। प्रस्तुत परिस्थिति के त्याग में किसी प्रकार की प्रेम-हानि की गन्ध नहीं है परन्तु 'अनन्त' में अपना मानवीय प्रेम संजोने के कारण अतुल प्रेम का संचय

है। यह अतिक्रमण (प्रेमोत्कर्ष) हिमालय की तराई में अंकुरित हुए फूलदार पेड़ों को जड़ से फुनगी तक उन्नत करके हिमालय के उच्च शिखर पर पहुँचाने का सद्-प्रयत्न है। अर्थात् महामहिम हिमालय (मानव के लिए ईश्वर) अपने अजस्र जल-स्रोत से समुत्पादित पादप-समूह को (मानव-समाज को) निम्न-स्तर से उठाकर उन्नत पद पर स्थित करने की भावना का प्रतिपादन किया गया है। इसीलिए प्रत्येक प्रेमी तथा प्रेमिका स्थाणु-प्रेम का अतिक्रमण करके जब कैलाश-प्रान्त (आनन्द का स्रोत) में पहुँच जाता है तो शिव और (प्रेमी) कल्याण करने वाली एवं शक्ति प्रदान करने वाली परम प्रेम रूपा पार्वती (प्रेमिका) के समरूप हो जाती है।

विशेष—शास्त्रों में ऐसा लिखा है कि मनुष्य जब तक स्वयं अपने को ब्रह्म न समझने लग जाय तब तक ब्रह्म-तेज की तेजस्विता से तेजस्वी नहीं बन सकता। कहा भी है—**'ब्रह्म भूत्वा ब्रह्माणं यजेत्'** और **'शिवः केवलोऽहं'** अथवा **'अहं ब्रह्मास्मि'** आदि श्रुति-महावाक्य कवि के इसी भाव की शास्त्रीय पुष्टि करते हैं।

पर······मधुवन का।

शब्दार्थ—दुःसाध्य=कठिन। उड्डयन=उड़ान। मधुसिक्त=मधुरता से सने हुए, अर्थात् मानव-सुलभ वासनाओं की चिपकन से चिपके हुए।

अर्थ—उन्नति-पथ की ओर बढ़ना कितना दुःसाध्य है, इसका अनुमान लगाते हुए कवि कहता है कि मानव की अपनी भौतिक आकांक्षाओं को त्याग कर मुक्ति नगर की यात्रा करने में कितना असमर्थ है। वह मार्ग उसके लिए कितना कठिन है। यह मानव इसलिए उस प्रशस्त पथ पर आगे नहीं बढ़ सकता क्योंकि उससे उदात्त-भावना रूपी पंख पुष्पों के भीने-भीने मकरंद से भीगे हुए भंवरों के पंख की तरह चिपके हुए होने से उड़ान भरने में असमर्थ होते हैं। यदि साहस बटोर कर मानव उन्नत-पथ पर बढ़ने का प्रयास भी करता है तो भौतिक आकर्षण उसे अध-बीच में ही रोकने का प्रयत्न करते हैं। यद्यपि ये सांसारिक सुख आपाततः रमणीय हैं तथापि इनका आकर्षण उन्नति-पथ का अवरोध करने में पर्याप्त सक्षम है। वह इस प्रकार से मानव

को आकृष्ट करने की चेष्टा करता है जैसे भ्रमर को पुष्प की भीनी-भीनी गन्ध और मधुर मकरन्द का आस्वाद ।

देह प्रेम की······प्रगति का ।

शब्दार्थ—शैशवस्थली=बचपन की भूमि, अपरिपक्व ज्ञान की अवस्था । दूर देश=उर्ध्वलोक । प्रेम=सांसारिक प्रेम ।

अर्थ—प्रेम की जन्मभूमि यह शरीर ही है । अतः ज्ञान की अपरिपक्वता के कारण हम आनन्द-लोक में जाने में असमर्थ रहते हैं । यह सांसारिक मोह हमें बीच में ही जकड़ लेता है । इस प्रकार यह लौकिक प्रेम उर्ध्व-प्रगति में बाधक है ।

उर्वशी

अतिक्रमण······आयी हूँ ।

शब्दार्थ—उद्वेलित=आलोड़ित । मधु=आनन्द-रस (इन्द्रिय-जनित) । शीत-महिमा=देवताओं का शीत गुण । पारिजात-द्रुम=कल्पवृक्ष । "देवलोक का एक वृक्ष जो समुद्र-मंथन में प्राप्त हुए चौदह रत्नों में माना जाता है । यह इन्द्र को मिला था । पुराणों के आधार पर लोगों का कहना है कि यह मनोवांछित वस्तु को देने वाला है । एक कल्प तक इसकी आयु मानी गई है ।" (हिन्दी कथाकोष : पृष्ठ ३१) । अकंप=स्थिर । चपलोष्ण=चंचल तथा उष्ण ।

प्रसंग—देवताओं का मुख्य गुण शीतलता होता है । इन्द्रिय-जनित भोग की याञ्चा उनमें नहीं होती । धरती के जीव, इसके विपरीत, चपल तथा उष्ण होते हैं । जहां वह वैराग्य की बात करता है वहां उसमें देवत्त्व तथा जहां वह संघर्ष एवं द्वन्द्व में अभिरुचि रखता है वहां मनुज तत्त्व के दर्शन होते हैं । उर्वशी देवलोक की शीतलता से ऊब कर इस उर्वरा धरती पर उतरी थी । मगर जिस पुरुष पुरूरवा के क्रोड़ में उर्वशी ने अपने आपको समर्पित किया था, अब वह भी वैराग्य, इन्द्रिय-शमन तथा उर्ध्वलोक की बातें करने लगा है । अतः प्रत्युत्तर में उर्वशी कहती है कि—

अर्थ—हे पुरूरवा ! क्या इन्द्रिय-जनित अमित आनन्द का अतिक्रमण सुख की तरंग है ? (यह तुम क्या कह रहे हो ?) मुझमें तुम जिस शीत

महिमा को जगा रहे हो उसे तो मैं देवलोक में कल्पवृक्ष की अकंप शाखा पर टांग आई हूं। अर्थात् तिलांजलि दे आयी हूं और चपल तथा उष्ण मानवी के समान बनकर ही इस धरती पर जीने आई हूं। (अतः आप मेरे सम्मुख इस देवलोक या उर्ध्वलोक की महिमा का गान मत करो। अपने मानवी-रूप में ही मुझसे प्रेम करो)।

पर, मैं······चुम्बन से।

शब्दार्थ—उर-पीड़क=हृदय को पीड़ा देने वाले। अधर-पुट=दोनों ओष्ठों को।

प्रसंग—मनुष्य का यह जन्मजात स्वभाव है कि वह किसी के रोकने से नहीं रुकता। इससे तो इसकी गति द्विगुणित हो जाती है। मगर विनय तथा याचना के सम्मुख वह अपना समर्पण अवश्य कर देता है। इस मानव-तत्त्व को मनोवैज्ञानिक रूप से समझ कर उर्वशी कहती है—

अर्थ—हे प्रियतम ! आप भूतल पर रहिए या आकाश पर; (अपने चित्त को स्थूल एवं भौतिक आनन्द में लगाइए या अन्तर्मुखी होकर देवत्त्व को प्राप्त कीजिए), कहीं भी रहिए, मैं आपके लक्ष्य में बाधक नहीं बनना चाहती। लेकिन मेरी एक याचना अवश्य है कि अपने वक्षस्थल पर मेरा कपोल इसी भांति रहने दो और इसी प्रकार मेरे हृदय को कसमसाने वाले दृढ़ आलिंगन में कसे रहो तथा अपने कठोर चुम्बन से मेरे ओष्ठ-द्वय को जलाते रहो।

किन्तु, आह······दारुण है।

शब्दार्थ—निष्पेषित=घिसना, रगड़ना। निष्पेषण=रगड़।

अर्थ—(उर्वशी की ऐसी प्रेमसिक्त वाणी सुनकर पुरूरवा में पाशविक रूप उभर कर सामने आ गया। वह उर्वशी को अपने आलिंगन पाश में बुरी तरह जकड़ कर उस कली को बुरी तरह मसलने लगा। आखिर बुरी तरह कलमला कर उर्वशी को कहना ही पड़ा—) आह ! ऐसा मत करो ! अपनी भुजाओं को थोड़ा सा शिथिल करो। यद्यपि भावोद्रेक में किया हुआ यह निष्पेषण हृदय में एक मर्मान्तिक शान्ति तथा अमित आनन्द का उदय करता है मगर फिर भी तुम इतनी जोर से मुझे निष्पेषित (रगड़ो) मत करो !

तुम पर्वत······जाऊंगी।

शब्दार्थ—बलवत्तर=बलवान। क्षाम=कृश।

अर्थ—हे प्रियतम! यदि तुम पर्वत हो तो मैं उसके चारों तरफ लिपटी रहने वाली लता हूं। यदि तुम अपनी बलवत्तर भुजाओं से मेरा इतनी जोर से निष्पेषण करोगे तो मैं तुम्हारी दृढ़ भुजाओं में ही विह्वल, प्रेम-रस से व्याकुल एवं कृश होकर मूर्छित हो जाऊँगी।

विशेष—कवि ने प्रेमी तथा प्रेमिका की पर्वत तथा लता से संगति बिठाई है। वह न तो तर्कसंगत है न श्लाघनीय है और न ही यथागुण। पर्वत के सामने लता का उपमान तो ऊंट के मुँह में जीरे वाली बात हो गई। यदि पर्वत के स्थान पर तरु का उपमान दिया जाता तो अधिक श्लाघनीय होता क्योंकि लता वृक्ष से ही लिपटती है, पर्वत से नहीं। इस प्रसंग में '**प्रसाद जी**' तथा '**श्री ओमप्रकाश शर्मा**' के निम्न उद्धरण अधिक प्रशंसनीय हैं—

मैं जभी तोलने का करती,
उपचार, स्वयं तुल जाती हूं।
भुजलता फंसा कर नर-तरु में,
झूले सी झोंके खाती हूं।"

—प्रसाद : कामायनी

× × ×

"वर्षों से बिछुड़े अधरों का निश्चल चुम्बन,
रसवती लता का तालवृक्ष से आलिंगन।"

—ओमप्रकाश शर्मा

ना, यों नहीं······पर।

शब्दार्थ—कौतुक=नजारा। नगपति=हिमालय। उत्तुंग=ऊंची। शृंगों=चोटियों। मौलि=भाल, मस्तक। मृगांक=चन्द्रमा। उष्णीष=पगड़ी। छायाताप-कुट्टिम=छाया एवं चांदनी का (रंगबिरंगा) फर्श।

अर्थ—(पुरूरवा के शारीरिक प्रेम का उद्दाम वेग देख कर उर्वशी कुछ घबरा सी गई है। वह अपने प्रियतम का ध्यान अपने से हटाकर प्रकृति की

सुषमा की ओर खींचना चाहती है। यह चित्रण भी शृंगार-रस के '**उद्दीपन**' में अधिक वृद्धि करता है)। ना। ऐसा मत करो! अर्थात् इतने कठोर आलिंगन-पाश में मुझे मत जकड़ो, अपनी तरफ से प्रेमी का ध्यान हटाकर उर्वशी कहती है कि देखो, उधर कितना सुन्दर दृश्य है। हिमालय की ऊंची-ऊंची, समुज्ज्वल तथा हिम-भूषित चोटियों पर यह कौन है जो नई उज्ज्वलता की कूंची सी फेर रहा है? (यहां चन्द्रमा चित्रकार है तथा उसकी शीतल एवं समुज्ज्वल किरणें तूलिका के समान हैं)। (देखो,) कुछ वृक्षों के हरित भाल तथा पत्तों से छनती हुई चन्द्रमा की किरणें नीचे छाया देखकर उन पर लेट सी गई हैं। (यहां उद्दीपन का चर्मरूप प्रतिभासित हो रहा है)। यह धूप-छाँह की जाली चंद्र-चांदनी ने स्वयं ही निर्मित की है। ऐसा लगता है मानो काले और सफेद संगमरमर के फर्श पर बन के सारे वृक्ष पीताम्बर पगड़ी बांध कर निष्कंप एवं मौन खड़े हैं।

विशेष—उपरोक्त पंक्तियों में रति भाव का उद्दीपन करने के लिए 'उद्दीपन विभाव' का हृदयग्राही चित्रण है। प्रमुख संस्कृत एवं हिन्दी के आचार्यों के आधार पर 'उद्दीपन विभाव' की शास्त्रीय परिभाषा इस प्रकार है—

"उद्दीपन विभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये,
आलम्बनस्य चेष्टाद्या: देशकालादयस्तथा।"

—विश्वनाथ : साहित्यदर्पण : ३ : १३१।

अर्तात् रस को उद्दीप्त करने वाली आलम्बन की चेष्टादि तथा देशकाल को स्थितियां उद्दीपन विभाव है।

'आचार्य देव' के अनुसार—

रसहि जगावै दीप ज्यों,
उद्दीपन कहि सोइ।

—देव : भावविलास : विभाव।

भाव यह है कि आश्रय के हृदय में उत्पन्न रति आदि स्थायी भावों को अधिकाधिक उद्दीप्त तथा तीव्र करने वाला कारण उद्दीपन विभाव कहा जाता है।

"आलम्बन की चेष्टा तथा देश, काल आदि को उद्दीपन विभाव माना जाता है। —हिन्दी साहित्य कोश : उद्दीपन विभाव : १३७।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

दमक रही······लगता है।

शब्दार्थ—कर्पूर-धूलि=(चांदनी रूपी) कपूर की धूल। दिग्वधुओं= दिशा रूपी वधुओं। आनन=मुख। रजनी=रात (नायिका)। अधित्यका= पर्वत की चोटी, उच्च-प्रदेश। कौमुदी=चांदनी। मही=धरती। व्योम= आकाश।

अर्थ—(रति-भाव की परिपुष्टि के लिए उपरोक्त 'उद्दीपन-विभाव' का ही चित्रण किया जा रहा है। उर्वशी कह रही है कि) दिशा रूपी वधुओं के मुखों पर मानो कपूर की धूलि, जिसका वर्ण श्वेत होता है, चमक रही है। (रात एक नायिका के समान है जो प्रेम की गन्ध से सुवासित है, अतः कवि कहता है कि)—रजनी इतनी हृदय को शीतल एवं मादक बनाने वाली हो गई है जैसे उसके अंगों पर किसी ने चंदन का लेप कर दिया हो। (वैसे भी काली रजनी पर श्वेत चन्द्रमा की चांदनी चंदन के समान लगती है)। ये सामने दिखाई देने वाली पर्वत-शृंखलाएँ (उच्च प्रदेश) दिन में तो इतनी बड़ी दिखाई नहीं दे रही थीं जबकि अब न जाने क्या हुआ कि अब ये अनन्त सागर के समान लहराती हुई नजर आती हैं। (लक्षणा के आधार पर अधित्यका उर्वशी के प्रेम की महत्त्वाकांक्षा है जो दिन की तपन में इतनी बढ़ी हुई नजर नहीं आती थी, मगर रात्रि के इस निस्तब्ध वातावरण में वे महत्त्वाकांक्षाएँ सागर के झकोलों की तरह झूम रही हैं, जिन्हें वह अधित्यका के उद्दीपन-विभाव से नायक पुरूरवा को जताना चाहती है)। निशीथ की मनोरम चांदनी ने पृथ्वी (स्त्रीलिंग) तथा आकाश (पुल्लिग) के बीच दूरी को भी कम कर दिया है। (भू और आकाश यहां पर प्रेमी तथा प्रेमिका पुरूरवा तथा उर्वशी के प्रतीक हैं। दिन में अनेक सांसारिक बंधनों के कारण दोनों को एक-दूसरे से बहुत दूर रहना पड़ता है—मगर रात को दोनों परस्पर निकट आ जाते हैं)। उर्वशी की पृथ्वी (प्रेमिका) कुछ ऊपर की

और उठी हुई लगती है और आकाश ऐसा लगता है जैसे झुक कर उस पर छा जाना चाहता हो।

विशेष—"उठी हुई-सी मही, व्योम कुछ झुका हुआ लगता है।" इस भाव के अनुरूप ही दिनकर जी ने प्रथम पृष्ठ पर भी नटी के मुख से दो पंक्तियां कहलाई हैं।

"सारी देह समेट निबिड
आलिंगन में भरने को
गगन खोल कर बांह विसुध
वसुधा पर झुका हुआ है।"

ऐसी पुनरावृत्ति होने पर भी भाव के सौन्दर्य में किसी प्रकार की नीरसता नहीं आ पाई। कारण, व्यक्ति की कल्पना शक्ति बड़ी प्रखर है जो उसी भाव को कल्पना की इन्द्रधनुषी तूलिका द्वारा नाना रंग मयी बना देता है।

इसी भाव को भाव और भाषा के धनी, नवोदित कलाकार 'श्री ओमप्रकाश शर्मा' ने भी व्यक्त किया है। यथा—

"वह दूर क्षितिज के परदे के पीछे जो हलचल होती है,
वसुधा नभ की दृढ़ बाहों में अभिसार सेज पर सोती है।"

—ओमप्रकाश शर्मा : 'धुंधला अन्तर'

रस प्रसन्न······दिये हों।

शब्दार्थ—चतुर्दिक्=चारों दिशाओं में। निखिल=सम्पूर्ण। मनसिज=कामदेव।

अर्थ—चित्त में रस का उद्रेक करने वाली चन्द्रमा की मधुसिक्त किरणें चारों दिशाओं में ऐसे उमड़ रही हैं मानो कामदेव ने सम्पूर्ण सृष्टि के प्राणों में कंपन भरने के लिए अपने बाण छोड़ दिए हों।

विशेष—'उत्प्रेक्षा' अलंकार।

पुरूरवा

हां, समस्त······घूम रही है।

शब्दार्थ—विस्मृतियाँ=पुरानी स्मृतियां। निस्तल समाधि=अन्तर्गुह्य अवचेतन मन। चन्द्रिका=चन्द्रमा की किरणें। लक्षणा में इसका अर्थ होगा—प्रेयसी का स्मरण।

अर्थ—(उपरोक्त पंक्तियों में उर्वशी द्वारा उद्दीपन-विभाव का वर्णन किया गया है। अब प्रत्युत्तर में पुरूरवा कहते हैं कि) हां, सम्पूर्ण नभमण्डल नीरवता के शान्त सौन्दर्य से आप्लावित है। चन्द्रमा शुद्ध, शीतल एवं निष्पाप हृदय के समान चमक रहा है। (इस नीरव एवं मधुसिक्त वातावरण में) पुरानी स्मृतियां, (जो कि काल की गहराई में लुप्त हो गई थीं), पुनः निस्तल समाधि से बाहर निकल कर (पुरानी यादों को ताजा कर रही हैं)। ऐसा प्रतीत होता है जैसे चन्द्रिका रूपी मेरी नायिका मेरे उन्मद चित्त रूपी स्वप्नलोक में विचरण कर रही हैं।

विशेष—उपमा, उत्प्रेक्षा।

और गगन······आँखें हैं ?

शब्दार्थ—आग्नेय जीव=तारे। अरण्य=जंगल। कूपों=कूएं। चन्द्रभूतिनिर्मित हिमकण=चन्द्रमा की किरणों को पीस कर बनाए गए बर्फ के छोटे-छोटे अंश। शाद्वल=बाग। रंध्रों=छिद्रों। सित=श्वेत। पारावत =हाथी।

अर्थ—नीले आकाश पर आच्छादित तारों की विभिन्न कल्पनाएँ करता हुआ पुरूरवा उर्वशी से कहता है—

और आकाश पर जो असंख्य आग्नेय-जीव (तारे) बैठे हैं वे ऐसे प्रतीत होते हैं मानो किसी धुंधले जंगल में हीरे आदि के कूएँ हों (जिनमें से उनकी यह आभा प्रतिभासित हो रही है)। अथवा चन्द्रभूति-निर्मित-हिमकण (ओस बिन्दु) किसी बाग में चमक रहे हैं। अथवा आकाश के छिद्रों में श्वेत-वर्ण पारावत (हाथी) बैठ गया है, या ये कल्पतरु के पुष्प हैं (जो सम्पूर्ण नभ मण्डल में बिखर गये हैं)। अथवा कवि कल्पना करता है कि ये दिव्यलोक की अप्सराओं के देदीप्यमान नेत्र हैं।

विशेष—उत्प्रेक्षा तथा सन्देह अलंकार।

उर्वशी

कल्पद्रुम के······छूते हैं।

शब्दार्थ—सित=श्वेत। शुभ्र=उज्ज्वल, आभामय। श्मश्रुमय=डाढ़ी एवं मूंछों से युक्त। शमित वन्हि=(जिनकी) अग्नि शान्त हो गई है। शीत-प्राण=शीतल प्राणों वाले। घ्राण=खुशबू।

अर्थ--प्रत्युत्तर में उर्वशी कहती है—

आकाश में प्रतिभासित होने वाले ये नक्षत्र न तो कल्पवृक्ष के फूल हैं और ा देवांगनाओं के नेत्र हैं। अपितु नील गगन में ये जो उजले-उजले दिखाई दे :हे हैं वे दीप्तिमान, श्वेत तथा शुभ्र देवताओं के मुख हैं जो डाढ़ी और मूंछों े युक्त हैं। (देवताओं की विशेषताओं का वर्णन करती हुई उर्वशी कहती : कि) इनकी अग्नि शान्त हो गई है अर्थात् ये द्वन्द्व एवं संघर्ष से शून्य हैं। :नके प्राण शीतल हो गये हैं अर्थात् इनकी धमनियों में मनुष्य का रक्त ास्रवित नहीं होता। सौन्दर्य का पान ये केवल नेत्रों से ही करते हैं, (beauty s to see, not to touch का मूल मन्त्र जानते हैं)। भाव यह है कि सौन्दर्य ा लैंगिक-आकर्षण इनके मानस में नहीं है। ये पुष्प (नायिका, प्रेमिका) ो केवल सूंघते हैं। उनकी पंखुड़ियों (अंग-प्रत्यंग) को कभी स्पर्श नहीं ारते।

विशेष—देवताओं में द्वन्द्व नहीं होता। वे त्रिकाल अनुद्विग्न, निर्मल और ाष्पाप होते हैं। उर्वशी काम के पुरुषार्थ-पक्ष को महत्त्व देती है। उसकी ष्टि में—"**जीवन में सूक्ष्म आनन्द और निरुद्देश्य सुख के जितने भी सोते हैं, कहीं न कहीं, काम के पर्वत से फूटते हैं। जिसका काम कुंठित, उपेक्षित थवा अवरुद्ध है, वह आनन्द के अनेक सूक्ष्म रूपों से वंचित रह जाता है।**"

—दिनकर : भूमिका : उर्वशी

उपरोक्त पद में '**श्मश्रुमय**' शब्द आक्षेपपूर्ण है। कवि ने उर्वशी के मुख यह कहलाया है कि देवताओं के डाढ़ी-मूंछें होती हैं। यह बात कुछ तर्क-ात नहीं जान पड़ती। देवताओं के आदि गुरु 'ब्रह्मा' को छोड़कर मैंने न चित्रों में ही किसी देवता के डाढ़ी-मूंछ देखी है और न ही कहीं पढ़ी है।

फिर भी ज्ञान का सागर अमित है। हो सकता है कवि ने कहीं से इसका शोध किया हो, मगर फिर यदि ऐसा है तो आपको 'भूमिका' में अपनी इस शोध पर प्रकाश डाल देना चाहिये था।

"**कुसुम**" शब्द यहां लक्षणा में प्रयुक्त किया गया है। 'कुसुम' से तात्पर्य है—अप्सरा, जिन्हें देवता कभी स्पर्श नहीं करते। केवल उनके मद का घ्राण करते हैं।

पर, देखो तो······होती है ?

शब्दार्थ—निकुंज=लता, झाड़ी। निर्झरी=सरिता। अभ्यंतर=आन्तरिक हृदय। कर=किरणें। पाहुन=मेहमान।

प्रसंग—"उर्वशी देवलोक से उतरी हुई नारी है। वह सहज, निश्चित भाव से पृथ्वी का सुख भोगना चाहती है।" इसलिये इससे पहले वाले पद में उसने काम-रहित देवताओं की व्याख्या की थी। "पुरूरवा के भीतर देवत्व की तृषा है। इसीलिये मर्त्यलोक के नाना सुखों में वह व्याकुल और विषण्ण है।" सम्भवतः उर्वशी के मुख से देवों का आख्यान सुन कर वह उर्ध्वमुखी हो उठा है। परिणामतः उर्वशी पुनः चन्द्रमा का उद्दीपक वर्णन करके ठोस धरती पर लाना चाहती है। इसीलिये वह कहती है—

अर्थ—लेकिन, जरा देखो! (किसी का ध्यान भंग करने के लिये ऐसा बोध किया जाता है)। यह चन्द्रमा गुप्तचर के समान दर्पण दिखा-दिखाकर सब के मन की गुप्त बातों को पढ़ता जाता है। यहां तक कि पर्वत तथा पेड़ (पुरूरवा) एवं झाड़ियों (पुरूरवा की गोद) में छिपी निर्झरी (उर्वशी) के मन की बात भी इसने जान ली है। और देखो, अन्य सभी प्राणी भी किस प्रकार प्रसन्न हो कर अपने दिल की बात कह रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे चन्द्रमा मेहमान का रूप धरकर सब में प्राण फूंकने आया है। (उर्वशी पुरूरवा से प्रश्न करती है कि आखिर बताओ तो सही) कि चन्द्रमा के हाथों (किरणों) में ऐसी कौन सी शक्ति होती है जिससे वह सब को वशीभूत कर लेता है।

विशेष—कवि ने अप्रस्तुत 'शैल-द्रुम' तथा 'निर्झरी' के रूप में प्रस्तुत

'पुरूरवा' तथा 'उर्वशी' का चित्रण किया है। अतः यहां 'अप्रस्तुत प्रशंसा' अलंकार हुआ। अप्रस्तुत प्रशंसा की परिभाषा इस प्रकार है—

अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रय ॥६८॥

"अप्राकरणिकस्याभिधानेन प्राकरणिकस्याऽऽक्षेपोऽप्रस्तुतप्रशंसा।"

—मम्मट : काव्यप्रकाश : उल्लास १० : २४०

पुरूरवा

ऋक्षकल्प······लेती है।

शब्दार्थ—ऋक्षकल्प=ग्रह-मण्डल। चन्द्रलिंग=चन्द्रमा का कलंक; धूमिल चन्द्रमा। दिवस शत्रु=चन्द्रमा। धात्री=उपमाता या माता। शर्वरी =शरद्-पूर्णिमा की रात। तपन-चिन्ह=स्वेदकण, पसीना। श्रमहारी= थकान को दूर करने वाली। तिमिरांचल=अंधकार रूपी पर्दा। निनाद= आवाज।

अर्थ—चन्द्रमा तथा रात्रि की महिमा का गुणगान करते हुए पुरूरवा कहता है—

चन्द्रमा झिलमिल करते हुए भावों के लिये ग्रहमण्डल तथा स्वप्नों के लिये अपने धूमिल स्वरूप के समान है। (और) स्तब्ध रात्रि हमारी संरक्षिका एवं माता रूपा है। जब शारदी निशा आती है तो वह विश्व के प्राणियों के पसीने तथा सफेद किरणों के लगे हुए लांछन को ही नहीं पोंछती अपितु अपने तिमिरांचल में, जो श्रम का हरण करने वाला है; अचूक है तथा शान्ति प्रदान करने वाला है, सम्पूर्ण निखिल के कोलाहल, भयंकर आवाजों को भी समेट कर रख लेती है।

विशेष—इस पद्यांश की प्रथम दो पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है—

"यह दिन हृदय में झिलमिल करने वाले भावों एवं चन्द्रमा के समान मधुर स्वप्नों का शत्रु है।"

उपरोक्त पद का भाव यह है कि दिन की कर्कशता में हृदय के कोमल तन्तु पल्लवित नहीं हो पाते। अतः निस्तब्ध रात्रि ही एक ऐसा माध्यम है जो अपने नीरव वातावरण में मानव-हृत्तन्त्री को निनादित कर देती है और

दिवस-गत उसकी सम्पूर्ण जटिलताओं एवं उत्तापों पर चन्दन-सदृश शीतल बयार का आलेपन कर देती है।'

'तिमिरांचल' में 'रूपक' अलंकार है।

तिमिर शान्ति······होती है।

शब्दार्थ—तिमिर=अंधकार। आभा=ज्योति। अन्तरस्थ=हृदय में स्थित। समंजस=एकत्रित। धरणी=पृथ्वी। अशब्द=मूक।

अर्थ—अंधकार शान्ति का व्यूह तथा आन्तरिक चित्र को ज्योति प्रदान करने वाला है। हृदय में अवस्थित जिन कोमल भावों के बीज दिन में बिखर जाते हैं, उन्हें हम रात्रि में दुबारा चुन-चुन कर एकत्रित करते हैं। (भाव यह है कि जिस प्रकार एक व्यापारी सारे दिन के लेन-देन को संध्या के समय अपने बहीखाते में अंकित कर देता है उसी प्रकार मनुष्य माया-मोह में फंसा हुआ होने के कारण दिन में तो अपने भावों को संकलित कर नहीं पाता मगर संध्या के निस्तब्ध वातावरण में व्यापारी की भांति वह अपने सारे बिखरे हुए भावों को हृदय रूपी बहीखाते में लिख लेता है और पुनः उसके फल-अफल का लेखा-जोखा करता है)। (अंधकार की मुख्य विशेषता बताते हुए कवि कहता है कि) जब अंधकार का आगमन होता है तो सारी धरती मूक हो जाती है। अर्थात् ऐसे निस्तब्ध वातावरण में सभी प्राणी बहिर्मुखी प्रवृत्तियों से परे हट कर अन्तर्मुखी हो जाते हैं।

जो सपने······बन कर।

शब्दार्थ—धूमिल=छिप जाना। सोदर=एक उदर से उत्पन्न सगा भाई। उडुओं=नक्षत्र, तारे। आलोक-शिखाएँ=प्रकाश-पुंज।

अर्थ—जो स्वप्न दिवस के प्रकाश में धूमिल हो जाते हैं अथवा अपने ही हृदय से निकले हुए भाव, जिनका अस्तित्त्व पूर्णतः विद्यमान होता है, दिवस में नक्षत्रों की भांति संकोचशील एवं अदृश्य हो जाते हैं, वही भाव रात्रि के अवसर पर ज्योतिवान, जाज्वल्यमान प्रकाश-पुंज बन कर हमें चारों तरफ से घेर लेते हैं।

निशा योग-जागृति······आलिंगन में।

शब्दार्थ—योग-जागृति=योग के जागरण अथवा योग द्वारा जागरण।

उदग्र = उदार, उन्नत, प्रचण्ड । ऐकायनिक = एकान्त । गरुत = पंख, निगलना भक्षण । भूमा = आनन्दवाद, समरसतावाद । अतिक्रमण = उल्लंघन ।

प्रसंग—यह पद्यांश काफी महत्त्वपूर्ण है । इसमें कवि ने रात्रि के अनन्त महत्त्व को प्रतिपादित किया है । योगी, भोगी और भक्त के लिये नीरव निशा वरदानस्वरूप ठोस भित्ति के समान है । सबके चरम-लक्ष्य-प्राप्ति की यही आधार-सूचिका है ।

अर्थ—रात्रि में ही योगी योग द्वारा जागरण करते हैं अर्थात् अपनी आत्मा को उर्ध्वमुखी करते हैं । यह विह्वल प्रेम की एकान्त समाधि है, अर्थात् इस क्षण में प्रेमी प्रेम के दिव्य-लोक में विचरण करने लगता है । उस समय उसका हर कर्म प्रणय-मन्दिर के लिये होता है । निशा के इस नीरव वातावरण में 'भूमा' के अनुकर्त्ता काल के इस गरुत के नीचे बैठकर भी समय का अतिक्रमण कर जाते हैं । भाव यह है कि 'भूमा' का आनन्दवादी साधक इस समय वर्तमान, भूत और भविष्य की सीमा को लांघ कर असीम प्रदेश में विचरण करने लगता है, जहाँ परिशुद्ध आनन्द तथा समरसता के अतिरिक्त उसे कुछ भी दृष्टिगत नहीं होता । (इस नीरव-निशा में) योगी अपने अपार योग में तथा प्रेमी परस्पर आलिंगन-पाश में बंधे रहते है ।

विशेष—इस पद में तीन वाक्यांश दर्शनीय हैं—

अ—"निशा योग-जागृति का क्षण है"

ब—"प्रणय की ऐकायनिक समाधि"

स—"भूमा के रस-पथिक"

इन तीनों वाक्यांशों की समीचीन व्याख्या आवश्यक है । योगी लोग रात्रि को ही अपने योग-मार्ग की ओर अग्रसर होते है क्योंकि योग-साधने के लिये साधक को कोलाहल से दूर एकान्त स्थान का चयन करना पड़ता है, जहां केवल नीरवता का ही साम्राज्य हो । रात्रि में यह नीरवता अपने सहज, स्वाभाविक एवं निश्छल रूप मे आ जाती है । इस समय जड़-चेतन की संगीतमय निश्वासों की ध्वनि के अतिरिक्त कुछ भी श्रवणीय नहीं होता । अतः भगवान कृष्ण ने 'श्रीमद्भगवतगीता' के दूसरे अध्याय में इसी भाव का अनुमोदन किया है—

"या निशा सर्वभूतानां,
तस्यां जाग्रति संयमी ।"

'प्रणय की ऐकायनिक समाधि' भी ब्रह्मानन्द सहोदर होती है। अपने प्रिय के आत्म-साक्षात्कार के पश्चात् ही इस 'सहज समाधि' का उदय होता है इस अवस्था में भक्त को स्थावर तथा जंगम—सभी में उसी का रूप दिखता हैं और अपने द्वारा किये गये सभी कर्म उसको समर्पित होते हैं। **'कबीर'** के निम्न पद में 'ऐकायनिक समाधि' के निश्छल भाव सहज रूप में प्रकट किये गये हैं—

"साधो सहज समाधि भली।
जहँ जहँ जाऊँ सोइ परिकरमा, जो कुछ करूँ सो सेवा।
जब सोऊँ तो करूँ दण्डवत, ध्यावहुँ और न देवा।"

अन्तिम वाक्यांश है—**"भूमा के रस-पथिक।"** 'भूमा' आनन्द और "आनन्द परब्रह्म का वाचक है।" इसकी परिभाषा इस प्रकार की गई है—

"रसो वै सः।
रस ह्येवायं लब्ध्वानन्दो भवति।
एष ह्येवानन्दयति।"

—तैतिरेय उपनिषद् २ : ७ : १

अर्थात् वह रस ही है। इस रस को पाकर पुरुष आनन्दी हो जाता है, यह रस सबको आनन्दित करता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि "इस आनन्द के अंश मात्र से ही सब प्राणी जीवित हैं।"···आनन्द अभयत्त्व है। जब तक द्वैत बना रहता है तब तक भय बना रहता है। अद्वैत की अनुभूति में अभय की प्राप्ति होती है।···आनन्द नित्य है। इसका अभाव कभी नहीं होता। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, प्रत्येक अवस्था में आनन्द का कुछ न कुछ अनुभव होता है।···जिसे आनन्द का सच्चा आस्वादन होता है, उसको अन्य सब कुछ फीका लगता है। आनन्द का स्वाद गूंगे का गुड़ चखना है।

"हिन्दी साहित्य, भक्ति-साहित्य और वर्तमान रहस्यवाद-साहित्य में आनन्दवाद के सिद्धान्तों की स्थापना हुई है।···आधुनिक हिन्दी कविता में

'कामायनी' के माध्यम से 'प्रसाद' ने आनन्दवाद का अत्यन्त सशक्त वर्णन किया है।"

—हिन्दी साहित्य कोष : आनन्दवाद : ९९

उपरोक्त सिद्धान्तों के आधार पर 'कामायनी' से 'भूमा' के कुछ महत्व-पूर्ण उद्धरण द्रष्टव्य हैं—

"अपने में भर सब कुछ कैसे,
व्यक्ति विकास करेगा।
यह एकान्त स्वार्थ है उसका,
अपना नाश करेगा ॥
औरों को हंसते देखो मनु,
हंसो और सुख पावो।
अपने सुख को विस्मृत करके,
सबको सुखी बनाओ ॥"

× × ×

"समरस थे जड़ या चेतन,
सुन्दर साकार बना था।
चेतना एक विकसती,
आनन्द अखण्ड घना था।"

—प्रसाद : कामायनी

समता मयी······महावरण में।

शब्दार्थ—अशब्द=मौन। महावरण=गहन परदा।

अर्थ—जब रात्रि भेद-भाव को भूलकर एवं उदारमना बनकर अपना शीतल अंचल फैलाती है तो राजा अपने मुकुट तथा बन्दी अपनी काल-कोठरी की कड़ियों को भूल जाते हैं। भाव यह है कि निशा-मां की गोद में आकर राजा अपने आपको राजा नहीं समझता और बन्दी अपने आपको बन्दी नहीं मानता। उसके शीतल आंचल में मुँह छिपाने पर वे अपनी सभी तुच्छ भावनाओं को भूल जाते हैं। उस समय सम्पूर्ण जगत की चेतना किसी अनिर्वचनीय, सुखद माया के गहन आवरण में मौन होकर बहती है।

विशेष—इस पद में 'निशा' का मूर्त्तिकरण 'उदारमना ममतामयी नारी' के रूप में किया गया है। संस्कृत के एक कवि ने 'उदारता' की परिभाषा निम्न प्रकार से दी है—

"अयं निजः परो वेति,
गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु,
वसुधैव कुटुम्बकम्।"

निशा का यही उदार रूप उपरोक्त पद्यांश में 'निशा' के लिए दर्शित किया गया है।

सम्राज्ञी विभ्राट······फूलों के।

शब्दार्थ—सम्राज्ञी=महारानी। विभ्राट=ज्ञानमण्डल से प्रकाशित 'वृहत हिन्दी कोश' में इसका अर्थ बखेड़ा, गड़बड़ी तथा आफत दे रखा है। मगर यह शब्द सम्राज्ञी के लिए 'विशेषण' के रूप में प्रयुक्त हुआ है। अतः यहां पर इसका अर्थ होगा—'अलंकार से दीप्त'। दुकूल=वस्त्र, दुपट्टा। कूल-कीलित=किनारों पर जड़ी हुई। चिकुर=बाल। दाम=माला या लड़ी।

प्रसंग—कविवर दिनकर ने इस पद में रात्रि का अलंकारों से दीप्त मनोरम नारी के रूप में मानवीकरण किया है।

अर्थ—पुरूरवा उर्वशी से कहता है कि क्या कभी तुमने अलंकारों (आभूषणों) से दीप्त (ऐसी) साम्राज्ञी को समारोह-प्रांगण में जाते हुए देखा है जो ऐसे श्याम वस्त्रों से आभूषित है जिन पर तारे (सिल्मे-सितारे) शोभित हैं; दामन की झालर विभा से गुम्फित है और जिसकी अलकावली में श्वेत एवं सुरभित पुष्पों की लड़ियाँ शोभायमान हो रही हैं।

विशेष—'सांगरूपक' द्वारा यहां विभ्राट सम्राज्ञी रात्रि है। इसकी कालिमा सम्राज्ञी के वस्त्र हैं। सिल्मे-सितारे आकाश में चमकते हुए तारे हैं। दामन की झालर चन्द्रमा की जाज्वल्यमान किरणें हैं। इसी प्रकार नायिका के बाल निशा का तमस तथा श्वेत पुष्पों की लड़ी नक्षत्र-मण्डल है। चूँकि

यहां रात्रि का अप्रस्तुत रूप में वर्णन किया गया है। अतः यहां 'अप्रस्तुत प्रशंसा' अलंकार भी है।

इन पंक्तियों में एक और बड़ी विशेषता है। 'काव्य का उदात्त तत्व' इनमें बड़े स्वाभाविक रूप से चित्रित हुआ है। नक्षत्र-खचित इतनी विशाल निशा को कल्पना की तूलिका से एक रमणीय नारी का रूप दे देना वास्तव में समर्थ कवि की ही विशेषता है। इतनी विशाल रात्रि को रमणीय नायिका के चौखटे में सहज रूप में बाँध देना कम श्लाघ्नीय नहीं है। वास्तव में जिस कवि के काव्य में 'उदात्त तत्व' की जितनी अधिक प्रचुरता होगी वह उतना ही शाश्वत काव्य-प्रणेता होगा और उसका प्रभाव उतना ही अधिक स्थायी होगा। 'प्रसाद' और 'निराला' के काव्य में इस तत्व की प्रचुरता है। जहां 'दिनकर' ने रात्रि का नायिका के रूप में उदात्त चित्र खींचा है वहां प्रसाद के काव्य का यह अंश देखिये जिसमें उषा को नारी का उदात्त रूप दिया है—

"बीती विभावरी जागरी
अम्बर पनघट में डुबा रही
ताराघट ऊषा नागरी।"

—'प्रसाद'

निराला की **'राम की शक्ति पूजा'** की प्रथम तीन पंक्तियां भी दर्शनीय हैं—

"रवि हुआ अस्त;
ज्योति के पत्र पर लिखा अमर;
रह गया राम-रावण का अपराजेय समर, आज का —"

—स्व० 'निराला'

और सुना है······करती है ?

शब्दार्थ—अस्फुट=अस्पष्ट। कौशेय वसन=रेशमी वस्त्र। अलिन्द= महल का छज्जा। प्राचीरों=दीवारों। लम्बित=लटके हुए।

अर्थ—जब (निशा रूपी) रानी गर्वित गति से उज्ज्वल चांदनी में बिहार करने के लिए निकलती है, तब क्या कभी तुमने लटकते हुए रेशमी दुपट्टे के मन्द-मन्द घर्षण से उत्पन्न अस्पष्ट लेकिन संगीतमय ध्वनि सुनी है। यह

आंचल ऐसा है कि कभी मणिमय छज्जे पर से तथा कभी मोतियों (तारों) से खचित आकाश-रूपी दीवार पर से उठता हुआ दृष्टिगत होता है।

विशेष—इस पद की अन्तिम पंक्ति से यह स्पष्ट होता है कि कवि ने निशा रूपी नारी को 'रूप-गर्विता' नायिका के रूप में दर्शित किया है। 'रूपगर्विता-नायिका' नायिकाओं के अवस्थानुसार स्वतन्त्र विभाजन का एक भेद है।

'हिन्दी साहित्य कोश' पृष्ठ २५६ पर 'रूपगर्विता' की व्याख्या इस प्रकार की गई है—"**अपने सौन्दर्य पर गर्व करने वाली नायिका—'जाके अपने रूप को अति ही होय गुमान।'** (मतिराम : रसराज : १०४) **कभी यह गर्व नायिका की स्वतः उक्ति में भासित होता है और कभी अन्य की उक्ति द्वारा प्रगट किया जाता है। मतिराम की यह नायिका स्वयं गर्वोक्ति करती है—'दिन हूं मैं मुखचन्द्र को लखि ललचात चकोर', अतः उसका आना नहीं हो पाता (वही : १०६) पद्माकर ने अन्य की उक्ति में नायिका के गर्व की व्यंजना की है—'चन्द्रमुखी कहें होती दुःखी तौ न कोऊ कहिगो सुखी रहिबो करो।' (भा० वि० : १ : १३९)। इस रूप सम्बन्धी गर्व के माध्यम से कवियों ने नायिका के रूप-सौन्दर्य का चमत्कृत और ऊहात्मक वर्णन किया है।**"

निशा शान्ति······काल-गह्वर से ?

शब्दार्थ—क्रोड़=घोंसला। स्फुटिक-भवन=(श्वेत) संगमरमर रूपी महल। ज्योति=चन्द्रमा की किरणें। कौमुदी=चांदनी। दृश्य-श्रव्य—ये काव्यशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं। जिसे नेत्रेन्द्रिय द्वारा देख कर आनन्द का उपभोग किया जाय उसे दृश्य तथा श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा आनन्द ग्रहण करने की अवस्था में 'श्रव्य' होता है। श्रुतियों= कानों। सुन्दरता=सुन्दर नारी। यहां कवि ने सुन्दरता के अमूर्त्त रूप को रूप प्रदान करने का सफल प्रयास किया है। 'प्रसाद जी' ने भी 'कामायनी' में स्थान-स्थान पर अमूर्त्त भावों का मूर्तीकरण किया है। जैसे 'लज्जा'—"**मैं वह हल्की सी मसलन हूं। जो बनती कानों की लाली।**"—चिर विस्मृत=अनन्त काल से भुलाये हुए। पुरातन=प्राचीन। काल-गह्वर=(भूत) काल रूपी गुफा से।

अर्थ—निशा शान्ति का नीड़ है, (इसकी गोद में आश्रय लेने पर किसी प्रकार की अशान्ति हृदय के आंगन में शोर नहीं करती।) लेकिन फिर भी इस सुरभित संगमरमर रूपी भवन (प्रकृति, जिसका अणु-अणु चाँदनी से आवृत है) में कोई गीत चन्द्रमा की किरणों के साथ-साथ आगे चलता हुआ दीख पड़ता है। यह गीत कहां से आया ? इसे कौन गाता है ? इन सबकी एक विशाल कल्पना करते हुए पुरूरवा कहता है कि या तो स्वयं चांदनी हीं गीत गाते हुए विचरण कर रही है अथवा तारों द्वारा गाए गए मधुर गान को चान्दनी अपनी किरणों के झूले पर सैर करा रही है, अथवा यह किसी सोई हुई सुन्दर रमणी, जो सुन्दरता का ही प्रतिरूप है, को निश्वासों से ध्वनित होने वाली मधुर रागिनी है, जो दृश्य अथवा श्रव्य बनकर कानों में समा रही है। (अन्त में कवि एक बहुत ही अपूर्व कल्पना करता है। उसका कहना है कि) अन्यथा यह लम्बी अवधि से भुला दिए जाने वाले किसी प्राचीन कवि की कविता है जो (भूत) काल रूपी गहन गुफा से निकल कर इस निस्तब्ध रात्रि में गुंजरित हो रही है।

विशेष—'कौमुदी' तथा 'सुन्दरता' आदि अमूर्त्त भावों का मूर्त्तीकरण किया गया है। 'स्फटिक-भवन' तथा 'काल-गह्वर' की परिभाषा इस प्रकार है—

"जब उपमेय को यह निश्चय न हो कि वास्तविक वस्तु ये है अथवा ये है। जैसे एक और उदाहरण भी द्रष्टव्य है—

"सारी है कि नारी है, नारी है कि सारी है,
सारी ही की नारी है कि नारी ही की सारी है।"

'निशा' के इसी भाव को 'कामायनी' के 'आशा' सर्ग में 'श्री जयशंकर प्रसाद' ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

"तम के सुन्दरतम रहस्य हे
कांति-किरण- रंजित तारा !
व्यथित विश्व के सात्त्विक, शीतल
बिंदु, भरे नव रस सारा।

आतप तापित जीवन-सुख की
शांतिमयी छाया के देश !
हे अनन्त की गणना ! देते
तुम कितना मधुमय संदेश !

—प्रसाद : कामायनी : आशा : ४७, ४८

यह अगाध······जाते हैं।

शब्दार्थ—निश्चेत=अचेतन।

अर्थ—पुरूरवा उर्वशी से कहता है:—इस समय प्रकृति की यह सुषमा अगाध और अनन्त है जिसकी प्रशान्त धारा में हम अपनी चेतना को भूल कर (अज्ञात दिशा की ओर) बहे चले जा रहे हैं।

उर्वशी

अतल, अनादि······लगता है।

शब्दार्थ—बृहित=परिवर्द्धित। निमिष=क्षण। संवत्सर=साल, वर्ष। पत्रक=पत्ता। लक्तक=लत्ता, चिथड़ा। सनातन=शाश्वत। निश्चेत=चेतना=रहित। अकूल—कूल अथवा तट से रहित। विशिख=बाण।

प्रसंग—पूर्व पद की अन्तिम पंक्ति में पुरूरवा ने उर्वशी से प्रश्न किया था कि हम दोनों अपनी चेतना को भूल कर कहाँ बहे जा रहे हैं। ये पंक्तियां इसी प्रश्न का ठोस उत्तर हैं। उर्वशी का कथन है कि प्रेम की ऐसी उन्मुक्त अवस्था में प्रेमी तथा प्रेमिका देश-काल की सीमा से परे हृदयाकाश के ऐसे लोक में पहुँच जाते हैं जहाँ भावना स्थिर हो जाती है। यह अवस्था 'सहज समाधि' की है जिसमें साधक अपने लक्ष्य को पाकर उसी को अपना आत्मसमर्पण करके निर्द्वन्द्व हो जाता है।

अर्थ—यह (हृदय रूपी) आकाश अतल, अनादि, अनन्त पूर्ण एवं परिवर्द्धित है। इसमें किसी प्रकार की सीमा-रेखा नहीं खींची जा सकती। इस महाकाश में क्षण, पल, दिन, मास तथा वर्ष ऐसे लगते हैं जैसे काल के चिथड़े लटक रहे हों। हे प्रिय ! तुम अपने हृदय रूपी पत्रक को समेट लो जिसमें तुमने शाश्वत समय को पल, घड़ी, वर्ष तथा शताब्दि की बूंदों में अंकितकर रखा है। भाव यह है कि यदि देश-काल के चौखटे में ही हम बंधे रहे तो भला हम प्रेम

की सहज पृष्ठ-भूमि पर कैसे पहुंच सकते हैं। अतः देश-काल से परे हट कर चेतना-रहित होकर शान्ति के इस अकूल प्रवाह को बहने दो। इस शान्ति की पीयूषधारा को (काल रूपी) अपने हाथों में बांध कर मत रखो। (पुरूरवा के प्रश्न का उत्तर देते-देते उर्वशी प्रेम के ऐसे अनन्त शिखर पर पहुँच जाती है जहां पर शरीर-गत सभी क्रियाएँ शून्य हो जाती हैं। अतः उर्वशी कहती है—) यह कौनसी समाधि की उत्तुंग शृंग है जिस पर अवस्थित होकर चेतना ने अपनी संज्ञा लुप्त करदी और प्रेम का जो बाण हृदय के इस अम्बर में उर्जस्वित गति से उड़ता चला जा रहा था वह ऐसा लग रहा है जैसे स्थिर सा हो गया है।

विशेष—भाव यह है कि प्रेम में एक अवस्था ऐसी भी होती है जब चेतना निस्पन्द एवं संज्ञाहीन हो जाती है। इस अवस्था में जाति, समाज या देशगत रूढ़ियां अथवा परम्पराएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और जीव 'बावरा' बनकर उसी महाशून्य में अपने अंश को मिला देता है।

अलंकार—'लक्तक से' में उपमा अलंकार है।

पुरूरवा

रुको समय-सरिते······सूर्य-वेदी पर।

शब्दार्थ—समय-सरिते=समय रूपी नदी। काल-शकल=काल रूपी खंड, टुकड़ा। घटिकाओं=स्वयंवह यंत्र, प्राचीन काल में एक छोटा सा घड़ा होता था जिसमें दिन की घड़ियां मालूम की जाती थीं। आतुर=व्यग्र। समापन=समाप्ति। नक्षत्र-निलय=नक्षत्र रूपी घर या मोद में।

प्रसंग—पुरूरवा के लिए आज की रात कतल की रात है। वह चाहता है कि यह रात कभी न बीते तथा त्रिकाल (वर्तमान, भूत तथा भविष्य) किसी नक्षत्र लोक में जाकर छिप जाएं क्योंकि प्रातःकाल आते ही संसार का कोलाहल प्रारम्भ हो जाएगा और चमेली का पुष्प-रस मेरे हाथ से जाता रहेगा।

अर्थ—हे समय-सरिते! हे काल-खंड!! हे घटिकाओ!!! कम से कम पल अथवा अनुपल के लिए तो रुक जाओ। इस प्रकार व्यग्र होकर

तुम (समय, काल) किस लक्ष्य की ओर उड़े जा रहे हो। (जिस प्रकार) उर्ध्वगामी जीवन की गति की कोई सीमा नहीं है (उसी प्रकार हे समय ! तुम चाहे कहीं तक चलते चलो मगर तुम्हारी कहीं मंजिल नहीं है जहां उतर कर तुम क्षण भर के लिए चैन की श्वास भी ले सको। यही दशा इस प्रेमोन्युक्त हृदय की है। चाहे वह कितना भी उर्ध्वगामी क्यों न हो जाय मगर ऊपर की रिक्तता उसे सताती ही रहती है)। यह काल-पयोनिधि अनन्त है। त्रिकाल (वर्तमान, भूत और भविष्य) में भी इसकी सीमा का अवजानन नहीं हो सकता। (अतः पुरूरवा त्रिकाल से कर-बद्ध याचना करता है)—हे त्रिकाल ! आज तुम कुंडली मार कर किसी नक्षत्र-लोक में जाकर छिप रहो और इस मधुर रात्रि को सूर्य-वेदी पर खींच कर मत ले जाओ।

विशेष—इस पद्यांश की दूसरी पंक्ति (इस प्रकार, आतुर उड़ान भर कहाँ तुम्हें जाना है।) की तुलना में कामायनी की ये पंक्तियां दर्शनीय हैं—

"किस विगंत रेखा में इतनी
संचित कर सिसकी-सी सांस,
यों समीर मिस हांफ रही-सी
चली जा रही किसके पास।"

—'प्रसाद' : कामायनी : आशा : ४९

दोनों में कौन सुन्दर, स्वाभाविक तथा हृदय को स्पन्दित करने वाला है, यह तो पाठक ही बताएगा। टीकाकार का काम तो दो समान गुण वाली भाव-वर्त्तिकाओं को सहृदय के सामने रख देना है। निर्णय तो उसी के हाथ में है।

अन्तिम दो पंक्तियां काव्य की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। प्रेमी-प्रेमिका का निशा के प्रति इतना मोह 'आदि काल' के 'कलंदर कवि' की नायिका में भी मिलता है—

"सजन सकारे जाएँगे,
[illegible] नैन मरेंगे रोय

Library

विधना ऐसी रैन कर,
भोर कवी ना होय ।।" —'**कलंदर**'

विशेष—'समय-सरिते', 'काल-पयोनिधि' तथा 'नक्षत्र-निलय' में 'रूपक' अलंकार हैं ।

रुको, पान······सूंघ लेने दो ।

शब्दार्थ—त्रिकाल=भूत, वर्तमान, भविष्य। सुरभि=सुगंध ।

अर्थ—हे समय-सरिते ! पल भर के लिए रुक जाओ ! ! मुझे इसी शत-पत्र-कमल (उर्वशी) की शीतलता (उत्तप्त हृदय को आलिंगन-पाश में बंध जाने के उपरांत प्राप्त हुई शीतलता अर्थात् शान्ति) का पान करने दे। (उर्वशी को कमल की उपमा कवि ने बड़ी सार्थक दी है। एक तो कमल स्वच्छ तथा निर्मल है दूसरे रात्रि के समय वह बन्द होता है। इसी प्रकार उर्वशी का प्रेम भी स्वच्छ तथा निर्मल है एवं इस समय प्रेमी के सामने वह भी लाज के मारे कमल की भांति संकुचित सी हो रही होगी जिससे इसका सौन्दर्य द्विगुणित हो उठा है)। हे त्रिकाल ! इस सघन वृक्ष में मुझे समय का विस्तार समेट लेने दो, (अर्थात् मैं चाहता हूं कि इस थोड़े से अमूल्य समय में मैं प्रेमिका से इतना प्रेम-रस ले लूं कि आगे आने वाले विस्तृत समय-पटल पर मैं उसी सघन रस में डूबा रहूं और मुझे बस इस सघन-क्षण के अतिरिक्त अन्य किसी सीमा रेखा का ध्यान न हो)। (और हे काल-शकल) ! मुझे एक पुरुष (हृदय) में त्रिकाल की सुरभि भर कर सूंघ लेने दो। (भाव यही है कि मैं उर्वशी के पावन प्रेम को अपने हृदय में अवस्थित कर लूं और त्रिकाल तक इसी सुरभि से सुवासित होता रहूं)।

विशेष—'अप्रस्तुत प्रशंसा' अलंकार ।

छिपा कौन?······रहा है ।

शब्दार्थ—छन्न=छुपा हुआ ।

प्रसंग—इन पंक्तियों में कवि ने एक बहुत बड़े सत्य का दार्शनिक उद्घाटन किया है। कवि ने समय को एक चक्र के समान बनाया है। इस काल चक्र को इस प्रकार बनाया जा सकता है—

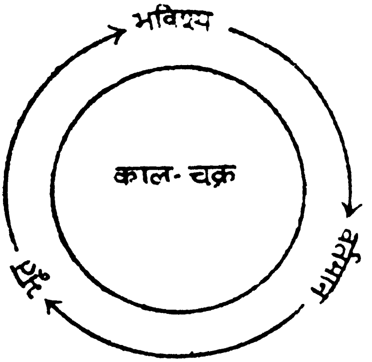

वर्तमान, भूत और भविष्य काल-चक्र के अंश हैं। इनके बीच में किसी प्रकार की भेदक सीमा-रेखा नहीं खींची जा सकती। तीनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

'वर्तमान' में हम जो कुछ करते हैं वह समाप्त नहीं हो जाता है अपितु समाप्त हुआ सा दीखता है। जब हम सूक्ष्म दृष्टि से उस पर विचार करते हैं तो वह 'भविष्य' का रूप धारण कर लेता है और 'भविष्य' का वही कर्म 'भूत' बनकर फिर 'वर्तमान' में फल देता है। अतः काल कर्म मिटता नहीं बल्कि अपने रूप का परिवर्तन करके हमारे सामने आता रहता है। यह रूप-परिवर्तन रंगमंच के उस पात्र के समान है जो एक होते हुए भी परिस्थिति के समान अपने अलग-अलग ताने-बाने में द्रष्टा के सामने आता है और अपनी अलग-अलग छाप उसके हृदय-पटल पर डालता रहता है।

अर्थ—यहां पर कौन मिट गया ? क्या वह (वर्तमान काल) जो घटित हो चुका है ? (नहीं, वह समाप्त नहीं हुआ है) अपितु मनुष्य के जीवन रूपी रंगमंच पर अपना अभिनय दिखाकर फिर पर्दे के पीछे (भविष्य और भूत) जाकर खड़ा हो गया है। उसने अभी तक जन्म नहीं लिया है अपितु वह (परिस्थिति) रूपी तमस-बादलों की ओट में छिपकर बैठा हुआ (भूत और भविष्य के सम्पूर्ण अभिनय को) देख रहा है (और उचित समय पाकर पुनः प्रकट हो जाएगा)।

जिस प्रकार······साक्षी है।

शब्दार्थ—नगराज=हिमालय। विंध्य=विंध्य सागर। उभय=दोनों।

अर्थ—जिस प्रकार हिमालय पर्वत विन्ध्य सागर की मानस-पीड़ा को समझता है और विन्ध्य-महासागर की कहानी को जानता है उसी प्रकार वर्तमान काल द्वारा अपने घर में किए हुए सभी कर्मों को भूत और भविष्य अच्छी तरह जानते हैं और उन दोनों द्वारा किए गए कर्म इस बात के साक्षी हैं कि वर्तमान का सभी लेखा-जोखा इनके मानस पर अंकित है।

विशेष—यहाँ पर 'हिमालय' तथा 'विन्ध्य सागर' की व्यथा क्या है? यह जानना आवश्यक है।

'वर्तमान' में हिमालय हिमाच्छादित होकर गर्व से खड़ा है। भविष्य में सूर्य की तेज किरणों से उसकी सारी बर्फ पिघल कर, सरिता का रूप धारण करके समुद्र की आगोश में जा छिपती है। समुद्र में आया हुआ यह जल भी स्थिर नहीं रहता। वह पुनः रवि की किरणों के सहारे ऊपर उठता है और पुनः हिमालय की चोटी पर बर्फ का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है। वर्तमान में उनका एक ही कर्म है—संचय। भविष्य उसका स्खलन करता है और 'भूत' समय की प्रतीक्षा करके एवं उचित समय जानकर फिर वर्तमान का रूप धारण कर लेता है। अतः भविष्य में होने वाले इस हिम तथा जल के स्खलन की पीड़ा को परस्पर दोनों ही जानते हैं। इसी उद्धरण की दो पंक्तियाँ स्वतः स्पष्ट हैं कि वर्तमान जो कुछ भी करता है उसी का विकसित एवं परिवर्द्धित रूप भूत और भविष्य हैं, जैसे वर्तमान में उर्वशी-पुरूरवा प्रेम-संकुल में आबद्ध हैं। भूत और भविष्य इसी प्रेम का परिवर्द्धित रूप दिखाकर यह सिद्ध करेंगे कि वर्तमान में उन दोनों ने जो कुछ किया है, हम तो उसी को सूत्रधार के रूप में व्यक्त कर रहे हैं।

सिन्धु,······भाषा में।

शब्दार्थ—दिगायाम=दिक+आयाम, फैली हुई दिशाओं में। गिरा-मुक्त=वाणी से मुक्त होकर अर्थात् मौन होकर।

अर्थ—जिस प्रकार सिन्धु, विन्ध्य तथा पर्वत विस्तृत दिशाओं में एक साथ ही अवस्थित रहते हैं (और कुछ न कहकर भी अपने हृदय की पीड़ा को व्यक्त कर देते हैं), उसी प्रकार काल-देवता के इस महान प्रांगण में भूत, वर्तमान और भविष्य गिरा-मुक्त (मौन) भाषा में परस्पर वार्तालाप करते हुए एक साथ ठहरे हुए हैं।

कहां देश,······छूकर।

शब्दार्थ—व्योम=आकाश। कल्प=समय, ब्रह्मा का एक दिन जिसमें एक हजार महायुग अथवा ४ अरब ३२ करोड़ मानव-वर्ष होते हैं)। महाशून्य =ब्रह्म। उत्स=झरना (प्रेम का झरना)। उद्गम=स्रोत। आदि-मूल= प्रेम-तत्त्व। प्रेम सृष्टि का आदि तत्त्व है क्योंकि विधाता प्रेमरूप है और उसने इस सृष्टि का विकास प्रेम के बीज बोकर ही किया था। अतः प्रत्येक जड़-जंगम में विधाता के आदि-मूल प्रेम का अंश विद्यमान है।

अर्थ—त्रिकाल कह रहे हैं कि ऐसा कौन सा देश है जिसके प्रांगण में हमारी गूंज विद्यमान न हो। ऐसा कौन सा समय है, जिसके महासागर में हम नहीं तैर रहे हों। अर्थात् प्रत्येक देश तथा समय में सर्वत्र विद्यमान रहते हैं। महाशून्य के चित्त से जो प्रेम का झरना प्रवाहित होता है वह हमारे मन का भी स्रोत है अर्थात् हमारे अन्दर भी उस प्रेम-तत्व का अंश विद्यमान है। हमारी चेतना भी काल के आदि-मूल (प्रेम) को छूकर ही बहती है।

उर्वशी

हम त्रिलोकवासी······धरें हम ?

शब्दार्थ—त्रिलोकवासी=तीनों लोकों (भू, आकाश और पाताल) में निवास करने वाले। त्रिकाल चर=तीनों काल—(भूत, भविष्य और वर्तमान) में विचरण करने वाले। एकार्णव=एक समुद्र में। संपृक्त=एक साथ। वीचियों=लहरों। अप्रतिहत=अबाधित, अपराजित, अक्षुण्ण; जिसकी गति किसी प्रकार भी रोकी न जा सके। काल-रन्ध्र=काल के छिद्र। अन्तर्नभ= सूक्ष्म आंतरिक हृदयाकाश। परिधि-भंग=सीमा का भंजन करने वाला।

अर्थ—(प्रेम व्यापक रूप धारण करने पर देश-काल की सीमाओं को

तोड़कर सृष्टि के अणु-अणु में व्याप्त हो जाता है। इस भाव की पुष्टि करते हुये उर्वशी कहती है—)

प्रेम की इस अवस्था में हम दोनों त्रिलोकवासी तथा त्रिकालचर हैं। काल-भेद को परे हटाकर हम भूत, भविष्य और वर्तमान के एक ही समुद्र की प्रत्येक लहर में, उसकी हर बूंद तथा बूंद के भी प्रत्येक अंश में एक साथ तैर रहे हैं तथा उनमें समाये हुए हैं। हमारे हृदय की धड़कन अबाध गति से तीनों लोकों में समायी हुई है तथा हमारी उत्तप्त श्वासों से निःसृत मदमस्त सौरभ प्रत्येक काल के रन्ध्रों में आपूर्यमान है। .

(उर्वशी पुरूरवा से प्रश्न करती है कि) प्राणों की सीमा को भंग करके हमारे चित्त में अनुस्यूत जिस प्रेम तत्त्व का यह प्रसरण हुआ है और जिसके कारण अपार महिमाशाली सुख सृष्टि के अणु-अणु में फैल रहा है उसे हम कहाँ पर समेट कर रखें।

विशेष—इस पद्यांश में 'प्रतिबिम्बवाद' की झलक है। प्रतिबिम्बवाद के अनुसार जीव के हृदयस्थित भाव चित्र की विशदता के उपरान्त सृष्टि के जड़-चेतन, स्थावर-जंगम, लोक-परलोक तथा बाहर-भीतर सबमें उसका यही भाव प्रतिबिम्बित होता है। जिस प्रकार यहां "**काल-रन्ध्र भर रहा हमारी सांसों के सौरभ से**" जैसा भाव प्रकट किया गया है उसी प्रकार जायसी के 'पद्मावत' से प्रतिबिम्बितवाद का एक उदाहरण देखिये—

"नैन जो देखा कमल भा, निरमल नीर शरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर॥"

—जायसी : पद्मावत : मानसरोदक खण्ड।

पुरूरवा

महाशून्य के······संचित है।

शब्दार्थ—महाशून्य=ब्रह्म। अन्तर-गृह=ब्रह्मलोक। दिक्काल=दिशा-काल। निरभ्र=बादलों से रहित, स्वच्छ, निर्मल। नीलान्तरिक्ष=नीले अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश। निर्जर=जरा-रहित। मंजूषा=पिटारी। सर्ग-प्रलय=सृष्टि की प्रलय। पुरावृत्त=पुराने आख्यान। समग्र=सारे।

प्रसंग—पूर्व पद में उर्वशी ने यह प्रश्न उठाया था कि सृष्टि के अंश-अंश में हमारे प्रेम का जो स्वरूप आच्छादित एवं व्याप्त है उसे हम कहां पर समेट कर रखेंगे ? आने वाले इस पद में पुरूरवा ने इसका समुचित उत्तर दिया है।

अर्थ—(सुख की इस अपार महिमा को) ब्रह्मलोक के उस अद्वैत भवन में रखा जा सकता है जहाँ पहुंच कर दिशा तथा काल का कोई भेद नहीं है और इस निरभ्र नीलान्तरिक्ष की जरा-रहित पिटारी में सृष्टि-प्रलय के सभी पुराने आख्यान संचित हैं।

दूरागत······ले जाना है।

शब्दार्थ—दूरागत=दूर से आई हुई। सतत-संचरण-मय=निरन्तर प्रवाहित होने वाली। समीर=वायु। कथा आदि की=प्रेम-कथा। ब्रह्म प्रेम स्वरूप है। अपने प्रेम के बीज से ब्रह्म ने इस जगत की सृष्टि की है। श्रुति=कान।

अर्थ—दूर से आ रही इस निरन्तर प्रवाहित होने वाली वायु के साथ प्रसरण होने वाली जो आदि प्रेम-कथा है उसे (हमें) सृष्टि के अन्त तक ले जाना है।

विशेष—भाव यह है कि हमारे प्रेम का आख्यान इतना महत्वपूर्ण होना चाहिये कि देश-काल की सीमा को छोड़कर वायु की भांति सर्व प्राणिजगत में छा जाय और हमारी प्रेम-कथा तब तक जीवित रहे जब तक यह सृष्टि विद्यमान है।

इन पंक्तियों का यह भाव भी हो सकता है कि हम अपनी प्रेम-कथा को अन्त की श्रुति अर्थात् ब्रह्मा के कानों तक ले जाकर ही छोड़ें। यह न हो कि हम बीच में ही दिग्भ्रमित हो जायं।

इस प्रदीप्त······प्रणय का।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—प्रलय होने तक यह सृष्टि इस चांदनी रात की गोद में बैठकर इसी भाँति हमारे रहस्यमयी प्रेम का गुंजन सुनती रहेगी।

विशेष—इन पंक्तियों में '**इसी भांति**' शब्द विशेष दर्शनीय है। पुरूरवा का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार इस समय हमारा प्रेम सर्वत्र व्यापक है उसी प्रकार हमारे दिव्यलोक में चले जाने पर भी हमारे प्रेम की यह कथा सबके प्रेम का विषय बन जाएगी। इसका महत्व कभी क्षीण नहीं होगा बल्कि 'इसी भांति' शाश्वत रहेगा।

उस अदृश्य······करते हैं।

शब्दार्थ—अदृश्य=ब्रह्म।

अर्थ—हमारा यह प्रेम किसी नये मार्ग का अनुसन्धान नहीं है। हम तो उस आदि ईश्वर के आदि प्रेम-मार्ग का ही अनुवर्तन कर रहे हैं। उसी की दयासिक्त, मृदु-मुस्कान के प्रकाश में हम दोनों घूम-घूम कर प्रेम का बिहार कर रहे हैं।

जिसकी इच्छा······नारी का।

शब्दार्थ—कन्दुक=गेंद (प्राणी)। सविता-सोम=सूर्य और चन्द्रमा। अपरिमित=असंख्य। उडु-मंडल=नक्षत्र-मण्डल, तारे।

प्रसंग—प्राचीन वाङ्मय में यह प्रश्न उठा कि जगत की सृष्टि कैसे बनी? आकाश एवं पाताल लोक कैसे निर्मित हुए? सूर्य, तारे, चन्द्रमा तथा नवग्रहों का रचयिता कौन था? तथा पुरुष तथा स्त्री की रचना कैसे हुई। दूसरा प्रश्न यह उठाया गया कि ये निर्मितियाँ किस उद्देश्य से हुईं? पहले प्रश्न का उत्तर यह है कि जब आदि ब्रह्म को अपने चित्त का विकास करने की सूझी तो उसने अपने अंश का विस्तार किया। परिणामस्वरूप त्रिलोक की निर्मिति हुई। इस त्रिलोक की रचना करने का मुख्य उद्देश्य था—सौन्दर्य-दर्शन। परब्रह्म यह देखना चाहते थे कि देखूं मैं कितना सुन्दर हूं। "ईश्वर अंस जीव अविनासी"—तुलसी। इस प्रकार इस सिद्धान्त पर विश्वास करने वाले इस सृष्टि को सत्य मानते हैं क्योंकि यह आदि ईश्वर का अंश है। उसकी जब इच्छा होगी तब इसे समेट कर अपने भीतर अवस्थित कर लेगा। नीचे की पंक्तियों में कवि ने इसी दर्शन की काव्यमयी अभिव्यक्ति की है।

अर्थ—भूतल, पाताल और गगन उस ब्रह्म की इच्छा का ही विकसित

रूप है। आकाश लोक में अगणित सूर्य, चन्द्र, ग्रह-मण्डल तथा नक्षत्ररूपी कन्दुक परिलक्षित हो रहे हैं; वे सब इस अनन्त की लीला का प्रसार हैं। नारी और पुरुष की सृष्टि भी परब्रह्म ने अपनी लीला के लिए की है। नारी का रूप धारण करके वह पुरुष के चित्त को आलोड़ित करता है। और पुरुष-कान्ति बन कर वह नारी के हृदय-पुष्प को वेधता है (तथा इसी में आनन्द लेता है)।

(भाव यह है कि हम और तुम प्रेम की जो यह क्रीड़ा कर रहे हैं, वह सब परब्रह्म का खेल है। हमारा व्यक्ति पक्ष इसमें गौण है। हम तो केवल उसके संकेत पर चलने वाले हैं)।

विशेष—'कामायनी' में भी अप्रत्यक्ष रूप में इसी भाव की पुष्टि की गई है, यथा—

"विश्वदेव, सविता या पूषा सोम, मरुत्त, चंचल पवमान;
वरुण आदि सब घूम रहे हैं किसके शासन में अम्लान ?"

—प्रसाद : कामायनी : आशा : ३५.

निधि में जल,······पट हैं।

शब्दार्थ—निधि=समुद्र। घनावरण=घना परदा। रक्त-मांस-विग्रह=रक्त और मांस का यह शरीर। भंगुर=नाशवान। विभा=ज्योति, प्रेम-ज्योति। पट=परदे।

प्रसंग—यह प्रेम सब में व्यापक है मगर इसके ऊपर अनेक आवरण चढ़े हुए हैं जिनको फाड़कर ही उस सूक्ष्म प्रेम का दरस किया जा सकता है। यह प्रेम ब्रह्म का ही अंश है, अतः ब्रह्मरूप है। जो इसकी खोज कर लेता है वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है। स्थावर तथा जंगम में यह आवरण क्या है ? इसी की व्याख्या नीचे की पंक्तियों में की गई है।

अर्थ—समुद्र में जल, बन में हरीतिमा तथा क्षणभंगुर शरीर में जो रक्त और मांस है वह उस प्रेम-ज्योति पर आच्छादित गहन आवरण है जिसको चीर कर ही आत्मरूप प्रेम-तत्व को प्राप्त किया जा सकता है।

प्रणय श्रृंग······जाता है।

शब्दार्थ—प्रणय-श्रृंग=प्रेम का उच्च शिखर। निश्चेतनता=चेतना-

रहित। श्लथ—शिथिल, ढीली। असंज्ञ=संज्ञा हीन। अदृश्य=परम प्रेम-रूप ब्रह्म।

अर्थ—प्रेम की उन्मुक्त अवस्था में जब प्रेमी अधीर एवं चेतना शून्य होकर प्रेमिका का आलिंगन करता है तो उससे देह आलिंगित होकर शिथिल नहीं होती अपितु यह प्रेम की ज्योति ही आलिंगन-पाश में बंधती है और जब हम अचेत और संज्ञाहीन होकर परस्पर अधरों का चुम्बन करते है तो वह चुम्बन परम प्रेम रूप परब्रह्म के चरणों में भी सर्मापित हो जाता है।

विशेष—'निश्चेतनता' और 'असंज्ञ' शब्द यहां पर द्रष्टव्य हैं। चेतना-रहित एवं संज्ञाहीन होकर प्रेमी शरीर की परिधि से परे हटकर आत्मरूप हो जाता है। 'रक्त-मांस-विग्रह' के पट फट जाने पर प्रेम का शाश्वत रूप सामने आता है। यही ब्रह्म की लीला का अंश है। अतः इस अवस्था में किया गया प्रत्येक प्रेम-कर्म उस अदृश्य के चरणों पर चढ़ना स्वाभाविक है।

देह मृत्ति,······आकारों में।

शब्दार्थ—मृत्ति=मिट्टी।

अर्थ—शरीर अवश्य मिट्टी है; नाशवान है मगर शरीर के भीतर से आभासित होने वाली प्रेम की किरणें भंगुर नहीं हैं अपितु प्रेम तो शाश्वत है। पुरूरवा का कथन है कि आज मैं तुम्हारे जिन मधुर ओठों का चुम्बन कर रहा हूं वे समय पाकर नष्ट हो जायेंगे क्योंकि जीवधारी का सौन्दर्य कभी शाश्वत नहीं रह सकता मगर उन ओष्ठों के चुम्बन से हृदय में जो अमर संगीत ध्वनित होता है उसकी झंकृति हृदय से कभी लुप्त नहीं होती। प्रेम की यह अरूप-आभा उस निराकार ब्रह्म के चरणों में अर्पित हो जाती है जो सब प्राणियों में जाग रहा है।

उर्वशी

रोम रोम······जाती हूं?

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—उर्वशी कहती है कि हे प्रियतम, हम दोनों के प्रथम दर्शन में जो प्रेम का बीज मेरे हृदय में उत्पन्न हुआ था वह अब पुष्पित एवं पल्लवित होकर वृक्ष का रूप धारण कर चुका है। तुम्हारे आलिंगन-पाश में बंधकर

मेरे रोम-रोम में प्रेम का तरंगित एवं फेनिल वृक्ष उत्पन्न हो गया है जिस पर चढ़कर मैं आकाश की ओर न जाने कहां उड़ी जा रही हूं ?

पुरूरवा

देह डूबने……रहा है।

शब्दार्थ—किरणें=प्रेम की किरणें । अरूप=ब्रह्म । रूप=पार्थिव शरीर में निहित प्रेम तत्त्व ।

अर्थ—पुरूरवा दार्शनिक शब्दावली में उर्वशी की जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहता है कि इस समय हमारा शारीरिक प्रेम अन्तर्मुखी होकर अतल मन के सीमा-रहित प्रेम सागर में डूबने जा रहा है। ऐसी अवस्था में चित्त के सभी राग-द्वेष समाप्त हो जाते हैं और स्वच्छ एवं निर्मल हृदय ब्रह्म-रूप हो जाता है अतः हमारे प्रेम की ऐसी शुभ्रावस्था देखकर अरूप (ब्रह्म) अपनी प्रेम की किरणों के सहारे हमारे अन्तर में निहित प्रेम को ऊपर (उर्ध्वलोक में) खींच रहा है।

उर्वशी

करते नहीं……कहां है ?

शब्दार्थ—उष्ण=गर्म । प्रस्तर=पत्थर ।

अर्थ—उर्वशी देवलोक की कन्या है। वहां की शीतलता से ऊबकर ही वह धरती पर मसृण प्रेम का आनन्द लूटने आई थी। वह नहीं चाहती कि पुनः उस निस्पंद लोक में जाये। अतः पुरूरवा से कहती है—

हम इस समय कहां चले जा रहे हैं ? जिस सघन एवं उष्ण वायु में हमने प्रेम-क्रीड़ायें की थीं वह वायु हम कहां छोड़ आये ? (तुम उर्ध्वलोक के सपनों में भला क्यों खोये हुए हो ?) मिट्टी और पत्थर की इस ठोस धरती पर अपने पैर क्यों नहीं जमाते ?

पुरूरवा

छूट गयी……रहे हैं।

शब्दार्थ—सरल है ।

अर्थ—पुरूरवा कहता है कि अब अधोमुखी होना व्यर्थ है। शरीर के बन्धन को तोड़कर अब मेरा प्रेम तत्त्व उस उर्ध्वलोक का विचरण किया

चाहता है। अतः 'अन्नमय' एवं 'प्राणमय' कोष से ऊपर उठकर अब हम 'मनोमय कोष' में पहुंच गये हैं।

यह धरती हमारे पैरों के नीचे से छूट गई है। अब हम देह का परित्याजन करके आभा की झंकारों के सहारे मनोमय लोक में पहुंच रहे हैं।

फूलों का······रहा है ?

शब्दार्थ—भुवन=लोक, संसार। शृंग=चोटी। हेर=देखना।

अर्थ—उर्वशी के हृदय में एक दूसरी जिज्ञासा उत्पन्न होती है। वह अपने प्रियतम पुरूरवा से पूछती है—

यह पर्वत की चोटी सम्पूर्ण लोक के पुष्पों को अपने सिर पर उठाये मुदित होकर हमारी तरफ क्यों देख रही है ?

पुरूरवा

अयुत युगों······मिलन का।

शब्दार्थ—अयुत=अलग-अलग। प्रसून=फूल। जोहते=देखते हैं।

अर्थ—अलग-अलग युगों में ये पुष्प अनवरत रूप से पुष्पायित होते हैं और नित्य-प्रति हमारे इस महान् आत्मिक मिलन का पन्थ देखते रहते हैं।

विशेष—ऊपर के दो पद्यांशों में कवि ने जिस पर्वत और पुष्पों की चर्चा की है, वे साधारण पुष्प तथा पर्वत-शृंग नहीं हैं। जब मानस पार्थिव परिधि को परे छोड़कर आत्मिक प्रेम के उच्च शिखर पर पहुंच जाता है तो उसकी आत्मा रोमांचित एवं पुष्पित हो उठती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आत्मिक प्रेम की उच्चता तो शिखर हुई और उस रोमांच से उत्पन्न आनन्द रंग-बिरंगे आह्लादकमयी पुष्प हुए।

जब भी तन······लगते हैं।

शब्दार्थ—समाधि-सुख=प्रेम की सहज समाधि से उत्पन्न सुख। निलय=घर, मांद। प्रहर्ष=हर्षित होकर। निश्चेत=चेतना रहित।

प्रसंग—पुरूरवा के माध्यम से कवि निम्न चार पंक्तियों में उपरोक्त शिखर तथा पुष्पों की व्याख्या करते हैं।

अर्थ—जब भी नर-नारी शरीर की सीमा तोड़ कर मन के उच्च तथा गहन गह्वर प्रदेश में पहुंच जाता है और प्रेम-समाधि के सुख को पाकर चेतनारहित शिखर पर पहुंच जाता है तब युगल-प्रेमी की अत्यधिक प्रसन्नता के कारण सारी प्रकृति रोमांच से कांप उठती है। परिणाम स्वरूप, प्रकृति का रोमांच ही ये पुष्प हैं जो प्रसन्न होकर हँसते हुए दिखाई देते हैं।

उर्वशी

जला जा······महिमा को ?

शब्दार्थ—निराकार=परब्रह्म। आकारों=प्राणियों। रक्त-शिराओं=धमनियों। उर्मियां=लहरें। नाद=झंकार। गिरा=वाणी।

प्रसंग—उर्वशी शारीरिक प्रेम को ही सत्य मानती है। उर्ध्वलोक की महिमा को वह नहीं मानती। शरीर में निहित अरूप प्रेम तत्व से उत्पन्न अलौकिक आनन्द; इसकी चमत्कृत ध्वनि तथा इससे उत्पन्न अशब्द झंकृति को यह नहीं मानती। अत: पुरूरवा से कहती है—

अर्थ—उर्वशी कहती है कि मैं शरीरवादी प्रेम को ही सत्य मानती हूं। आज यह स्वप्नलोक की ज्वाला में जला जा रहा है और निराकार परब्रह्म के आश्रय में आकर हम प्राणियों की धरती डूबती जा रही है (प्रेम पाश में बंधने पर उर्वशी के हृदय में एक विशेष मधुरता, अलौकिक नाद तथा चमत्कृत संगीत सा उत्पन्न होने लगता है, जिसे अन्तर-निहित कर्ण-गह्वरों से सुनकर वह आश्चर्यचकित हो जाती है और अपने प्रेमी पुरूरवा से प्रश्न करती है)—(शरीर की इन्द्रियजन्य मधुरता से भिन्न) यह कैसी मधुर अनुभूति मेरे मानस में झंकृत हो रही है ? मेरी त्वचाओं, धमनियों तथा असीम अन्तर में ये कौन सा स्वर है जो सस्वर रूप में गूंज रहा है। चित्त से उत्पन्न ये उर्मियां तथा शब्द रहित झंकृति (क्या है ? इसे मैं नहीं समझ पाती)। जब उर्वशी इस अनन्त आनन्द को प्रकट करने में अपने को असमर्थ पाती है तो खीझ कर कह उठती है कि उफ ! मेरी यह जिह्वा भी न जाने क्यों बेबस सी हो गई है। इस आनन्द को प्रकट करने में अपने आपको बिलकुल असमर्थ पाती है। हे पुरूरवा ! क्या मुझे कोई ऐसा उपाय बता सकते हो जिससे मैं अपने भावों

को शब्दों में बांध सकूं तथा इस महिमा का किस रूप में व्याख्यान करूँ।

विशेष—जब प्रेम की सीमाएँ झंकृत होकर निराकार के अखण्ड प्रेम में समा जाती हैं तब हृदयाकाश में रस की वर्षा सी होने लगती है। बिना बाजों के झंकार सी उठती है। जब उर्ध्वलोक पर पहुंच जाते हैं तभी उसी का स्वर समझ में आता है—

"रस गगनगुफा में अजर झरे।
बिन बाजा झनकार उठे तहँ समुझि परे तब ध्यान धरे।"

—कबीर

पुरूरवा

शब्द नहीं······प्राणों की।

शब्दार्थ—अगोचर=न दिखने वाला। प्रणय-प्रज्ज्वलित=प्रेम से उत्तप्त। रूपाश्रित=रूप पर आश्रित।

अर्थ—प्रेम के इस अलौकिक आनन्द का चर्वण करने के उपरान्त इसको शब्दों का आधार लेकर व्यक्त नहीं किया जा सकता। यह तो गूंगे के गुड़ के समान (**मूकास्वादनवत्**) अव्यय है। अर्थात् जिस प्रकार गूंगे को गुड़ खिलाने के बाद उसके आनन्द के बारे में पूछा जाय तो वह इशारों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं कह सकता। इसी प्रकार यह प्रेमानन्द है जो केवल भाव-मुद्राओं से ही व्यक्त किया जा सकता है। शब्दावली का आधार इसमें नहीं है। यह सुख जीव की स्थूल एवं सूक्ष्म दृष्टि से परे अगोचर है। सिद्ध प्रेमी इसको कहकर भी नहीं कह पाते क्योंकि भाषा तो केवल उसी का नखशिख चित्रण कर सकती है जो रूपधारी हो मगर प्राणों में तरंगित होने वाला यह प्रेम तो अरूप है; इसका कोई आकार-विकार नहीं, फिर भला, इसको भाषा के माध्यम से कैसे व्यक्त किया जा सकता है।

विशेष—गूंगे के गुड़ की महिमा 'कबीर' ने भी मुक्त कण्ठ से गाई है—

"कह कबीर गूंगे गुड़ खाइया,
पूछे तो किमा कहिये।"

उर्वशी

हे पुरुष ! तुम कौन हो ?

पुरूरवा

जो अनेक……आभा सी ।

शब्दार्थ—कल्पों=युगों, वर्षों । शुभ्र=श्वेत ।

अर्थ—उर्वशी के प्रश्न का उत्तर देते हुए पुरूरवा कहता है कि मैं वह पुरुष हूं जो असंख्य अन्धकारपूर्ण युगों से बार-बार मृत्यु का उल्लंघन करता हुआ तुम्हें ढूंढता फिरता रहा। इतना ही नहीं मैंने तुम्हें अनेक बार जन्म लेकर अनेक कुंजों, वीथियों (प्रकृति के प्रांगण में) तथा प्रार्थनाओं में ढूंढा। सौभाग्यवश, अपने पुष्प रूपी शरीर में अनन्त युगों का सौन्दर्य लिए हुए एक दिन तुम अचानक हीं मुझे शुभ्र मेघों की माला में मिलीं ।

विशेष—इस पद की प्रथम दो पंक्तियों के अनुरूप ही एक मुसलमान शायर की दो पंक्तियां द्रष्टव्य हैं—

"जब से सुना है मरने का नाम जिन्दगी है,
सिर से कफन लपेटे कातिल को ढूंढता हूं ।"

उर्वशी

और, मैं कौन हूं ?

पुरूरवा

ठीक-ठीक……गयी हो ।

शब्दार्थ—अन्तर=हृदय । निभृत-निकेतन=विशाल, भव्य भवन । स्वरित=स्वर अर्थात् संगीत देने वाले । मुदित=प्रसन्न । शैल=पर्वत ।

अर्थ—पुरूरवा उर्वशी के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहता है कि हे उर्वशी! मैं ठीक-ठीक नहीं बता सकता कि तुम्हारा वास्तविक रूप क्या है ? लेकिन हां, इतना अवश्य जानता हूं कि तुम्हारे प्रवेश करते ही मेरे अन्तर का द्वार (जो युग-युगों से बन्द पड़ा था) अपने आप खुल गया और मेरे प्राणों का भव्य निकेतन प्रेम के सुरीले तथा रंगमयी रागों से गुंजायमान हो उठा । (पुरूरवा का यह विचार है कि तुम्हारे आगमन से केवल मुझे ही अनन्त

आनन्द की अनुभूति नहीं मिली, अपितु यह सम्पूर्ण-भुवन ही तुम्हारे सौन्दर्य पर मुग्ध है)। अतः पुरूरवा कहता है कि जब से तुम इस धरती पर आई हो तब से यह पृथ्वी भी कुछ अधिक प्रसन्न दिखाई देती है। पर्वतों का यह विचार है कि हमारे अन्दर से जो अनेक जल-स्रोत निकलते थे। वे भी अब कुछ अधिक रससिक्त होकर बहने लगे हैं। तुम्हारे आगमन से धरती पर फूल भी अधिक खिलने लगे हैं और यह शीतल तथा हरी-हरी प्रकृति में कोई नव्य-चेतना सी दौड़ गई है। (भाव यह है कि तुम्हें पाकर धरती धन्य हो गई। तुम्हारे प्रेम-रोमांच से धरती के पुष्पों में सिहरन आ गई; हृदय में बहने वाले अमित प्रेम-रस से शैल-स्रोत प्लावित हो उठे और प्रकृति की शीतल हरियाली तुम्हारी आभा का प्रकाश पाकर और अधिक दीप्तिमान हो उठी)।

पुरूरवा कहता है कि तुम्हारे रूप-सौन्दर्य को पाकर धरती वाले तो सब सुखी हैं मगर आकाशलोक में चमकने वाले नक्षत्रों की दशा चिन्तनीय है। उन्हें ऐसा लग रहा है जैसे उनके हाथ से कोई वस्तु निकल गई हो।

विशेष—वास्तव में देखा जाय तो धरती, पर्वत, फूल-पौधे तथा सम्पूर्ण प्रकृति तो वैसी ही होती है, जैसी वह पहले थी, मगर प्रेमी तथा प्रेमिका की नजर बदल जाती है। प्रसन्नता के क्षणों में उसे भुवन का अणु-अणु हंसता हुआ नजर आता है।

उर्वशी

और मिले······दिया है।

शब्दार्थ—विद्युत=बिजली।

अर्थ—अब उर्वशी पुरूरवा के प्रथम दर्शन से उत्पन्न अपने हृदय की प्रतिक्रिया का वर्णन करती है—

हे प्रियतम! जब तुम पहले-पहल मेरे भविष्य के नीले तथा धुंधले आकाश पर इन्द्रधनुष के समान आकर्षक रूप में प्रकट हुए थे तब मेरे मानस में (प्रसन्नता के अतिरेक से) बिजली सी कौंध गई थी, (तुम्हारे दर्शन से पूर्व मेरा हृदय शीतल एवं निष्प्राण था इसमें देव-वृत्ति के कारण कोई स्पन्दन नहीं होता था) मगर तुमने मेरे रक्त के कण-कण में, जहां कहीं प्रेम का अंश

दिखाई दिया वहीं उसे छेड़ कर मुझ मूर्छित को (प्रेम से अज्ञात) जगा दिया इसलिए सत्य की कसौटी पर तुम्हीं मेरे जीवन के आधार हो; (तुमने मुझे प्रेम का ज्ञान दिया है, इसलिए) ज्ञान गुरु हो और (चूंकि तुमने मुझे प्रेम का यह पाठ शिष्य समझ कर नहीं अपितु साथी समझ कर दिया है, इसलिए) तुम मेरे सखा, मित्र और सहचर भी हो।

प्राणों में······लतिका-सी।

शब्दार्थ—शुचिता=पवित्रता। सद्यः प्रस्फुटित=अभी खिले हुए। ऋजु=कोमल।

अर्थ—तुम्हें पाकर मेरे प्राण सद्यः प्रस्फुटित कमल की भांति शीतल और पवित्र हो जाते हैं और ऐसा लगता है कि (युग-युगों से जो प्रेम की भावना निष्प्राण सी हो गई थी वह तुम्हें पाकर) कोमल (गुदगुदाने वाले) प्रेम-ज्योति पुनः लौट आई है। तुम्हारी चुम्बनों की फुहार तथा रोमांचित करने वाले आलिंगन की अतिशयता से गहरी निद्रा में सोई हुई लतिका के समान जाग गई हूँ।

विशेष—यहां 'निद्रा से जागी हुई लतिका-सी' वाक्यांश द्रष्टव्य है। जब तक लता पर फूल नहीं खिलते तब तक वह सोई हुई मानी जाती है मगर जब वह पुष्प पल्लवित हो जाती है तब उसे जाग्रतावस्था में कहा जाता है। उर्वशी एक लता के समान है। जब तक प्रेम के पुष्पों ने उसके प्रत्यंगों में स्थान ग्रहण नहीं किया था तब तक यह सोई हुई थी, चुंबन-परिरम्भण से जब उसका शरीर रोमांचित होकर मारे प्रसन्नता के फूट-फूट कर बाहर निकलने को तैयार हो गया तब वह जागी हुई (पुष्पित) लतिका के समान हो गई।

'लतिका-सी' में 'उपमा' अलंकार है।

प्रथम-प्रथम······बादल हैं ?

शब्दार्थ—शिरा-शिरा में=रोम-रोम में। उन्मोचित=खोलना। अन्तरिक्ष =आकाश। जगती=पृथ्वी, संसार।

अर्थ—(उर्वशी पुरूरवा से कहती है कि इस धरती पर आने पर ही मैंने) पहले-पहल पर्वतों से निकलते हुए झरनों के जल का मधुर संगीत सुना है।

(यहां साधारणीकरण की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। उर्वशी के हृदय में जो प्रेम का स्रोत उद्भासित हुआ है वह पर्वत के उद्गम के समान है और तत् उत्पन्न अमित आनन्द का संगीत झरने के संगीत के समान है) लावण्यमयी उषा की लाली को भी मैंने पहले-पहल निहारा है और उसकी द्युति से मैं स्वयं भीगी जा रही हूं (नारी का उषा से साधारणीकरण होना भी स्वाभाविक है। इसका प्रकाश लालिमामय होता है। जब लता सम उर्वशी पुरूरवा की कठोर बातों में बार-बार उलझती है तो वह भी उषा के समान लाज के मारे लाल हो जाती है। प्रेम-रस में भीगी हुई ऐसी उर्वशी का सौन्दर्य द्विगुणित हो जाता है)। उर्वशी कहती है कि हे पुरूरवा ! अनन्त काल से मेरे शरीर के रोम-रोम में जो प्रेम की रागिनी बन्द पड़ी हुई थी उसे तुम्हारे बिना भला कौन झंकृत कर सकता था। (भाव यह है कि देवलोक में तो उसकी सुषुप्त रागिनी को निनादित करने की किसी में क्षमता थी ही नहीं। इसलिए मैं भूलोक में आयी और यहाँ तुम्हारे मानवी-शरीर को पाकर मेरे हृदय में सोए हुए प्रेम का तार-तार बज उठा)। और भला तुम्हारे बिना मुझे यह विश्वास ही कौन दिला सकता था कि यह भूमि (मैं स्वयं उर्वशी जो धरती के समान हूं) किसी अन्य की सृष्टि के लिए अन्तरिक्ष के समान है तथा इस भूतल पर जो वृक्ष झूम रहे हैं वे वृक्ष न होकर उस अन्तरिक्ष पर छाये हुए बादलों के समान हैं।

यह ज्योतिर्मय······होता है।

शब्दार्थ—ज्योतिर्मय=आभावान, देदीप्यमान। कनक-पर्वत=सोने का पर्वत। स्यात्=शायद। मनोज्ञ=मनोहर।

प्रसंग—पुरूरवा के मनोहर शरीर को देखकर उर्वशी का हृदय अन्दर ही अन्दर रीझ उठता है। वह पुरूरवा की शरीर-रचना के सम्बन्ध में विभिन्न कल्पनाएँ करती है। यथा—

अर्थ—हे पुरूरवा ! तुम्हारे इस देदीप्यमान रूप को देख कर मन में अनेक कल्पनाएँ अवरोहित—तिरोहित हो रही हैं। (ऐसा प्रतीत होता है जैसे प्रकृति देवी ने अपनी रुचि एवं भावनाओं के अनुसार किसी स्वर्ण-शैल से एक बड़ी शिला काट कर तुम्हारे जैसे विराट पुरुष की प्रतिमा बनाई थी और फिर

उसमें महाप्राण भर कर पृथ्वी पर गिरा दिया था अथवा इस धरती ने ही स्वर्ग की सुन्दरियों एवं अप्सराओं को लालायित करने के लिए राक्षसों से भी अधिक बलशाली तथा देवताओं से भी मनोज्ञ सिद्ध करने के लिए तुम्हें जन्म दिया है।

विशेष—उत्प्रेक्षा, सन्देह अलंकार।

उफ री यह……आलोड़न में ?

शब्दार्थ—विकच=खिले हुए। पाटल के दल=गुलाब के फूल की पंखुड़ियाँ, (ओष्ठ)। चटुल=चंचल। संक्रमण=प्रवेश। कुसुमायित=पुष्पित। स्वयं स्वयं को= अपने आप अपने को। आसुरी=पाशविक।

अर्थ—उर्वशी पुरूरवा के शारीरिक सौन्दर्य पर विमुग्ध होकर कहती है—उफ! तुम्हारा सौन्दर्य अप्रतिम है। तुम्हारे अधर पुष्पों के समान लालिमायुक्त खिले हुए हैं। जब ये गुलाब की पंखुड़ियां (ओष्ठ) उन्मत्त होकर मेरे सम्पूर्ण आनन का स्पर्श करते हैं तब मेरा एक-एक रोम-कूप न जाने किन पीयूष-कणों से परिप्लावित हो जाता है। और जब तुम अपनी कठोर भुजाओं से मुझे अपने आलिंगन-पाश में आबद्ध कर लेते हो तब तुम्हारे देह में संचरण करने वाली उत्तप्त लहरियां मेरे हृदय में प्रवेश करके उन्मत्त बना देती हैं। अनुपम काम से वासित पुष्पायित पर्वत के समान तुम्हारे लौह-शरीर से लिपट कर कभी मैं रोमांचित हो उठती हूं; (कभी तुम्हारे वज्रायित कठोर-पाश से) व्याकुल हो उठती हूं; (कभी उस आनन्द का अनुभव करके) प्रसन्न हो जाती हूं (और कभी उस अमित आनन्द का अतिशयता से कारण) अपनी चेतना भूल कर मूर्छित हो उठती हूं। वास्तव में पर्वत की पाशविक शक्ति के आकुल आलोड़न में अपने आपका स्वयं ही समर्पण करने में कितना अपरिचित आनन्द है।

विशेष—जब मनुष्य कामासक्त हो जाता है तो उसे अपनी सुध-बुध नहीं रहती। ऐसे समय में उसकी पाशविक शक्ति उभर कर सामने आ जाती है। मनुष्य की इसी स्वाभाविक एवं सहज प्रवृत्ति का चित्रण इस पद की अन्तिम पंक्ति में किया गया है।

इस पद की अन्तिम दूसरी पंक्ति को पढ़कर यह जिज्ञासा पैदा होती है कि लतिका के समान उर्वशी को पुरूरवा की पाशविक प्रवृत्तियों में आनन्द की अनुभूति कैसे होती है। यह काम-शास्त्र का एक मनोवैज्ञानिक प्रश्न है जिसका समाधान प्रसिद्ध नाटककार **'लक्ष्मीनारायण मिश्र''** के नाटक **'वितस्ता की लहरें'** की इस सूक्ति से हो जाता है—**''कोमल को कठोर तथा कठोर को कोमल की आवश्यकता है।''** 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' तथा 'उपमा' अलंकार।

पुरूरवा

हाय, तृष्णा······अम्बर पर ?

शब्दार्थ—गाहन=डूबते। अपर=दूसरे। झम्प=छलांग, कुदान। प्रतप्त=गर्म।

प्रसंग—पुरूरवा उर्वशी के इस शारीरिक प्रेम से ऊब गया है। वह मानव-स्वभावानुकूल शरीर की इस सीमा को उलांघ कर प्रणय के शून्य अम्बर में पहुंच जाना चाहता है। अतः अपनी 'अपर पार जाने' की इच्छा को उर्वशी के सम्मुख प्रकट करते हुए कवि कहता है—

अर्थ—ओह! (मैं क्या करूं! मैं इस शरीर-भोग से तुरन्त पलायन करना चाहता हूं)। बार-बार मेरे चित्त में अशरीर प्रेम-ज्योति की तरंगों में डूब जाने की प्रबल जिज्ञासा तथा पिपासा उत्पन्न हो रही है। बार-बार यही लालसा होती है कि छलांग मार कर चेतना रूपी समुद्र के दूसरे किनारे पर जाकर खड़ा हो जाऊँ और शरीर में उफनने वाली इन उत्तप्त लहरों को सदा के लिए छोड़ दूँ। (अपने हृदय में ही ऊहा-पोह करता हुआ पुरूरवा कहता है कि) क्या कभी मेरा यह प्रेम (पार्थिव-सीमा एवं चार्मिक-सौन्दर्य को लांघ कर) उस शून्य अम्बर (ब्रह्मलोक) में जाकर स्थिर हो सकेगा ?

विविध सुरों······तट है ?

शब्दार्थ—मुकुर=दर्पण। मुकुल=वह कली जिसका मुँह जरा-जरा खुल रहा हो, शरीर, आत्मा।

अर्थ—पुरूरवा कहता है कि मैंने तुम्हारे हृत्तन्त्रों के तारों को विभिन्न स्वरों में बजाकर देख लिया; अपने हृदय-मन्दिर में अनेक रंगों में सजाकर बैठा चुका; चित्र में तुम्हारे विविध रेखा-चित्र खींच कर देख लिए—कभी शरीर में उष्णता पैदा करके हृदय को रोमांचित किया तो कभी अपने मानस के शीतल दर्पण में तुम्हें समझने की कोशिश की और यही नहीं, मैंने अनेक लोकों (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय लोक) में जा जा कर तुम्हें काफी समझने की कोशिश की। मगर कैसी विडम्बना है कि तुम इन सब पाशों से परे विचरण कर रही हो या हे मायाविनी ! मैं तुम्हारे जिस स्वरूप का दर्शन कर रहा हूं उसका मुकुल बन्द बड़ा है अर्थात् हे उर्वशी ! तुम्हारे हृदय की कली अभी तक बन्द पड़ी है। वह अभी तक ऐहिक-भोगों से परे हटकर 'शून्य अम्बर' में जाने की याञ्चा नहीं करना चाहती। तुम प्रेम के महासिन्धु के तट पर बैठी हो। (उसके अन्तर में अवगाहन करने की तुम्हारी कभी जिज्ञासा उत्पन्न नहीं हुई)।

कहां उच्च······आलोड़न में ?

शब्दार्थ—विलय=विलीन, लोप। ग्राम्य=ग्रामीण, जैव।

अर्थ—पुरूरवा प्रणय के शून्य अम्बर तथा जैव धरातल के ग्राम्य प्रेम की तुलना करते हुए उर्वशी से कहते हैं—

अब तुम्हीं बताओ उर्वशी ! कहां तो प्रेम का वह उच्च शिखर जिस पर पहुंच कर काल (समय; यमराज) लोप हो जाता है और कहां यह जैव तृषा जिसमें तुम पर्वत के समान शरीर वाले मुझ प्राणी की आसुरी शक्ति के आकुल आलोड़न को ही सब कुछ समझकर रसातल की ओर बहने की ठान रही हो।

विशेष—संघर्षी पुरूरवा धीरे-धीरे उर्वशी की प्रवृत्तियों को समझने लगे हैं तथा जैव धरातल को हेय तथा असार बताकर उसे अपने साथ ऊपर उठाने का प्रयत्न करते हैं। यहां 'काल' शब्द में 'श्लेष' अलंकार है।

भ्रान्त स्वयं······रही हो ?

शब्दार्थ—सरल है।

प्रसंग—पुरूरवा यह जानता है कि यह देवकन्या है। शून्य-लोक की महिमा को सम्भवतः वह जानती होगी। सम्भवतः यह मेरी चेतना को दिग्भ्रमित करके मेरी परीक्षा ले रही है। अतः अपने चित्त में उठे हुए द्वन्द्व को प्रेयसी के सम्मुख प्रकट कर देता है—

अर्थ—हे उर्वशी ! या तो तुम स्वयं (इस जगती के मायाजाल में फंसकर) भ्रान्त हो गई हो या (सब कुछ जानती हुई) मुझे दिग्भ्रमित कर रही हो !

उर्वशी

भ्रान्ति नहीं······नहीं मिलेगा ?

शब्दार्थ—प्रतियोगी=शत्रु, विरोधी, प्रतिद्वन्द्वी। प्रतिबल=समान बल वाला।

प्रसंग—"आदमी हवा और पत्थर के दो छोरों के बीच झटके खाता है, और झटका खाकर कभी इस ओर, कभी उस ओर मुड़ जाता है। कभी प्रेम ! कभी संन्यास ! और संन्यास प्रेम को बर्दाश्त नहीं कर संकता, न प्रेम संन्यास को क्योंकि प्रेम प्रकृति और संन्यास परमेश्वर है और मनुष्य को सिखलाया गया है कि एक ही व्यक्ति परमेश्वर और प्रकृति दोनों को प्राप्त नहीं कर सकता। उर्वशी पूछती है—क्या ईश्वर और प्रकृति दो हैं ? क्या ईश्वर प्रकृति का प्रतिबल है, उसका प्रतियोगी है ? क्या दोनों एक साथ नहीं चल सकते ? क्या प्रकृति ईश्वर का शत्रु बनकर उत्पन्न हुई है अथवा क्या ईश्वर ही प्रकृति से रुष्ट है ?" —उर्वशी की भूमिका : च

इन प्रश्नों को उठाकर उर्वशी पुरूरवा के हृदय में प्रकृति और परमेश्वर के प्रति उत्पन्न द्वैत भावना को शान्त करने का प्रयत्न करती है। इसके आधार पर प्रकृति और परमेश्वर की एकता की अनुभूति ही सर्वश्रेष्ठ है। इन दोनों में परस्पर कोई प्रतियोगी नहीं है। अपने इन्हीं मूल भावों को कविता के माध्यम से कवि ने विस्तारपूर्वक वर्णित करने को चेष्टा की है।

अर्थ—उर्वशी पुरूरवा की प्रकृति (जगत) और परमेश्वर (संन्यास) के विषय में उत्पन्न भ्रान्त धारणा का समाधान प्रस्तुत करती हुई कहती है—

(प्रकृति और परमेश्वर के विषय में मेरे हृदय में किसी प्रकार की) भ्रान्ति नहीं है अपितु मैंने तो अनुभूति के द्वारा उसको अच्छी तरह समझ लिया है। जिसे हम सब ईश्वर कहते हैं वह न तो प्रकृति का शत्रु है; न उसका प्रतिद्वन्द्वी है और न उसके समान बल वाला है। यह तुम्हें किसने कह दिया कि प्रकृति और परमेश्वर एक साथ नहीं रह सकते ! (तुम्हारे चित्त में यह भ्रान्त धारणा किसने उत्पन्न की है कि) जो ईश्वर तक जाना चाहता है उसे प्रकृति से अपने सारे सम्बन्ध तोड़ लेने होंगे (और तुमको किसने बहका दिया कि) जिस प्राणी का हृदय प्रकृति के रस में रमा हुआ है उसे और चाहे कुछ भी मिल जाय मगर परमेश्वर नहीं मिल सकता।

विशेष—उपरोक्त पंक्तियों में कवि ने उर्वशी के माध्यम से शंकर आदि के अद्वैतवाद में निहित '**मायावाद**' का घोर खण्डन किया है। मायावाद के अनुसार '**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या**' का सिद्धान्त सर्वप्रचलित है। अद्वैतवादी प्रकृति को 'माया' मानकर ब्रह्म के पथ में उसको सबसे ज्यादा बाधक मानते हैं। **कबीर** ने अपनी कविता में 'मायावाद' का घोर विरोध किया है—

"माया महा ठगनि हम जानी।
त्रिगुण फांस लिए कर डोले, बोले मधुरी बानी।"

× × ×

कबिरा माया बेसबा, दोऊ की एकै जाति।
आवत को आदर करे, जात न पूंछे बाति॥

—कबीर

कवि इसी मायावाद का खण्डन करके दोनों का सुरम्य सामंजस्य करना चाहता है।

किसने कहा······नहीं है ?

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—यह तुम्हें किसने कहा कि जो नारी पुरुष को भली प्रकार जान लेती है उसके लिए परम सत्ता का ज्ञान अलभ्य है और वह पुरुष, जो एक रमणी को अपने आलिंगन में बांध चुका है, देश-काल की सीमा का भेदन करके शून्य अम्बर में उठने योग्य नहीं है।

ईश्वरीय जग······जाती है।

शब्दार्थ—गोचर=नजर आने वाले। मृषा=झूठ।

अर्थ—ईश्वरीय जग (शून्य लोक) इस गोचर जगत से भिन्न नहीं है। अपितु (तुम्हारे द्वारा कहे गए) इसी अपवित्र (जगत में) वह अदृश्य ब्रह्म अपने पावन अंश में बसा हुआ है। भाव यह है कि इस जगत की सृष्टि ब्रह्म के ही सौन्दर्य अंश से हुई है। अतः यह सत्य रूप तो है ही। हे पुरूरवा! इस प्रकृति को माया कहकर क्यों वृथा ही प्रकृति का अस्तित्त्व मिटाने पर तुले हुए हो। ये (प्रवाहित होने वाली) नदियां; (विकसित होने वाले) फूल; (लहलहाते हुए) वृक्ष और हम-तुम—सब शून्य ब्रह्म के मंच पर सत्त्वशील, जीवित तथा साकार रूप में खड़े हुए हैं। यहां तक कि यहां पर रहकर हम जो कुछ करते हैं उसकी गन्ध हवा में उड़ते-उड़ते दूर जन्म-जन्मान्तर तक पहुंच जाती है। (भाव यह है कि यदि प्रकृति और परमेश्वर का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध न होता तो फिर जड़-चेतन में ये प्राण और सत्त्वशीलता कहां से आई? साथ ही, हम जो कुछ कर्म करते हैं, अगले लोक में उसका फल कैसे मिल जाता है? यह और कुछ नहीं है, केवल परमात्मा की महिमा है जो अपने जीवों का सारा लेखा-जोखा अपने मस्तिष्क में रखता है और जीव के उन्हीं कर्मों के अनुसार दुःख-सुख प्रदान करता है। अतः प्रकृति और परमात्मा में अंश-अंशी सम्बन्ध स्थापित है। अतः जीव को मोक्ष की प्राप्ति के लिए दोनों में रति लगानी होगी)।

शिखरों में······दिखता है।

शब्दार्थ- शिखरों=पर्वत की चोटियों। गर्त्त=गड्ढा। तिमिरपुरी=जगत।

अर्थ—'ब्रह्म सर्वव्यापक है। स्थूल तथा सूक्ष्म—दोनों तत्त्वों में इसका सतत प्रवेश है'—उर्वशी इस सत्य का उद्घाटन करते हुए पुरूरवा से कहती है—

पर्वतों के उच्च शिखर पर जो मौन रूप में समाधिस्थ होकर बैठा है वही झरनों में समाकर घोर गर्जन कर रहा है। जिस ब्रह्म का तेज ऊपर आकाश

लोक में प्रतिभासित हो रहा है वही यहाँ तम के गहन गर्त्त में भी छिपा बैठा है। (जब जड़ और चेतन तथा प्रकाश और अन्धकार एवं भूतकाल तथा आकाश सब में वह ब्रह्म की ज्योति समान रूप से व्याप्त है तो फिर तुम किस भय से भयभीत होकर नीचे की इस तिमिरपुरी से भाग रहे हो ! ऐसा कौनसा लोभ है जो तुम्हें ऊपर की ओर खींच रहा है । (ऊपरी प्रकाश के लोभी पुरूरवा को एक अन्य कटु सत्य का संकेत देती हुई उर्वशी कहती है कि) जब मनुष्य (जो कि ब्रह्म की शक्ति का एक अंश मात्र है) सूर्य (ब्रह्म) की प्रखर किरणों से साक्षात्कार करने की लालसा करता है तो उसके पास जाते ही वह अन्धा हो जाता है। भाव यह है कि ब्रह्म के उस अमित प्रकाश को अपने हृदय में समेटने में जब वह असमर्थ पाता है तब विमूढ़ होकर वह अपने नेत्र बन्द कर लेता है। और कोई पुरुष ऐसा होता है कि अन्धकार में ही उस ब्रह्म की ज्योति को खोज निकालता है (और धीरे-धीरे उसे अपने में समाविस्थ करके स्वयं ब्रह्म रूप हो जाता है। अतः अन्धकार से प्रकाश की ओर जाना अधिक श्रेयस्कर है।

मुक्ति खोजते······आज्ञाओं का,

शब्दार्थ—प्रसून= फूल। निग्रह=परित्याग।

अर्थ—उर्वशी कहती है—क्या तुम मुक्ति की खोज कर रहे हो ? लेकिन यह तो बताओ कि आखिर वह कौनसा बन्धन है जो तुम्हारे मुक्ति के रास्ते में अवरोध बन रहा है ? (प्रकृति-प्रांगण में खिलने वाले) ये फूल हैं या (मुक्तवेग से प्रवाहित होने वाली) यह हवा है जो तुम्हें बांध रही है या मैं तुम्हें (अपने पार्थिव प्रेम में) बांध रही हूं ! अच्छा जाओ ! तुम्हें पूर्ण स्वच्छन्दता है। तुम इस प्रकृति के उन मनोहर पुष्पों, इस सर्वव्यापक हवा तथा मेरे पाश-जाल से खुल कर मुक्त हो जाओ। अब बताओ क्या तुम्हारे ऊपर (सामाजिक अथवा नैतिक) नियम, संयम, निग्रह तथा शास्त्रों की आज्ञाओं का कोई बन्धन नहीं है ? (अर्थात् हैं, मनुष्य इन बन्धनों से मुक्त नहीं हो सकता। जब कभी वह आयाम-व्यायाम करके उनमें से निकलने की चेष्टा करता है तो वह न तो जगत के ही काम का रहता है, जहाँ सहज गति से ही इस दिव्य ब्रह्म की अनुभूति हो जाती है और न दिव्य-लोक के ही लायक

रहता है। उस पर तो 'धोबी का कुत्ता घर का न घाट का' वाली कहावत चरितार्थ हो उठती है)।

मोह मात्र······पायेगी।

शब्दार्थ—प्रकृत=जैव, स्थूल, जागतिक।

अर्थ—केवल बन्धन मात्र ही मनुष्य को दिग्भ्रमित नहीं करते अपितु मानव के अन्दर एक विचार तत्त्व भी है जो दूसरे मनुष्य के चित्त में यह थोपने का प्रयत्न करता है कि प्रकृति और परमेश्वर दो भिन्न-भिन्न शक्तियां हैं। (मनुष्य एक ही शक्ति को अंगीकृत कर सकता है)। यदि उसने एक बार ईश्वर को प्राप्त कर लिया तो वह प्रकृति के हाथों से जाता रहेगा, अर्थात् प्रकृति फिर उस पुरुष को पाने में असमर्थ होगी।

प्रकृति नहीं······सिखलाती है।

शब्दार्थ—भ्रमित=भ्रम अथवा सन्देह में डालने वाली। धी=बुद्धि। वर्जन=परित्याग।

अर्थ—(जो व्यक्ति प्रकृति को माया कहकर उसका तिरस्कार करता है वह दिग्भ्रमित है। वास्तव में,) प्रकृति माया नहीं है, अपितु माया तो वह बुद्धि है जो सदा भ्रम में रहती है। सर्प के समान उसकी जिह्वा बीचो-बीच फटी हुई है। अपनी एक जिह्वा से तो वह सुख का अर्जन करने की बात कहती है और दूसरी तरफ प्रकृति आदि की ओर से अपनी वृत्ति को हटा लेने का उपदेश देती है।

विशेष—'उपमा' अलंकार। कवि ने बुद्धि को सर्प के समान दो जिह्वा वाली बताकर एक तथ्य को सामने प्रस्तुत कर दिया कि बुद्धि तर्कमयी होती है जहाँ व्यक्ति तर्कजाल में फंस जाता है वहां वह रस को नहीं पा सकता अपितु सूखे रेगिस्तानी टीलों में मारा-मारा फिरता है। अतः उर्वशी यह कहना चाहती है कि हे पुरुष पुरूरवा! तुम अपनी वृत्ति को सहज तथा श्रद्धामयी बना लो। फिर तुम्हें स्वतः अनायास ही अपने इष्ट की सिद्धि हो जाएगी।

मर्म की कृति······रहती है।

शब्दार्थ—विभक्त=विभाजित।

अर्थ—द्वैत भाव की रचना मन ने की है। वास्तव में प्रकृति में किसी प्रकार का द्वैत भाव नहीं है (वह निश्चय ही परमेश्वर की सहचरी है)। (मनुष्य द्वारा निर्मित भ्रान्त धारणा से) जब तक यह प्रकृति काले और सफेद खंडों में विभाजित है तब तक यह सम्पूर्ण विश्व हमें माया-प्रवाह दृष्टिगत हो रहा है। जिस दिन मनुष्य इन शुभाशुभ भावों से परे हटकर अपने चित्त को तटस्थ कर लेगा तब (प्रकृति और परमेश्वर में) न तो कोई भेद दिखाई देगा और न ही हृदय में किसी प्रकार की कोई शंका जन्म लेगी।

राग-विराग······संयमों से भी।

शब्दार्थ—राग=मोह। विराग=वैराग्य। निसर्ग-द्रोही=जन्मजात शत्रु। अजुष्ट=प्रसक्त। अभिप्रेत=लक्षित। प्रसरित=फैलने दो। अभंग=बाधा-रहित। निर्लिप्त=निष्काम भाव से।

अर्थ—राग तथा वैराग्य—दोनों बड़े दुष्ट हैं तथा स्वभावत: (जन्मजात) शत्रु हैं। प्रथम (राग) चेतना को प्रसक्त करके उसमें संकोची (स्वार्थ) प्रवृत्ति का उदय करता है। (भाव यह है कि मोह की प्रवृत्ति मनुष्य को निकृष्ट रसातल में डाल देती है। उसकी प्रवृत्तियां घोर स्वार्थी बन जाती हैं। अपने अधिकार में आई हुई वस्तु को वह आजीवन किसी को देना नहीं चाहता और दूसरे की वस्तु को छल-बल से अधिकार में करना चाहता है)। दूसरी वृत्ति वैराग्य की है। यह बलपूर्वक भावना को अपने अभीष्ट सुख के लक्ष्य की ओर प्रसरित करने के लिए विवश करता है। इस प्रकार दोनों (राग-वैराग्य) बड़े भयंकर हैं। (चित्त की) शान्ति और अद्वैत के ये दोनों बड़े भारी बाधक हैं। अतः इन दोनों का परित्याग करके हे पुरूरवा! तुम अपनी चेतना को निश्चित तथा अभंग रूप में बहने दो। और लोभ, भय, संघर्ष, मृत्यु, नियम तथा संयम आदि बन्धनों से चेतना को निर्लिप्त करके उसे हर एक अभिच्छित कार्य करने दो। (इसी में मुक्ति है और आनन्द है)।

विशेष—ईशावास्योपनिषद् में विद्या और अविद्या तथा सम्भूति और असम्भूति दोनों को ही भ्रममय कहा है, जो क्रमशः विराग और राग के ही रंचमात्र भेद से पर्याय हैं। जो **केवल** विद्या की उपासना में लीन रहते हैं वे

अज्ञानी हैं किन्तु वे उनसे भी अधिक अन्धकार में हैं जो केवल अविद्या में रत हैं—

"अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते।"

हम इच्छुक······सत्ता का।

शब्दार्थ—अकलुष=कलुष-रहित। प्रमोद=आनन्द। निरामय=नीरोग। विधि-निषेध-मय=क्या करने योग्य है और क्या नहीं। स्वतः=अपने आप।

अर्थ—(यद्यपि) हम सब जीव सदैव कलुष-रहित (राग-द्वेष से मुक्त) आनन्द को पाने के इच्छुक हैं, लेकिन यह निरामय (नीरोग) आनन्द विधि-निषेधमय संघर्षों तथा (द्राविड़ प्राणायाम) के प्रयत्नों से प्राप्त नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार शाखा से टहनी तथा टहनी से (कोमल-कोमल) पत्तियां अपने आप ही निकलती हैं अथवा जैसे रहस्य-चिंतक के मन में अदृश्य लोक की अगम सत्ता का रहस्यमयी प्रकाश अपने आप कौंध जाता है, उसी प्रकार हमारे चित में आनन्द का यह स्रोत अनायास ही फूट निकलता है। (इसके लिए न तो बुद्धि को तर्क-जाल में फंसने की आवश्यकता है और न दिल को बेचैन करते रात-दिन जागने की आवश्यकता है)।

यह अकाम······कर्मों का।

शब्दार्थ—अकाम=निष्काम—जिसमें कर्म के बाद उसके फल की इच्छा न हो तथा उस कर्म के प्रति किसी प्रकार की आसक्ति न हो। अविरत=लगातार। निसर्ग=परमेश्वर। निरत=लगा हुआ। विरत=लगाव से रहित उदास।

अर्थ—जो व्यक्ति कर्म करने के पश्चात् न उसके फल की इच्छा करता है और न ही उसकी कोई आसक्ति रहती है, वही निष्कामी व्यक्ति अपने में सन्तुष्ट एवं शान्त रह कर आनन्द के अंश की उपलब्धि कर सकता है। जो निरन्तर परमेश्वर (की महिमा तथा लीला में) डूबा रहता है; प्रकृति से एकाकार कर लेता है, प्रसन्न होकर तथा अपने आपको ही पूर्ण मानकर निष्काम-कर्म की धारा में बहता रहता है (अपना जीवन-यापन करता रहता

है); (सहज निष्काम-गति से) संघर्षों में निरत रहता है मगर उनके परिणामों के प्रति उदास रहता है और सदा यह मानकर चलता है कि यहां पर हम जो कुछ करते हैं वह केवल एक क्रिया मात्र है। वह परम आनन्द की प्राप्ति सहज रूप में ही कर लेता है।

(दो पंक्तियों में कवि उर्वशी के माध्यम से कर्म (निष्काम कर्म) को अन्यतम महत्ता का उल्लेख करता हुआ कहता है)—

हम परमेश्वर के कर्म रूप हैं (अर्थात् जो कुछ भी कार्य करते हैं वे सब उसे समर्पित कर देते हैं), कर्म ही हमारा स्वभाव है। कर्म ही आनन्द-रूप है तथा (भविष्य में आने वाले सभी) कर्मों का फल स्वयं (वर्तमान में किया गया निष्काम) कर्म ही है।

विशेष—उपरोक्त भावों में गीता के अनासक्ति योग तथा निष्कर्म-कर्म का सार तत्त्व दिया गया है। गीता में लिखा है—

"**कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन**"—इसी भाव की व्याख्या उपरोक्त पद में है।

'कामायनी' में 'कर्म' सर्ग में भी इसी भाव के दर्शन होते हैं—

यह नीड़ मनोहर कृतियों का,
यह विश्व कर्म रंगस्थल है।
है परम्परा लग रही यहाँ,
ठहरा जिसमें जितना बल है॥ —प्रसाद

जब हम······प्रकृति का।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—जब हम अपने से बाहर निकल कर कुछ भी खोजने का प्रयत्न नहीं करते और अपने आंसुओं तथा खुशियों को प्रकृति के आंसू तथा उल्लास समझकर उसे समर्पित कर देते हैं तब हम कर्म करने वाले नहीं कहलाते अपितु स्वयं ही कर्म के साकार रूप हो जाते हैं।

यह अकाम आनन्द······भवन में।

शब्दार्थ—जोहा करते=इन्तजार करते हैं। आकुलित=व्याकुल,

पीड़ित । वातायन=झरोखा । सचेष्ट वर्जन=किसी काम को न करने में सर्वदा सावधान रहने वाला ।

अर्थ—इस निष्काम आनन्द का भोग केवल वही कर सकता है जो सुखों को कभी आमंत्रण नहीं भेजता (अर्थात् सुख कब आएगा ? उसे कैसे बुलाऊँ ? इस प्रकार की समस्याएं हृदय में नहीं लाता); (अपनी इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिए) रात-दिन जाग-जाग कर बाट नहीं देखता; जिनकी बुद्धि सदा इस विषय पर चिंतित नहीं रहती कि ऐसा कौन सा उपाय करें, जिससे सुख के सम्पूर्ण वैभव पर केवल मेरा ही अधिकार हो जाय; जिनकी चेतना इस भय से व्याकुल नहीं होती कि न जाने कब और किस झरोखे से कौनसा दु:ख आ जाय (तथा मुझे ग्रसित कर ले); जो विधि तथा निषेध से मुक्त होता है; कठिन आयाम-व्यायाम से हृदय की किसी प्रबल इच्छा को रोकने का प्रयत्न नहीं करता और न जो प्राणों को बलपूर्वक उसी दिशा में लगाए रहता है जिस दिशा से जीवन में सुख की धारा फूटा करती है ।

कवि कहता है कि जब मनुष्य की इन्द्रियां तथा मन अपनी सहज तथा शान्त मुद्रा में अपने वातायन खोल देते हैं तथा चिन्ता से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं तभी खुले आकाश में सूर्य की किरणों के समान निष्कलुष आनन्द की ज्योति स्वयं ही उसमें प्रवेश कर जाती है ।

विशेष—उपर्युक्त पंक्तियों में कवि ने गीता में वर्णित '**स्थितप्रज्ञ**' की सी स्थिति को संकेतित किया है । यथा—

> "**दु:खेष्वनुद्विग्नमना: सुखेषु विगतस्पृह:,**
> **वीतरागभयक्रोध: स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।**"
>
> —**गीता : ५६ : अध्याय २**

विधि-निषेध······अर्जन-वर्जन के ।

शब्दार्थ—अर्जन=संचय । वर्जन=त्याग ।

अर्थ—जहां पर विधि-निषेध होगा वहां पर व्यक्ति निष्काम कर्म नहीं कर सकता (जबकि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो) ये विधि-निषेध अर्जन-वर्जन

(अमुक कार्य को करना चाहिए और अमुक को छोड़ देना चाहिए) के नियम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं।

और जहां······करते हैं ?

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—(अर्जन-वर्जन के नियमों के बन्धन से परे हटकर ऐसे स्थान पर जहां इस) अर्जन-वर्जन का गणित चलता रहता है, ऐसे (कर्मों में सचेत) उन सजग प्रहरियों के सामने यह छाती ठोंक कर कह सकते हो कि (तुम सबसे परे) मैं भी एक जीव हूं जिसके कर्म के फलों का कोई ध्येय नहीं है अर्थात् जो बिना फल की इच्छा किये कर्म करता है। जो फलासक्ति से मुक्त क्रिया में इसी भांति निरत है जैसे समीर त्रिलोक में घूमता रहता है मगर भ्रमण में उसका कोई लक्ष्य नहीं होता। वह अपने ध्येय से मुक्त होकर ही सम्पूर्ण लोकों में अपना पुनीत कर्म करता चला जाता है। अथवा (मेरा फलासक्ति-रहित कर्म ऐसा ही है) जैसे फूल निरुद्देश्य खिलते हैं। (भाव यह है कि जिस प्रकार पुष्प अपनी सुवास को बिना किसी पूर्वोद्देश्य के निखिल प्रकृति में फैला देता है और जिसका जन्म ही दूसरे के सुख के लिए होता है वैसे ही मेरा कर्म भी परहित-जन्य होना चाहिए। उसमें अपने स्वार्थ की कोई गन्ध नहीं होनी चाहिए)।

हो कोई तो······रहा है ?

शब्दार्थ—समर=युद्ध। देह-दण्डन=शरीर के पीड़न से।

अर्थ—(उर्वशी इन पंक्तियों में ऐसे योगी तथा संन्यासियों पर कटु आक्षेप करती है जो कहने को तो यह कहते हैं कि हम जो कुछ भी करते हैं वह सब बिना किसी फल की इच्छा के करते हैं मगर सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो वे किसी सुख की खोज में अपनी इन्द्रियों को महा कष्ट देते रहते हैं तथा रात भर जाग कर व्याकुल होते रहते हैं। ऐसे पुरुषों के सम्बन्ध में पुरूरवा से उर्वशी कहती है—)

यदि ऐसा कोई व्यक्ति हो जो (फलाकांक्षी होते हुए भी) यह कहे कि उसे फल का कोई लोभ नहीं है तो फिर उससे पूछिए कि वह (अर्जन-वर्जन

रूपी) चाबुक मारकर क्यों अपने आपको विशेष दिशा की ओर हांके लिए जा रहा है ? क्यों वह प्रकृति से युद्ध रोपे हुए है। अपनी इन्द्रियों पर तलवार रूपी अंकुश लगा कर वह अपनी देह को जो दंड दे रहा है उससे भला वह कौन से सुख का मोल चुका रहा है और वह कौन सा सुख है जिसके लुट जाने की आशंका से वह सारी रात निद्रा से लड़कर एवं व्याकुल होकर जाग रहा है।

और सुनोगे······दूर होना है।

शब्दार्थ—प्रहरी=(आत्मा या मन के) पहरेदार। गुण=प्रत्यंचा, धनुष की डोरी। रिक्तता=अभाव। फेन=झाग।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण में कवि ने उर्वशी के मुख से विधि-निषेधों में बँधकर प्रकृति से आँचल छुड़ाकर भागने वाले प्रहरियों अर्थात् योगियों की अनुपयुक्त अमरत्व की भावना पर व्यंग्य करते हुए प्रकृति और ईश्वर में अभेद सम्बन्ध प्रदर्शित किया है।

अर्थ—एक और रहस्यमय बात यह है कि आत्म-संयमन करने वाले रात-रात भर अपनी साधना के धनुष पर संयम अर्थात् अर्जन-वर्जन की प्रत्यंचा चढ़ाकर मन के उन घेरों में प्रहरी बन कर घूमते हैं जिनके समीप कोई भी तो रक्षा करने योग्य तत्त्व नहीं है। यह तो उनकी भूखी चेतना का खोखलापन है जिसमें सुखद कल्पनाओं के झाग उड़कर रह जाते हैं। मन की इस पिपासा को कि मरने के बाद भी वे अमर रहें, बुझाने के लिए वे इस प्रकार की श्रम-साध्य युक्तियाँ निकालने को व्यग्र रहते हैं। किन्तु इससे भी अधिक भाव इनके मन में यह है कि ईश्वर और प्रकृति में शत्रुता है और इसीलिये अमरत्व की सिद्धि के लिए वे दूर भागना चाहते हैं।

मूढ़ मनुज !······गगन में।

शब्दार्थ—त्राण=रक्षा। धूमयोनि=धुएँ का समूह।

प्रसंग—उपर्युक्त प्रसंग का विस्तार करते हुए कवि परिवर्तनशील संसार के उस सूक्ष्म रहस्य को उद्घाटित करता है जिसके अनुसार समग्र ठोस पदार्थ भी शून्य, निराकार तथा छायामय हैं। फिर मनुष्य, जो स्वयं प्रकृति का रूप है, उसकी सत्ता से बचकर कहां त्राण पायेगा; कहाँ जायेगा।

अर्थ—और वह मूढ़ मनुष्य, जो प्रकृति से बचकर भागना चाहता है, यह भी नहीं जानता कि वही स्वयं प्रकृति है। फिर अपने आप से भागकर उसे कहां आश्रय मिलेगा ? यह सब कुछ शून्य है। यहां किसी पदार्थ का निश्चित रूप नहीं है। परिवर्तन की लीला से क्षण भर में सब कुछ बदल जाता है। धूम्रजाल ही क्यों ? यह ठोस पर्वत भी छाया ही है। यह भी कभी शून्य आकाश के रूप में था और अब भी यह चेतना-शून्य प्रतिक्षण नये रूपों में समाता जा रहा है। क्या पता अनन्त आकाश में मिलकर यह फिर अरूप हो जाय।

विशेष—ऊपर के पद में कवि ने उपनिषदों के उस महान् रहस्य को सुन्दर तथा भावमयी शब्दावली में व्यक्त किया है, जिसके अनुसार यह संसार शून्य से प्रारम्भ होकर शून्य की ही ओर अग्रसर हो रहा है।

यह परिवर्तन······योग्य नहीं है।

शब्दार्थ—प्रक्रिया=गति, रचना-विधि। सहज=स्वाभाविक।

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियों में परिवर्तन को प्रकृति का स्वभाव कहकर उसमें मनुष्य को सहज भाव से बहने की प्रेरणा दी गई है।

अर्थ—यह परिवर्तन यदि विनाश है तो फिर मृत्यु से भिन्न किसी और वस्तु का नाम मुक्ति नहीं है, पर परिवर्तन नाश नहीं है। यह तो प्रकृति की स्वाभाविक गति तथा उसके प्राणों की स्वच्छन्द धारा है और इस धारा में सहज भाव से बहने वाला पुरुष ही मुक्त है। जो नियम-उपनियमों से दूर होकर सभी कामनाओं को छोड़ बिना किसी (निश्चित) ध्येय के बहता रहता है। क्योंकि इसके अतिरिक्त न तो और कुछ करना सम्भव है और न ही उचित।

जानें, क्यों······बहने वाले को।

शब्दार्थ—विक्षोभ=दुःख, आह। संतरण-दक्ष=तैरने में कुशल।

प्रसंग—उपर्युक्त।

अर्थ—फिर भी चतुर तैराक गहन, शान्त जलधारा में न जाने क्यों आहें भरकर अपने हाथ-पांव मारते रहते हैं। भला कौन सी ऐसी सिद्धि है जो उस

कुशल तैराक को मिल जाती है और निष्काम होकर जल में बहने वाले साधक को नहीं मिलती।

जिसे खोजता……कर्दम का।

शब्दार्थ—अरूप=निराकार, रूपहीन । अनिकेतन=भवन-रहित, आवास-रहित। व्योम=आकाश। कर्दम=कीचड़। युगपथ=दोनों।

अर्थ—तू जिसे अन्तरिक्ष की तहों में खोजता फिरता है वह निराकार, निरावास किसी आकाश पर देह धारण कर बैठा नहीं मिलेगा। वह तो स्वयं अपनी लीला की धार में बह रहा है। कहीं कीचड़, कहीं कमल और कहीं स्वच्छ जल का रूप उसने धारण किया है। उसे देखना हो तो अपनी आंखों को समझा दे कि श्वेत और श्याम एक ही रंग के दो नाम हैं। तू यदि उसे छूना चाहे तो हाथों से कह दे कि वे फूल-कांटे का तथा कीचड़-कमल का भेद भुला दें।

विशेष—"**वह तो स्वयं राह बह अपनी लीला धारा में**"—इस भाव को प्रसाद जी ने 'कामायनी' में इस प्रकार व्यक्त किया है—

"कर रही लीलामय आनन्द
महाचिति सजग हुई सी व्यस्त।"

—प्रसाद : कामायनी : श्रद्धा

यह सारा संसार ईश्वर की सत्ता से ज्योतित है। सुख-दुःख, राग-विराग, हित-अनहित सभी उसकी प्रेरणा से प्रसूत हैं। अतः साधक को भले-बुरे का भेद मिटाकर ही साधना करनी चाहिये। इसीलिए गोस्वामी तुलसीदास ने पाप-पुण्य, शूल-फूल, खल-सज्जन आदि के भेद को भुलाकर सारे संसार को **'सियाराममय'** समझा था—

"सीय राममय सब जग जानी
करऊं प्रणाम जोरि जुग पानी।" **—तुलसी**

अर्थ खोजते……नहीं है।

शब्दार्थ—अतीत गह्वर=विगत भूत की गुफा। प्रतीक्षा-निरत=इन्तजार में डूबा हुआ। अनाख्येय=अकथनीय, अवर्णनीय। गवाक्ष=वातायन, झरोखा।

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियों में जीवन के सत्य को अत्यन्त रहस्यमय एवं अकथनीय कहा गया है।

अर्थ—जीवन का सत्य प्राप्त करना सहज नहीं है। कार्य और कारण की लड़ी गहन अन्धकार में पीछे तक बिछी हुई है। अतीत की गम्भीर गुफा में जहाँ तक भी जाओगे वहां तक पग-पग पर प्रतीक्षा में टक लगाए जिज्ञासु प्रश्न मार्ग में मिलते जायेंगे। और अन्त में रहस्य की वह अकथनीय तथा वर्णनातीत दीवार खड़ी होगी जिसमें झाँकने को भी कोई झरोखा नहीं है। अर्थात् रहस्योद्घाटन की एक भी किरण का जिसमें प्रवेश नहीं है।

विशेष—भारतीय 'दर्शन-पद्धति' में सत्य को, धर्म को तथा ब्रह्म को वर्णनातीत की संज्ञा दी गई है। वेदों में कहा गया है कि "**उस सत्य के पात्र का मुँह ऐसे महान् ढकने से ढका है जिसे हटाना सर्वथा असम्भव है।**" '**महाभारत**' में भी सत्य के तत्त्व को '**गहन गुफा में निहित**' बताया है। यथा—

"**सत्यस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्**"

—महाभारत

सत्य के रहस्य में मनुष्य ज्यों-ज्यों प्रवेश पाना चाहता है त्यों-त्यों उसकी चेतना पर अधिक धुंधला आवरण पड़ता जाता है। प्रसाद जी का यह भाव भी इससे भिन्न नहीं है—

"**ओ नील आवरण जगती के दुर्बोध न तू ही है इतना**
अवगुंठन होता आंखों का आलोक रूप बनता जितना।"

—कामायनी : काम : ७५

वर्तमान की······जाती है।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—वर्तमान जल की उस बूंद के समान है जो हाथ में आकर तुरन्त बिखर जाती है। काल के इस उड़ते अक्षर का अर्थ कौन बांच सकता है। अर्थात् वर्तमान, जो सतत गतिशील है, किसकी पकड़ में आ पाता है। और भविष्य के बीहड़ जंगल में ऐसा निविड़ अन्धकार छाया है कि बुद्धि के दीपकों

के प्रकाश में भी मार्ग नहीं सूझता। प्रज्ञा (विवेकशील बुद्धि) भी विवश हो, हार मानकर अपना सिर थाम लेती है।

वृथा यत्न······राह नहीं है।

शब्दार्थ—अतल=तल-रहित। तल-स्पर्श=तल में पैठना। उत्स=झरना। वातायन=झरोखा।

अर्थ—आकाश के अतल विस्तार की सीमा खोजना व्यर्थ का प्रयत्न है। निर्झर के झर-झर निनाद में किसी भेद को खोजने का यत्न भी सारहीन है। इस सत्य के रहस्य का न कोई द्वार है और न कोई झरोखा ही खुला है जिससे कुछ भेद लग सके। हम जिस जगत पर खड़े हैं वहां जाने की कोई राह है ही नहीं अर्थात् जीवन अर्थ तक पहुँचना किसी मार्ग से भी सम्भव नहीं है।

किन्तु, अर्थ······आयी है?

शब्दार्थ—शैलों=पर्वत। सुखासीन=सुख में निमग्न। लीन=लगे हुए। क्रिया=कर्म।

अर्थ—किन्तु जीवन के सत्य की गहनता को छोड़ कर जब तुम केवल बाहरी आवरण पर ध्यान दोगे, सहसा ये रहस्यमय शून्य विविध साकार रूपों से रूपायित हो उठेगा, तब तुम देखोगे कि यह विश्व शून्य नहीं अपितु नक्षत्रों नीले आकाश, नदियों, पर्वतों, लता, पत्रों हरीतिमा तथा भोर की लालिमा से भरा हुआ है। और इसके सभी तत्त्व सुखों में सिमटे हुए अपने-अपने कर्मों में लीन हैं, फिर यहां किसी को किसी से यह पूछने का अवकाश ही नहीं कि यह सृष्टि कहां से उत्पन्न हो गई है।

विशेष—उपर्युक्त प्रसंग में कवि ने एक ओर तो यह संकेत किया है कि यह संसार उसी के लिए रहस्यमय है जो चिन्तन के द्वारा इसकी गहनता में प्रवेश पाना चाहते हैं तथा दूसरी ओर 'अर्थ' और 'शब्द' की संज्ञाओं द्वारा उनका लक्ष्य कविता के अर्थहीन शब्दाडम्बर की ओर भी है। शब्दों के जाल में उलझी हुई कविता पाठक के मन को तब तक भटकाती है जब तक उसकी अर्थ-शून्यता प्रकट नहीं हो जाती।

अच्छा है······प्रकृति का।

शब्दार्थ—जिज्ञासु=जानने की इच्छा वाला, ज्ञान-पिपासु। दुरूह=

दुर्गम, कठिन । वैचारिक=विचारक, चिन्तक, दार्शनिक । विषण्ण=दु:खित, दु:खी, खिन्न ।

अर्थ—पेड़ तथा पुष्प आदि को यह जानने की जिज्ञासा नहीं है कि वे कौन हैं, कहां से आए हैं और उनका अन्त कहां है ? इस दृष्टि से वे मानव से अच्छी स्थिति में हैं क्योंकि उन्हें चिन्तन के कठोर पाश में उलझ कर बेचैन नहीं होना पड़ता । वास्तव में, यह प्रत्यक्ष जगत उतना कठोर एवं उलझा हुआ नहीं है जितना मन के भीतर घुस जाने पर जटिल हो जाता है । एक चिन्तक इन कठोर चिन्ताओं से जितना दु:खित रहता है उतना सामान्य प्रकृति का पुरुष विषण्ण नही होता ।

विशेष—वस्तुत: चिन्तनशील प्राणियों की अपेक्षा सामान्य प्रकृति के जीव सुखी होते हैं । एक दार्शनिक के लिए यह संसार रहस्य है, उलझन है किन्तु साधारण प्राणी के लिए तो यह नामरूपों से युक्त सुख और सौन्दर्य का अखिल भण्डार है ।

द्वन्द्व रंच······उदाहरण है ।

शब्दार्थ—द्वन्द्व=विरोध । द्वैत=द्वि । आभास—प्रतीति । द्वैतमय=दुविधा-युक्त । मानस=मन, हृदय । अप्रयास=सहज, स्वाभाविक । अनुभवन=अनुभव, अनुभूति । निसर्ग=प्रकृति ।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्यांश में कवि ने प्रकृति और ईश्वर में अभिन्नता का भाव प्रदर्शित किया है । द्वन्द्व तो केवल मन का है । प्रकृति और ईश्वर दोनों परस्पर अविच्छिन्न है ।

अर्थ—ईश्वर और प्रकृति में कहीं भी राई भर विरोध नहीं है । विरोध की यह प्रतीति केवल दुविधामय मन के द्वारा होती है । जब मनुष्य प्रकृति के स्वाभाविक अनुभव को (प्रक्रिया को) तथा जीवन की सहज गति जान लेता है तब यह द्वैत की प्रतीति मिट जाती है क्योंकि प्रकृति और पुरुष में कोई अन्तर नहीं है । प्रकृति की गति के जो विशेष अवसर हैं वे ही ईश्वर की सत्ता के सुन्दर क्षण हैं । धर्म-साधना भी प्रकृति का आधार लेकर चलती है। साकार प्रकृति तथा निराकार ईश्वर— ये दोनों एक ही हैं। इनमें गुणों का भेद

नहीं, भेद है तो केवल देखने वाले की दृष्टि तथा मन का है। और यह कामाभिभूत धर्म ही इसका उज्ज्वल उदाहरण है।

काम धर्म,......शिखर पर।

शब्दार्थ—असीमा=सीमा-रहित। सुषमा=सौन्दर्य। तृषा=पिपासा

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने काम के उर्ध्वगामी तथा अधोगामी—दोनों ही रूपों की चर्चा की है।

अर्थ—काम ही धर्म है तथा काम ही पाप है। काम किसी मनुष्य को तो उच्च लोकों से गिराकर हीन पशुओं जैसा बना देता है और किसी के मन में अनन्त सौन्दर्य की प्यास जगा कर स्वर्णिम किरणों से मण्डित उन्नति के उत्तुंग शिखर पर पहुँचा देता है।

विशेष—काम से तात्पर्य मानव-मन की उस स्फूर्ति से है जो मनुष्य की चेतना से लिपट कर उसे कोई कार्य करने की प्रेरणा देती है।

यह विरोध......चिन्तन से ?

शब्दार्थ—अपर=दूसरा। दानव=राक्षस।

अर्थ—काम की एक ही भावना में फिर यह विरोध क्यों है ? एक ही कर्म के दो फल एक दूसरे के विरोधी कैसे बन जाते हैं ? क्या तुमने कभी यह सोचा है कि यह प्रेम कहीं तो राक्षस क्यों बन जाता है और कहीं क्यों रहस्य के चिन्तन में लीन हो जाता है।

काम नहीं......करते हैं।

शब्दार्थ—वैपरीत्य=विरोध। आसक्त=अनुरक्त। लभ्य=प्राप्त। स्मृति=याद। विकल=दुःखित। व्यग्र=बेचैन। मधुसर=अमृत का सरोवर। अवगाहन=स्नान। स्नेहाकृष्ट=प्रेम से आकर्षित। बलात्कार=जबरन, जबरदस्ती। दुर्धर्ष= भयंकर, कठोर। किल्विष=पाप। कृत्य=कार्य। सम्पादन=संग्रह। वपुस=शरीर। लिप्सा=लालसा। सहज आकर्षण=स्वाभाविक अनुरक्ति। वीचियाँ=लहरें। अनामंत्रित=बिना बुलाए। सुवर्ण=अच्छे वर्ण वाला, सुन्दर। लोलुपता=लालच। तस्कर=चोर। सन्धान=खोज।

अर्थ—इन विरोधी भावनाओं का कारण भी काम नहीं मन ही है। मन जब किसी पर अनुरक्त होकर कामुकता से प्राप्त किए जाने वाले अनेक सुखों की चिन्ता में लगा उन्हीं सुखों को याद किए जाता है तथा दुःखित एवं बेचैन होकर सुन्दरता के सर में बार-बार डूबने के लिए, प्रेमानुरक्ति से, विहीन भी केवल कामेच्छा को पूर्ण करने के लिए, यत्नों से, छल से या बल से बलात्कार कर बैठता है तथा यह पापों के जन्म का कारण बनता है। ऐसी अवस्था में यह काम अत्यन्त भयंकर राक्षसी वृत्तियों से पूर्ण जघन्य हीनता का कारण बनता है। कामेच्छा से प्रेरित वे सभी कार्य निन्दित हैं जिनकी पूर्त्ति में मन तथा आत्मा को छोड़कर केवल दो शरीर मिलते हैं, या जहां शरीर को सहज प्रकृति के विपरीत सुख पाने की भूख से मन की वासना के कारण विवश किया जाता है। जहां स्त्री-पुरुष उस स्वाभाविक आकर्षण से परस्पर नहीं मिलते जिससे दो लहरें अपने आप आकर मिल जाया करती हैं अपितु जहां मन धन के लालची चोर की तरह छिप-छिप कर व्याकुल हुए एक-दूसरे को केवल वासना की प्यास बुझाने के लिए ढूंढा करते हैं।

तन का क्या······गरल हैं।

शब्दार्थ—विपदों=दुःखों, विपदाओं। अगोचर=अगम। सलिल=जल। सहस्रार=कमल। गरल=विष।

अर्थ—किन्तु इसमें शरीर का क्या दोष ? यह तो बेचारा प्रकृति का एक कोमल यन्त्र मात्र है। उसकी शक्तियां तथा आवश्यकताएं भी अत्यन्त सीमित हैं। असल में तो यह मन ही है जिसमें सारी विपदाएं निवास करती हैं। वही व्याकुल तथा उद्विग्न होकर अपनी कल्पना की अनन्त भूख से शरीर को हाँक कर उस स्वच्छ जल को अपवित्र बना देता है जिसमें उस अगम ज्योति की किरणें प्रतिबिम्बित होती हैं तथा समाधि के सहस्रदल-कमल विकसित होते हैं। शरीर की कामना तो अमृतमय है लेकिन यह मन के भीतर का काम है जो सर्वत्र जहर बिखेर देता है।

फलासक्ति······करता है।

शब्दार्थ—फलासक्ति=फल की चाह। स्वतः स्फूर्त्त=अपने आप फूटने, बहने वाला। शमन=शान्ति। रसावेश=रस का आवेश।

अर्थ—फल की कामना जिस प्रकार सारे कर्मों को दूषित कर देती है उसी प्रकार वह काम का कार्य भी दूषित और हेय है जो सहज स्फूर्त नहीं होता। जिसका ध्येय मन की भूख को सयत्न शान्त करना है तथा जहां पर शरीर की सहज प्रकृति से नहीं अपितु मन की दूषित माया से प्रेरित होकर सुख की खोज करता है। जहां हृदय की चेतना जागत होकर स्वयं नहीं बहती अपितु मन की लिप्सा से वशीभूत होकर उसे जागना पड़ता है। अथवा जब मन रस की चरम स्थिति में जाने के लिए बलपूर्वक शरीर के यन्त्रों का संचालन करता है।

किन्तु कभी······जाता हूं।

शब्दार्थ—एकाग्रवृत्ति=एकान्त चित्त। मांस-पेशियां=शरीर का उभार। पुलक=रोमांच। स्नायु=नसें। स्वल्प=थोड़ा। आस्फालन=विस्तार। संकोचन=संकोच। अनायास=बिना किसी परिश्रम के। अकस्मात=अचानक।

अर्थ—लेकिन क्या कभी कोई रस की परम स्थिति में बिना एकाग्रचित्त के केवल शरीर को हांक सकता है? बाहर की उभरी हुई मांस-पेशियां आनन्द के रस को नहीं जानती, उसे तो हमारी भीतर की नसे जानती हैं और मन उसका भोगन करता है। इसीलिए कामना-रहित काम-जन्य सुख वह स्वर्गिक रोमांच है जिस पर स्वप्न में भी किसी का रंचमात्र भी अधिकार नहीं हो सकता। वह शरीर के विस्तार एवं संकोच से साध्य नहीं है अपितु अनायास उसी प्रकार स्वभावतः प्रकट होता है जिस प्रकार स्वाति की बूंद सीपी के खुले हृदय में आ गिरती है। उस काम-सुख में लेने-देने का व्यापार नहीं चलता। वह तो सहज ही केवलमात्र ग्रहण किया जाता है।

और पुत्र-कामना······प्रतिमाओं सी।

शब्दार्थ—वारि-वल्लरी=जल-लताएं। प्रतिमाओं=मूर्त्तियों।

अर्थ—और यद्यपि पुत्र की कामना, यदि वह काम-सुख का उद्देश्य है तो सुखकर है, पर निष्काम काम का वास्तव में यह भी मूल ध्येय नहीं है। उद्देश्य-हीन कामरहित काम-सुख की चेतना की धार में सन्ताने अनजाने लोक से उसी

आकर खिल जाती हैं जिस प्रकार जल-लताओं में फूल खिलते हैं तथा निराकार सत्ता के घर से जीवन की मूर्त्तियां स्वयं निकल पड़ती हैं।

विशेष—उपर्युक्त दोनों प्रसंगों में निष्काम-काम में विरोधाभास की प्रतीति है।

प्रकृति नित्य······गया हो।

शब्दार्थ—एकतान=एकाग्र। निस्तल=गहनता। मायावरण=माया का पर्दा।

अर्थ—प्रकृति सदैव शाश्वत आनन्दमयी है। जब कभी हम अपने आपको भूलकर प्रकृति के किसी रूप में एकाग्र हो विलीन होकर गहन समाधि में डूब जाते हैं तो हमारे हृदय के कमल खिल उठते हैं; अमृत की धार बहने लगती है तथा हम इस भौतिक विश्व को छोड़कर चेतना के किसी और ही लोक में पहुंच जाते हैं तो एक क्षण के लिए ऐसा लगता है मानो मन के ऊपर से माया का आवरण हट गया हो।

विशेष—योगी जब साधना के स्तरों को पार करता है तब उसकी स्थिति कुछ ऐसी ही हो जाती है—

"रस गगन गुफा में अजर झरै"—(कबीर) में योगी की उसी स्थिति का वर्णन है जिसका संकेत उर्वशी पुरूरवा के प्रति करती है। 'तुलसीदास जी' भी भारती स्वरूप रत्नावली की ज्योति से एकतान हो दैहिक विश्व को छोड़ चेतना के रसमय सोपानों पर चढ़े थे।

"दृष्टि से भारती की बंधकर
कवि उठता हुआ चला ऊपर
केवल अम्बर केवल अम्बर फिर देखा।"

निराला : तुलसीदास

क्या प्रतीक······धारा में

शब्दार्थ—प्रतीक=चिन्ह। गर्हित=निन्दित। ग्राम्य=अशिष्ट। पद्धति =तरीका। अवयव=अंग।

अर्थ—क्या कामसुख, जबकि वह निन्दित और अशिष्ट न हो, माया का

प्रतीक नहीं है ? वह भी तो मनुष्य को स्वाभाविक पद्धति से ऊपर उठाकर; मन के माया-मोह के बन्धनों को छोड़कर मुक्ति की दिशा में ले जाता है। किन्तु हम तो प्रकृति के प्रसन्न अंग हैं, फिर मुक्ति की खोज क्यों करें ? जब तक प्रकृति शेष है तब तक हम भी लीलामय की आनन्दमयी शान्ति तथा स्वाभाविक धारा में बहते जाएँगे।

पुरूरवा

कुसुम और······सुमन हूं।

शब्दार्थ—कान्त=सुन्दर। रूपसी=सुन्दरी। सवाक्=वाणी-युक्त।

प्रसंग—उर्वशी के ईश्वर और प्रकृति ; पुरुष तथा काम की विशद व्याख्या किए जाने के पश्चात् भी पुरूरवा की जिज्ञासा शान्त नहीं होती। उसका सन्देहशील व्यग्र मन सत्य के अर्थ की गहनता तक नहीं पहुंच पाता। वह उर्वशी की बातों को स्वीकार तो करता है लेकिन फिर भी उसका मन तर्क किए बिना नहीं रहता।

अर्थ—कुसुम और स्त्री (कामिनी) दोनों सुन्दर हैं, पर कामिनी फूलों से भी कहीं अधिक मधुर है क्योंकि फूल बोल नहीं सकते, नारी बोल सकती है ; पुरुष वाणीरहित सौन्दर्य है और स्त्री बोलता हुआ फूल है।

किन्तु······हुई है।

शब्दार्थ—सुमुख=सुन्दर मुख। प्रसून=फूल।

अर्थ—किन्तु यदि फूलों के सुन्दर मुखों से शब्द फूटने लगें, और वे भी गहन चिन्तन में लीन हो जाएँ तो उन सबकी भी मेरे जैसी ही दशा होगी। अर्थात् पुष्प तभी तक सुन्दर हैं ; शान्त हैं जब तक यह चिन्तन का रोग उनको नहीं लगता।

यह प्रपात······आया हूं।

शब्दार्थ—प्रपात=झरना। हिलोर=लहर। गुह्य=गुप्त, गहन।

अर्थ—यह रसाविष्ट बुद्धि का निर्झर ; यह चिन्तन की हिलोर जिसकी धारा में बहता-बहता मैं न जाने किन गहन आकाशों में; रहस्यमय लोकों में घूमकर आया हूं, उर्वशी ! शायद तुम्हें नहीं मालूम ।

आदि अंत······नहीं है।

शब्दार्थ—ग्रंथि-जाल=उलझनें, रहस्य। काल-गह्वर=समय की गुफा। छोर=किनारा।

अर्थ—जीवन के आदि-अन्त का भेद नहीं लगता। चिन्तन के इस जटिल जाल का समय की गम्भीर गुफा में कहीं भी अंत नहीं है।

विधि-निषेध······चलता है।

शब्दार्थ—अवचेत-अतल=शून्य-तल।

अर्थ—नियम-उपनियमों के बन्धन सचमुच ही जल की ऊपरी रेखाओं की तरह ही हैं। अन्तर के गहन जल पर उसका कोई प्रभाव नहीं उभरता। मनुष्य के गम्भीर अन्तर से भावना का जो भी ज्वार उठता है उस पर इन विधि-निषेधों का कोई जोर नहीं चलता।

स्यात्······रहने का।

शब्दार्थ—सायास=सयत्न। स्वीकृति=स्वीकारोक्ति। कपाट=किवाड़। प्रज्ञा=बुद्धि।

अर्थ—सम्भवतः यत्न-साध्य योग इस स्वीकारोक्ति की अवहेलना मात्र है कि हम प्रकृति के रहस्यमय किवाड़ों (द्वारों) को नहीं खोल सकते तथा साधनाएं पराजित बुद्धि को उस रहस्य की खोज में किसी भांति लगाए रखने का प्रयास हैं।

सत्य······रही है।

शब्दार्थ—आत्मार्पण=आत्म-समर्पण। शरणागति=शरण में जाना। अनुगमन=पीछे चलना। अविगत=अज्ञात। विकीर्ण=फैलाना।

प्रसंग—अपनी चेतना की समस्त परिधि में घूमकर तथा उर्वशी के तथ्यों का समर्थन करते हुए अन्ततः पुरूरवा की समग्र प्रज्ञा सिमट कर उस अज्ञात के चरणों में अपना सर्वस्व अर्पण करने के हेतु विकल हो उठती है। उसे लगता है, जैसे ईश-चरणों की शरणागति शाश्वत सत्य है। उसके संकेतों का अनुगमन करना ही कर्म है। उसकी असीम सुषमा की अनुभूति ही धर्म का परम चरम है। उसे तो अब सर्वत्र उसी की सौन्दर्य-सत्ता विकीर्ण हुई लगती है। और, उर्वशी उस अनन्त लावण्य का केन्द्र है; आधार है।

अर्थ—सत्य केवल उस सत्ता के चरणों की शरण लेना है, उसके प्रति आत्मसमर्पण करना है जिसे तुम प्रकृति तथा मैं ईश्वर के नाम से अभिहित करता हूं। उस अवाक् तथा अज्ञात के संकेतों का अनुसरण करना ही एक मात्र कर्म है और उस सौन्दर्य तथा छवि का सतत अनुभव करना ही धर्म है जो सर्वत्र बिखरी हुई है तथा केन्द्रीभूत होकर तुममें झलक रही है।

आह! रूप……रही हो।

शब्दार्थ—भुवन=संसार। इंगित=संकेत। द्रुमों=पेड़ों।

प्रसंग—पुरूरवा को सर्वत्र उस अनन्त की छवि दृष्टिगत होती है जो उर्वशी का आधार ले सौन्दर्य में सिमट गई है।

अर्थ—अखिल ब्रह्माण्ड में चतुर्दिक जहां भी उड़कर जाऊँ वहाँ एक यही रूप हंस रहा है। प्रफुल्लित हो यही सर्वत्र संकेत कर रहा है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पुष्प, तृण, पेड़ सभी में यही तो झलक रहा है और यही मुख मन के अनन्त गहन सागर में जलती हुई लहर-सा बार-बार उदित होकर फिर विलीन हो जाता है। लगता है जैसे तुम सागर से बाहर निकली नहीं हो अपितु अपनी जन्मभूमि की शीतलता में आज भी क्रीड़ा कर रही हो।

विशेष—प्रेम की परम पावन रस-सिक्त समुज्ज्वल किरण जब मन के मायावरणों को चीर कर हृदय के गहन अन्तराल में प्रवेश पाती है तो प्रेमी को सर्वत्र प्रेमिका का रूप दिखाई देता है; भक्त को सृष्टि के कण-कण में भगवान का सौन्दर्य नजर आता है। उसका प्रेमाकुल हृदय छलकने लगता है **"जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है।"**

देखा तुम्हें……हटा कर।

शब्दार्थ—जलदों=बादलों। पटल=पर्दा।

अर्थ—तुम्हें मैंने बहुत बार देखा। पर, अब भी मुझे यह मालूम नहीं है कि तुम पहले-पहल किस कल्प-बेलि को चीर कर खिली थीं। उस निराकार ब्रह्म के घर से निकल कर तुमने कहाँ आकार धारण किया था तथा किन परदा चीर कर तुम उषा की तरह प्रकट हुई थीं।

कहते हैं······आभा सी।

शब्दार्थ—तप:पूत=तपस्या से पवित्र हुए। संचित=एकत्रित। आभा =चमक।

अर्थ—मेरे सम्बन्ध में कहा जाता है कि मैं संसार में बिना पिता के पैदा हुआ हूं। तो क्या तुम भी सचमुच मेरी ही तरह विश्व में आई हो? पवित्र तपस्वी मनुष्य की तपस्या की सम्पूर्ण एकत्रित आभा की तरह ब्रह्मा की कामेच्छा से क्या तुम भी बिना माता के ही उत्पन्न हुई थीं।

या समुद्र······ज्वाला सी।

शब्दार्थ—अन्तरग्नि=भीतर की आग। आकुल—पीड़ित। तप्त=गर्म। अम्बुधि=सागर। सुरासुर=देव-दनुज। अभंग=अटूट। युग-व्यापी=युग में फैलने वाला। आह्वानों=आमन्त्रणों। अप्रतिम=अनुपम। अतल-वितल-पाताल-तलातल=लोकों के नाम। कुतुक-विस्मय=कुतूहल, आश्चर्य। अरुण =लालिमायुक्त सूर्य।

अर्थ—अथवा समुद्र जब बड़वाग्नि से व्याकुल, तापित तथा बेचैन था तब तुम उस व्याकुलता से पुरुष-सरीखी उसी प्रकार उससे फूट निकली थीं जिस प्रकार उस अग्नि में अन्य रत्न निकल पड़ते हैं। तुम युग-यगों से तथा देवों तथा दनुजों के अनवरत आमन्त्रणों से दयाभिभूत हो एक प्रात अनुपम शिखा सी रसातल के लोकों को छोड़ पृथ्वी पर उसी प्रकार निकल आयी जैसे सागर के तल से उषा निकल आती है। जब प्रात:कालीन सूर्य की आभा की प्रतिमा सी तुम धूमिल तरंगों पर चढ़कर नीली लहरों पर नृत्य करती हुई ज्वाला सी कम्पित होकर ठहर गई होगी तो सारा आकाश कुतूहल में डूब गया होगा। सब देवता चकित होकर तुम्हें खड़े देखते रहे होंगे।

कैसा दीप······उत्सुकता से।

शब्दार्थ—दीप=दीपित, प्रतिभासित। पावकमय=अग्निमय। फेन= झाग। शुभ्र-वसन=श्वेत-वस्त्र। उद्ग्रीव=ऊँची गर्दन किए।

अर्थ—तुम्हारा यह अग्निमय (तेजोद्दीप्त) रूप नीली लहरों में तथा झिलमिलाते झागों के श्वेत वस्त्रों में कैसा सुन्दर लग रहा होगा। और काली लहरें फण उठाये सर्पिणियों सी तुम्हें बड़ी उत्सुकता से देख रही होंगी।

रुदन किया······जग में ।

शब्दार्थ—मणि-मुक्ता-विद्रुम-प्रवाल=रत्नो के प्रकार । विरचे=बने, निर्मित । वियुक्त=अलग ।

अर्थ—सागर तुम्हें खोकर बहुत रोया होगा। तुमसे बिछुड़ते ही विविध मणि-मुंगों से निर्मित उसके महल की सुषमा फीकी पड़ गई होगी। महा-सागर का सारा हृदय सुनसान हो गया होगा और इस रक्त-मांस से युक्त अनुपम कान्ता-कुसुम को पाकर देवों के संसार में हर्ष का अतुल जय-जयकार हुआ होगा।

विशेष—उपर्युक्त पंक्तियों में उर्वशी के प्रति जैसे पुरूरवा का सारा हृदय एक साथ उमड़ पड़ा है। उर्वशी के अभाव में सागर की दीन करुणा-वस्था का कवि ने बड़ा ही सुन्दर भावमय एवं विशद वर्णन किया है। निस्सन्देह इन पंक्तियों की निर्मिति के समय कवि का समग्र हृदय भी सिमट कर लेखनी की नोक पर आ डटा होगा। ऐसे श्रृंगार के प्रांजल, परिपुष्ट एवं गन्धयुक्त चित्र दिनकर की लेखनी से ही सम्भव हो सकते हैं।

तुम अनन्त······रह जाती है ।

शब्दार्थ—निखिल=सम्पूर्ण। व्याप=व्याप्त होना। अंक=गोद।

अर्थ—तुम अखिल सौन्दर्य हो जो एक शरीर में बसकर भी समस्त विश्व में फैलकर चारों दिशाओं में व्याप्त हो रही हो। तुम अन्तहीन कल्पना हो। मैं चाहे जिस प्रकार भी तुम्हें अपनी गोद में समेटूँ तुम्हारी एक किरण फिर भी मेरी बाहुओं से बाहर रह जाती है।

ये लोचन······देखा है ।

शब्दार्थ—कपोल=गाल। द्युति=चमक। किसलय=नये पत्ते। मदन=कामदेव। स्रुतियां=कान। उडुओं=सितारों। विधु=चन्द्रमा। स्रान्ति=थकान।

अर्थ—तुम्हारी ये आंखें, जो किसी अलौकिक विश्व के आकाश के दर्पण सरीखी हैं, ये कपोल, जिनके प्रकाश में भोर की किरण तैरती है; कोमल किसलय से ये होंठ, जिन पर स्वय कामदेव नृत्य करता है; कामना आंसू

बहाती है तथा पीड़ा सहसा मुखरित हो उठती है। ये कान, जिनमें सितारों के आंसुओं की बूंदें झरती हैं; बांहें चन्द्रमा के प्रकाश की मानो दो नई किरणें हैं तथा तुम्हारे वक्ष वे पुष्पों के कुंज हैं, सुन्दर विकास-स्थल हैं जहाँ मौत के पथ पर जाने वाले पथिक ठहर कर अपनी थकावट दूर करते हैं और तुम्हारी यह मुस्कान जैसे किसी दूर से आती हुई किसी किरण की कांति है जो सहसा मेरे मन में किसी सीमा-हीन जगत का ध्यान जगा देती हैं, जिसे मैं चाहता तो हूं पर कभी देख नहीं पाया।

विशेष—उर्वशी के पार्थिव सौन्दर्य में पुरूरवा को समस्त प्रकृति तत्त्वों का अखिल सौरभ प्रतिभासित होता है। स्थूल सौन्दर्य के आकर्षण से मानव के मन में एक ऐसे सूक्ष्म, अदृश्य सौन्दर्य की ललक उठा करती है, जिसे वह कभी भी नहीं देख पाता।

यह रहस्यमय······लेते हैं।

शब्दार्थ—मर्त्य भुवन=मृत्युलोक।

अर्थ—ऐसा रहस्यमय रूप तीनों भुवनों में अन्यत्र और कहीं नहीं है। देवलोक, किन्नर लोक, गन्धर्व लोक तथा मृत्यु लोक—सभी इससे वंचित हैं। फिर बताओ, तुम उसी प्रकार कैसे जन्म ले सकती हो जिस प्रकार संसार के अन्य सौन्दर्य जन्म लेते हैं।

कहो सत्य······अन्तिम मन से ?

शब्दार्थ—अरूप=रूपहीन। रूपायित=साकार। तन्मय=लीन। निश्चेत=चेतना-रहित, अचेत। एकायन=एकाग्र।

अर्थ—सच-सच बतलाओ कि तुम सागर के भीतर से निकली थीं अथवा आकाश को चीरकर शून्य अंतरिक्ष से? या जब रूपहीन सौन्दर्य को सरूप में ढालने के लिए अलौकिक सौन्दर्य के चिन्तन में समाधि लगाए निश्चेष्ट हुए बैठे थे तब तुम ब्रह्म की महान् कल्पना से उनके एकाग्र मन से नारी बनकर निकल पड़ी थीं ?

उर्वशी

मैं मानवी······नहीं रहता है।

शब्दार्थ—आनन=मुख। झिलमिल=धुंधला। आवरण=परदा।

कवित्व=सौन्दर्य ।

प्रसंग=पुरूरवा के प्रश्न किए जाने पर उर्वशी स्वयं को देवी कहकर अत्यन्त रहस्यमय ढंग से अपना परिचय देती है ।

अर्थ—मैं साधारण मानवी नहीं हूं अपितु देवी हूं । और देवों के मुख पर सदैव एक धुंधला सा रहस्य का परदा पड़ा रहता है। उस परदे को न हटाओ, तभी उचित है; अन्यथा उसके पूर्ण रूप से प्रकट हो जाने पर जीवन में कुछ भी सौन्दर्य शेष नहीं रह जाएगा ।

विशेष—वैदिक दर्शन में ब्रह्म के स्वरूप की चर्चा के अन्तर्गत एक प्रसंग में इसी प्रकार का भाव व्यक्त किया गया है—"वे देवों की पुत्रियां न तो पूर्णतया नग्न हैं और न ही सर्वथा वस्त्रावृत्त हैं ।" सौन्दर्य को कवित्त्व कहकर कवि ने यह भी कहना चाहा है कि कविता का अर्थ सर्वथा अभिधात्मक होने पर उसका सौन्दर्य नष्ट हो जाता है । 'रासोकार' ने इसीलिए अपनी कविता के सम्बन्ध में मध्यम मार्ग की बात कही है—

"अति ढभ्यो न उधार सलिल जिमि सिष्षी सिवालह ।
वरन वरन सोभंत हार चतुरंग विसालह ।"

—चन्दवरदाई : पृथ्वीराज रासो

स्पष्ट शब्द······आशय से ।

शब्दार्थ—ऋचा=वेद-मन्त्र । आशय=तात्पर्य, उद्देश्य ।

अर्थ—अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए स्पष्ट शब्दों की अपेक्षा अस्पष्ट तथा धुंधले शब्दों का चयन अधिक महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि उसमें एक प्रकार की जिज्ञासा सतत विद्यमान रहती है तथा ये धुंधले शब्द ही वैदिक मन्त्रों में प्रयुक्त हो समस्त शंकाओं का सूत्र निश्चित उद्देश्य से जोड़ देते हैं ।

और जहां······विघटन का ?

शब्दार्थ—निरापद=आपदा से रहित, निःशंक । द्वाभा=ज्योति । अर्द्ध-स्फुट=अर्द्धविकसित । भेद-विघटन=रहयोद्‌घाटन ।

अर्थ—जिस स्थान पर प्रकाश और छाया मिलते हैं वही सहज बिन्दु मनुष्य के मन का शान्तिमय सहारा होता है । घने कुंज, गोधूलि, चांदनी—

ये सब न रहें तो दिन की खुली प्रचण्ड धूप में जीवन कब तक चलता रहेगा। प्रकाश का यही वरदान है कि उसमें सभी कुछ अर्द्धस्पष्ट तथा झिलमिल है। स्वप्न से स्वप्न और हृदय से हृदय मिलकर परस्पर सुख पाते हैं। यदि सर्वत्र प्रकाश हो जाय और जितने भी गुह्य भेद हैं वे सब अपने नग्न रूप में सामने आ खड़े हों तो रहस्योद्घाटन के इस प्रहार को कौन सह सकेगा ?

विशेष—यह संसार धूप और छाया का सम्मिलित स्वरूप है। प्रकाश का अस्तित्व अन्धकार के बिना कुछ भी नहीं। तत्त्व स्वतः प्रकट हैं उनका महत्त्व अधिक नहीं है। जो रहस्यमय है उसके उद्घाटन में ही मनुष्य की मेधा संचरण करती है। उस अव्यक्त ब्रह्म सत्ता के सम्बन्ध में पुरातन मेधा-सम्पन्न मनीषि-स्रष्टाओं ने **'नेति-नेति'** कहकर रहस्य का आवरण बिछा दिया है। छाया और धूप उस झिलमिले आवरण के ही एकत्र दो विशेषण हैं। वेदों से लेकर उपनिषदों तक यही एकतान से स्वीकार किया गया है। ब्रह्मविदों ने सदैव अव्यक्त का वर्णन छाया-प्रकाश के झीने आवरण में परिवेष्टित कर अनुस्यूत किया है—

"छायास्तपो ब्रह्मविदो वदन्ति।"

—कठोपनिषद् चतुर्थ वल्ली

इसीलिए······को भी ?

शब्दार्थ—अलम=काफी, पर्याप्त। कुतुहल-शमन=उत्सुकता का समाधान, औत्सुक्य की शान्ति।

अर्थ—इसीलिए मैं कहती हूं कि तुम अब तक जितना जान पाए हो वही पर्याप्त है। इससे आगे जाने पर तुम्हें विस्मय की शान्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिल पाएगा। और तुम्हारे विस्मय को भी मैं कैसे एवं क्या कहकर शान्त कर सकती हूं।

मैं अदेह······नारायण की।

शब्दार्थ—अदेह=देह-रहित। आत्मजा=बेटी। तनया=पुत्री।

अर्थ—मैं सर्वथा शरीर-हीन कल्पना हूं और तुम मुझे स्थूल शरीर मान बैठे हो। मैं निराकार हूं किन्तु तुम मेरे साकार स्वरूप को देखकर मुझे सागर की बेटी तथा ब्रह्म की मानस-पुत्री समझ रहे हो।

विशेष—उर्वशी इन पंक्तियों के द्वारा पुरूरवा का ध्यान उस अदृश्य, अव्यक्त, आभ्यन्तर, सूक्ष्म सौन्दर्य की ओर आकर्षित करना चाहती है जो देह की समस्त पार्थिव प्राचीरों को भेद ज्योति के अनन्त अन्तराल में प्रकाशित हो रहा है। वही नर तथा नारी का शाश्वत सौन्दर्य है। दैहिक सौन्दर्य तो विकल-व्यग्र मन का क्षणिक भुलावा मात्र है।

कब था······प्रकृति है।

शब्दार्थ—अस्तित्व=सामर्थ्य, मूल्य। ह्लादिनी=बिजली।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण में उर्वशी अपनी अर्थात् शाश्वत सौन्दर्य की सत्ता की सर्वव्यापकता तथा शक्तिमत्ता का वर्णन करती है।

अर्थ—कौनसा ऐसा समय था जब मेरी शक्ति विद्यमान नहीं थी? कौनसा भविष्य विश्व में आएगा जिस दिन मैं न रहूंगी ? कौनसा ऐसा पुरुष है जिसकी समाधि में मेरी झलक नहीं है ? कौन ऐसी स्त्री है जिसके यौवन में मैं नहीं सज रही हूं ? कोई लोक ऐसा नहीं जिसमें मेरी मुस्कान की बिजली न चमक रही हो। कोई बादल नहीं जिसको मैंने अपनी सेज न बनाया हो। कौनसी बात कहूं और कौनसी छोड़ दूं, मेरा इतिहास तो इस प्रकृति के समस्त प्राणों की कथा है। मैं उसी प्रकार असीम हूं जिस प्रकार यह प्रकृति।

विशेष—उर्वशी का यह रूप अलौकिक है। 'उसमें' की सत्ता ब्रह्म की सत्ता है। परम शक्ति की व्यापकता का यह वर्णन प्रायः प्रत्येक समर्थ कवि ने किया है। कुछ उदाहरण दर्शनीय हैं—

"हुत वह, है, ओ आगे रहई" —**जायसी**

पुरूरवा

सत्य मान······विभा-सी।

शब्दार्थ—मानुषी=पार्थिव। अशरीरी=शरीर से रहित। भान=आभास। रंच भर=थोड़ा सा। मर्त्य-वसन=मरणशील वस्त्र, शरीर। अदेह=देह से रहित, अशरीरी। विभा=ज्योति।

अर्थ—पुरूरवा कहता है कि मैंने तुम्हारे सौन्दर्य को सत्य एवं शाश्वत माना है तथा कभी स्वप्न में भी तुम्हें अपने से भिन्न नहीं समझा। तुम नारी

हो। बार-बार ऐसा कहते हुए भी मैंने तुम्हें इस जगती की सामान्य देह-चर्म वाली नारी का रूप नहीं दिया। तुम मेरी अशरीरी कल्पना हो। देह धारण करने पर भी तुम जब अपने अन्तर्नयनों से मेरे हृदय के भीतर झांकती हो तो मुझे ऐसी मधुर कल्पना का आभास होता है कि जिस तुम्हारी देह को मैं अपनी भुजाओं में समेट कर हृदय से लगाता हूं वह रक्त और मांस की बनी हुई मूर्त्ति नहीं अपितु एक सपना हो ; एक छाया हो।

मर्त्य-वसन धारण करने पर भी तुम्हारा देवत्व इसमें से रंच मात्र भी नहीं छिप पाता है। देह-धारण करने पर भी तुम मेरे लिए एक अशरीरी ज्योति के समान हो।

द्राभा कहां ?……चुका हूं।

शब्दार्थ—द्राभा=प्रकाश । मंजु=मनोहर। गोधूलि=धूमिल। पटल पर्दा। समग्र=सम्पूर्ण।

अर्थ—प्रकाश कहां है ? प्रकृति के जिस अंग पर तुम्हारे चरण पड़ जाते हैं वहां तुम्हें घेर कर चारों तरफ मुक्त प्रकाश सा छा जाता है और उस समय तुम्हारे भीतर मैं जो अनुपम सौन्दर्य देखता हूं वह अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता। फिर भी अगर तुम्हारे प्रकाश-पुञ्ज में मेरे हृदय की कहीं धुंधली छाया आच्छादित हो गई हो तो मेरी यह इच्छा होती है कि उसके पटल को हटाकर स्वप्न-लोक में बैठकर तुम्हारे सम्पूर्ण दर्शन कर लूं। हे उर्वशी ! अपनी शेष आयु में मैं तुम्हें अपना हृदय का दीपक बना चुका हूं (जिससे में सदा अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ता रहूंगा)।

कौन सत्य……मुख को।

शब्दार्थ—कराल=भयंकर। अनावरण=आवरण-रहित। अशनि आघात =बिजली अथवा वज्र के आघात से। समक्ष=सामने। प्रतिमा=मूर्त्ति। भीति=डर। अनिमेष=एकटक, निर्निमेष।

अर्थ—हे उर्वशी ! 'मुझे बताओ' आखिर वह ऐसा कौनसा भयंकर सत्य है जिसका पर्दाफाश (अनावरण) कर देने से अग्नि प्रकट होगी जिससे मेरे ये पार्थिव लोचन जल कर भस्म हो जाएंगे ? यानी जिस सत्य के वज्राघात के

समान प्रकाश-पुञ्ज को सहने में मैं असमर्थ हूँगा। तुम बिना संकोच और भय के सब कुछ कह दो क्योंकि जब तक तुम्हारी यह प्रतिमा मेरे सामने खड़ी है अर्थात् जब तक तुम मेरी आंखों के सामने हो तब तक मैं प्रलय के वज्राघातों से भी नहीं डरता। मैं यह सब कुछ तुम्हें अनिमेष दृष्टि से देखता हुआ सह लूँगा।

उर्वशी

पर क्या······महानल से निकली।

शब्दार्थ—देहभाव=शरीर धारण। मनोदेश=मानसिक जगत। व्यग्र=व्यस्त। फेनांशुक=सूक्ष्म श्वेत वस्त्र।

प्रसंग—उर्वशी पुरूरवा के मानसिक उद्वेलन से समुत्पन्न कुछ प्रश्नों का उत्तर दे रही है और अपनी यथार्थता का चित्र समुपस्थित कर रही है।

अर्थ—उर्वशी कहती है कि मेरी वाणी कुछ भी कहने के लिए अवरुद्ध है। मैं किस मानव देह धारण के सम्बन्ध में जो कि वस्तुतः भ्रान्तिपूर्ण कार्य-कलाप है, कुछ नहीं कह सकती। यह प्राणों का प्रपञ्च जो कि वस्तुतः मानसिक संसार की चञ्चलता का स्वरूप है अचेतन में चेतन का संसार है। या यों कहिए कि पंच महाभूतों की पंचतन्मात्राओं (रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि) का एक मूर्तिमान आकार चेतन की झलक से प्रतिबिम्बित हो रहा है। (उर्वशी अपने को साधारण मानव बतलाती हुई कह रही है कि मैं कोई लक्ष्मी नहीं जो किसी मृत्युलोक से भिन्न तलातल, वितल, पाताल और महातल आदि लोकों में से अथवा किसी सागर की सफेद, चमकीली ढ़ाके की मलमल के समान बारीक समुद्र की सतह को चीर कर उत्पन्न हुई हूँ) अर्थात् मैं दैवी शक्ति नहीं हूं अपितु साधारण मानवी शक्ति होने के कारण आपको मुझ पर इतना नाज, विश्वास और अवलम्बित नहीं होना चाहिए।

मैं नहीं······भू पर उतरी।

अर्थ—मैं कोई आकाश-मण्डल में विकसित होने वाली तारााओं के साथ फलती-फूलती हुई अलौकिक लता नहीं हूं। और न ही मैं व्योम-मण्डल से उतरी हुई कोई बालिका हूं। न ही चांद का किरणों से सुसज्जित कोई चन्द्र-

लोक से आई हुई चांद की पुत्री हूँ और न ही मैं चन्द्र की उज्ज्वल किरणों में स्नान करती हुई सोलह कलाओं से परिपूर्ण तारामंडल और चन्द्रकिरणों पर झूलती हुई कोई नारी पृथ्वी पर उतरी हुई हूं।

मैं नाम गोत्र······समुद्भूत।

शब्दार्थ—इतिवृत्तहीन=इतिहास रहित, विश्वनर=सांसारिक प्राणी। समुद्भूत=उत्पन्न।

अर्थ—उर्वशी कहती है कि न मेरा कोई नाम है, न मेरा कोई (ब्रह्मा) गोत्र है। मैं तो एक ऐसा पुष्प हूँ, जिसकी कोई पहचान ही नहीं। मैं आकाश में उड़ती हुई स्वच्छन्द आनन्द की सरिता हूँ। मेरा कोई इतिहास नहीं। मैं सुन्दरता की सजीव मूर्ति हूं, अथवा मन को उद्वेलित करने वाली उत्तुंग तरंग हूं। न मेरी गणना देवताओं में है, न मनुष्यों में है, न किन्नरों में है और न गन्धर्वों में है। हे प्रिय! मैं केवल साधारण अप्सरा हूं जिसका जन्म सांसारिक प्राणियों की अथवा ब्रह्मा की इच्छाओं के सागर से हुआ है।

कामना तरंगों······बसने वाली।

शब्दार्थ—कामना तरंगों=मानसिक इच्छाओं। आलोडित=आन्दोलित। बाड़वाग्नि=जल की अग्नि। निभृत=चुपचाप। हेमाभ=स्वर्णकान्ति। उत्तुंग =उन्नत।

प्रसंग—उर्वशी अपने जन्म का कारण स्पष्ट करती हुई कह रही है—

अर्थ—जिस समय सांसारिक प्राणी (मानव रूप धारी) अपनी कामनाओं के वशीभूत होकर अपने मन को सागर के समान तरंगित अशांत और मानसिक अग्नि से पीड़ित अनुभव करता है, जब उसे मेरा अभाव खटकने लगता है और वह गद-गद कंठ होकर मुझ मानव की पूरक शक्ति को अर्थात् अर्धांगिनी को अपने लोक-परलोक के कार्य-कलाप को पूर्ण करने के लिए सादर आमंत्रित करता है। मैं इस समय अलौकिक यौवन से परिपूर्ण पुरुष के निस्तब्ध प्राण-गर्भ से उद्भूत होकर सुन्दर स्वर्णमयी कांति से विभूषित अलौकिक रूप धारण किए हुए जैसे कि किसी काल्पनिक लोक से उतर कर आ रही हूँ, भूमि पर जन्म धारण करती हूं। मैं मानव के समीप आकर उसे अपने

आकर्षणों से विजित कर लेती हूं। मानव के कल्प-कल्पान्तरों के वियोगाश्रुओं को अपने उन्नत हृदय में स्थान देकर शान्त कर देती हूं। अतः मैं प्रत्येक मनुष्य के हृदय में निवास करने वाली मीठी अग्नि हूँ अथवा मानव के अन्धकार-पूर्ण हृदय में प्रकाश का ज्योतिपुञ्ज हूं। मैं मनुष्य के मन में रहने वाली नारी की वह श्रेष्ठ कल्पना हूं जिसे कि नर अपने जीवन का अन्तिम उद्देश्य समझ बैठा है।

विषधर के······गिर जाते हैं।

शब्दार्थ—अमृतवर्ति=अमृत की सलाई। रूपांकुश=रूप का नियन्त्रण। शरभ=छः टांगों का एक जन्तु। भ्रू-स्मिति=भौंह संचालन। श्लथ=शिथिल। शिंजनी=धनुष की डोरी। संस्रस्त=शिथिल।

अर्थ—मैं नारी शक्ति के रूप में महान विषधर भुजंगम के फण पर अमृत वर्षाकर सकती हूं। (मैं इतनी प्रभावशालिनी हूँ कि) उद्दंड से उद्दंड, दुर्दमनीय से दुर्दमनीय और अत्याचारीसे भी अत्याचारी शक्ति-पुंज पर अपने मोहक रूप के अंकुश से काबू पा सकती हूँ। मेरे रूप के सामने प्रत्येक शक्ति कमल की कोमल नालके समान निर्बल हो जाती है। मुझ नारी के सम्मुख नरत्व का घमण्ड करने वाले मदमस्त गजराज नतमस्तक हो जाते हैं। क्या सिंह, क्या रीछ और क्या चीता मेरी मोहिनी के जाल में फंसकर अपने हिंसापूर्ण भावों को भूल जाते हैं और पालतू हिरण की तरह अपनी सब अकड़फूँ भूलकर हिंसा से संन्यास ले लेते हैं। यही नहीं मेरे भ्रूसंचालन को चकित भाव से देखते हुए बड़े-बड़े शूरवीर मस्त हो जाते हैं, अवाक् हो जाते हैं और उनके नेत्र खुले के खुले रह जाते हैं, जबकि मेरी पूर्ण रूप-माधुरी का वे एकटक दर्शन करते रहते हैं। क्या मजाल उन वीरों की जो मुझे देख अपनी धनुष की डोरी खींच सकें अपितु मुझ नारी के पूर्ण दर्शन पाकर उन योद्धाभिमानी वीरों के धनुष-बाण हाथ से गिरते ही दिखाई देते हैं।

कामना वन्हि······आलिंगन करती।

अर्थ—मैं कामना की समिधाओं से प्रज्वलित होने वाली स्वच्छन्द एवं दुर्दमनीय अग्नि-शिखा हूँ। मेरे प्रसार का कोई परिहार नहीं और न ही मुझ से

छुटकारा पाने का कोई मार्ग। में (सृष्टि के आरम्भ से लेकर सृष्टि की समाप्ति तक) सदा सब लोकों में विचरण करती हूँ, हवा के झोंकों से उड़ते हुए बादलों की लहरों पर भी मेरा राज्य है। मैं बर्फीले तूफानों में भी निवास करती हूं। मैं आकाश के इस छोर से लेकर उस छोर तक उड़कर दौड़ते हुए मेघों को अपनी भुजाओं में बाँध लेती हूँ, (यही नहीं कि मैं मूर्त प्रतिमाओं को ही अपना वाहन बनाती हूं अपितु) स्वप्नों की अमूर्त भावना का भी मैं आलिंगन करती हूं। अर्थात् नारीत्व के रूप में मेरी महिमा अपरम्पार, अगाध, अलौकिक और दूरगामिनी है।

विस्तीर्ण सिन्धु······मेरा नूपुर।

प्रसंग—उर्वशी नारी की सर्वव्यापकता का चित्र उपस्थित कर रही है। नारी को मन्दिर, मस्जिद, पाठ और पूजा सब कुछ सिद्ध कर रही है।

अर्थ—ए पुरूरवा! लम्बे-चौड़े सागर के बीचो-बीच किसी शून्यस्थान पर एकान्त में ऊँचा मस्तिष्क किए टापू ही मेरा हृदय है। संसार के मन्दिरों में देवताओं की मूर्तियां केवल भ्रान्ति है किन्तु वस्तुतः मन्दिर में मूर्ति के रूप में मैं ही बैठी हूं। संसार मेरी ही मूर्ति को घेर कर धूप, दीप, नैवेद्य चढ़ा रहे हैं। मेरे पूजा में मेरे ही नूपुर बज रहे हैं।

मैं कला······उतरती हूँ।

शब्दार्थ—कला-चेतना=कला में जीवन। मधुमय=मधुर। प्रच्छन्न=गुप्त। भंगिमा=कुटिलता। तरंगित वर्तुलता=कान्तिमय गोलाई। प्रकांति=आभा।

अर्थ—नारीत्व का वर्णन करती हुई उर्वशी कहती है कि मैं कला का सजीव, मधुर, अप्रकट स्रोता हूं। जिस प्रकार से मूर्ति में अनन्त उतार-चढ़ाव, गति में कुटिलता होती है; आकार में गोलाई होती है; तरंगों और लहरों का प्राबल्य होता है उसी प्रकार मेरा भी अंग-प्रत्यंग उन्हीं गति-विधियों से ओतप्रोत है। मेरा यह जीवन-स्रोत नारी के रूप में कान्ति की प्रचुरता को लिए इस संसार में अवतरित होता है।

पाषाणों के······उभरती हूं।

शब्दार्थ—निविड़स्तनता=सघन पयोधरता। मुष्टिमध्यमा=सूक्ष्म कटि।

मदिर लोचना=मदमस्त नेत्र। कामलुलिता=कामनाओं से ललित। प्रस्तरावरण=पत्थर का आवरण।

प्रसंग—कवि नारी को ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी प्रदेशों में रहने वाली निर्झरिणी का रूप देते हुए अन्धकार से निकली हुई प्रकाश की रेखा के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं।

अर्थ—उर्वशी कहती है कि मैं ही अन्धड़ पर्वतों के पत्थरों को चीर-फाड़ कर निर्मित हुई सुन्दर नदी के समान मानव के जीवन में व्याप्त हुए एकाकीपन के गहन अन्धकार को चीर कर मदमस्त गति से संसार में अवतार ग्रहण करती हूं। जैसे कि पहाड़ों की अगम चोटियों से बल खाती हुई, मदमस्त गति से बहती हुई सरिता किसानों के मन को आनन्दमय बना देती है। मुझे ही निविड़स्तन-नता, मुष्टिमध्यमा और काम-लुलिता के नाम से सम्बोधित करते हैं।

भू नभ का······जीवन।

शब्दार्थ—निस्सीम=सीमा-रहित। कलित=सुन्दर। रसोदधि=आनन्द का समुद्र। उच्छल=तरंगित।

अर्थ—हे प्रिय! आकाश से लेकर पृथ्वी तक जो संगीत की तरंगें तरंगित हो रही हैं वे सब मेरे अनन्त प्रेम की झंकार हैं। निखिल काव्य-शास्त्र भी मेरी त्रिलोक-विजय का एक गीत है। मैं उस जीवन को पसन्द करती हूं जो तीव्र कामनाओं से परिपूर्ण है; व्यग्रता, चंचलता और संताप से व्याप्त है। मुझे वह जीवन अधिक रसीला प्रतीत होता है जो आनन्द के सागर में डूबते-उतरते और तरंगित होते हुए व्यतीत किया जाय।

तारों की······जगाती हूं।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—उर्वशी कहती है—मैं ही तारा-मण्डल की झिलमिल-झिलमिल करती हुई शुभ्र छाया में फूलों की नाव पर बैठकर मानव को विहार कराती हूं। रात्रि की प्रकाशमय किरण मैं ही हूं। और मैं ही प्राणिमात्र के मन में रात्रि के आगमन की प्रियता के भावों को जागृत करने वाली हूं क्योंकि मैं नारी हूं।

मादन सुगन्ध······मतवाली

शब्दार्थ—पवमान-दलित=हवा से हिलोरी हुई।

अर्थ—मैं ही गन्धमादन पर्वत की वह मादक गन्ध हूं जो सन्ध्या के समय पवन से झकझोर होकर प्रस्फुटित होती है और मैं ही चांदनी रात की मदमस्त करने वाली वह उदात्त कुमुदों की गन्ध हूं जो आकाश से लेकर पृथ्वी तक को आवेष्टित कर लेती है। अर्थात् नारीत्व की मदमस्त भावनाएँ भूतल के इस छोर से लेकर नभ के उस छोर तक इस प्रकार व्याप्त हैं जिस प्रकार पुष्पों की गन्ध पवन के रथ पर चढ़कर तीनों लोकों में निर्बाध भ्रमण करती हैं।

कबरी······में लय।

शब्दार्थ—कबरी=केश-पाश। आकुंचित=संकुचित। कंटकित=रोमांचित। झंकृतियां=स्वर-लहरियां। गोपन=गुप्तता। अगुरु=चन्दन, बहुत।

अर्थ—केश-पाश में बंधे हुए सुगन्धित फूलों की महक और संकुचित ओष्ठों का (रोमांच से) कांपना; आलिंगन की पीड़ा से मस्त रोमांचित शरीर और मदमाती आंखें दो प्राणियों के हृदय में गुप्त भावों की मधुर वीणा को गुप्त स्वर-लहरी में झंकृत कर देती हैं, जो कि चन्दन की धूम-शिखा की भांति ऊपर उठकर आकाश में एकाकार हो जाती हैं। इसी प्रकार से दो प्राणियों से नर और नारी का भाव चरम कोटि पर पहुँचने के पश्चात् प्रेम की पुट से लिंग-भेद की भावना से परे हो जाता है।

दो दीपों······लगती है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

अर्थ—नर और नारी के दो जीवन-दीपकों की ज्योति जब सम्मिलित रूप से जलने लगती है तब उनकी द्विधा की लौ एकरूपता में परिणत हो जाती है। साथ ही साथ, शरीरों की भिन्नता का भाव भी मन के अगाध रत्नाकर में अर्थात् प्रेम के अगाध सागर में डुबकी लगाकर एकाकार हो जाता है।

दो हृदयों······मुख से ।

शब्दार्थ—सरल हैं।

अर्थ—नारी और नर के दो मूक हृदयों का प्रेम-मिलन अनन्त सुख का संचार करने वाला होता है और शारीरिक भिन्नता को शिथिल करने वाला होता है। जब दो हृदय प्रेम के बन्धन में बंधते हैं तो जिह्वा को शब्द-प्रयोग की गुंजाइश नहीं किन्तु अलसाई आंखें ही मनोभावों को व्यक्त कर देती हैं। अर्थात् दो प्राणियों की हार्दिक भावना को व्यक्त करने के लिए कोई ऐसी भाषा नहीं जो मुख से बोली जा सके।

विशेष—नेत्रों की मूक भाषा के अप्रतिम सौन्दर्य का बिहारी ने भी बड़ा हृदयग्राही दर्शन किया है। यथा—

"कहत, नटत, रीझत खिजत-हिलत-मिलत लजियात
भरे भौन में करतु है नैनन ही सों बात।"

—बिहारी : सतसई

कितनी पावन······दिखाती है ।

शब्दार्थ—रस-समाधि=आनन्द-मग्न। अगोचर=इन्द्रियातीत।

अर्थ—हम उस आनन्द-विभोर होने की पवित्रता का मूल्य आंकने के लिए कोई कसौटी नहीं पाते हैं जिससे यह मृत्युलोक स्वर्ग से भी ऊंचा बन जाता है। हम इस स्थूल शरीर में आनन्द-भोग की प्रचुरता के कारण इन्द्रियातीत ब्रह्मानन्द का रसास्वादन कर लेते हैं, जिसे प्राप्त करने के लिए अनन्त योग, समाधि और साधना का सम्बल संकलित करना चाहिए।

देवता एक······जगाओ रे ।

शब्दार्थ—मदिर=मस्त। आरोहण=चढ़ना। परिरंभ=आलिंगन।

प्रसंग—सूफी-सिद्धान्त के आधार पर प्रेम से परमात्मा की प्राप्ति होती है। इसकी पुष्टि इस पद्य में की गई है।

अर्थ—इस दम्पति की मदमस्त शान्ति के गर्भ में कोई एक आराध्य देवता कहीं न कहीं अवश्य सोये हुए हैं। इस देवता तक पहुँचने के लिए हमारे शरीर के अंग-प्रत्यंग रक्त के कण-कण में और त्वचा के स्तर-प्रतिस्तर

में कुछ सीढ़ियां लगी हैं। अतः आलिंगन के जड़-बन्धन में बंधकर उन सीढ़ियों पर चढ़ते जाओ जिसमें आराध्यदेव विराजमान हैं। निर्दिष्ट स्थान पर पहुंचकर प्रसुप्त उस प्रेम के देवता को चुम्बन की मधुर थपकी से जगाने का प्रयत्न करो।

विशेष—यहां कवि ने विशुद्ध दाम्पत्य-जीवन को ईश्वर-प्राप्ति का सहज मार्ग बताया है।

चिन्तन की······जाती है।

शब्दार्थ—चिन्तन=भजन। स्वर्णांचल=सुनहरी वस्त्र।

अर्थ—सुन्दरता की लहरें भजन-भाव की लहरों से भी इष्टदेव की प्राप्ति के लिए बलवती होती हैं क्योंकि रूपवती नारी की विशुद्ध सुनहरी रजत-पताका सातवें आसमान तक लहराती हुई दिखाई देती है। यही नहीं मनुष्य को दर्शन-शास्त्र का गहरा अध्ययन और मनन जिस मधुर पृष्ठभूमि पर कठिनता से पहुंचा सकता है उस दिव्यलोक में हम प्रेम की नाव पर बैठकर बड़ी सरलता से पहुंच सकती हैं।

ओ शूण्य पवन······मैं विश्वप्रिया।

शब्दार्थ—शूण्य=आकाश। उन्निद्र=सजग। चिरन्तन=सनातन। व्यवध्यान=रुकावट। कृत्रिम=बनावटी।

प्रसंग—कामुकता के प्रतिनिधि पुरुषों को सम्बोधित करते हुए पावन नारी की मूर्त्ति बनकर उर्वशी निम्न प्रकार से उपदेश दे रही है।

अर्थ—उर्वशी उन मनुष्यों को सम्बोधित करते हुए कह रही है कि ए स्वच्छन्द वायुमण्डल में भ्रमण करने वाली नारी के प्रति विलासिता की भावनाओं से परिपूरित मनुष्यो! (ईश्वर के ध्यान से विमुख होकर) रात-रात भर मेरी काम लालसापूरक छवि का एकटक ध्यान धरने वाले मैं देश-काल की सीमा से परे विचरण करने वाली सनातन नारी हूं। मैं स्वाधीन नवयौवन की छटा से विभूषित ज्योति हूं। मैं सौन्दर्य की अमर निधि सदा सर्वदा नवयौवन-शालिनी और कोमलाङ्गी हूं। तुम (नरदेहधारियों) को हृदय में धैर्य धारण करना चाहिये। मैं त्रिभुवन और त्रिकाल में भी अनन्त बाधाओं

को चीरती हुई नर की सहयोगिनी अवश्य बनूंगी । मेरे मार्ग में अनन्त सरितायें, गम्भीर सागर, अगम पर्वत और बीहड़ जंगल कोई रुकावट नहीं डाल सकते । क्योंकि मेरी गति को रोकने के लिए भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल की कोई भी बाधा सफल नहीं हो सकती । विश्वप्रिया होने के कारण मुझे विश्व-कल्याण के लिए नारी के रूप में निर्बाध उपस्थित होना आवश्यक है ।

तुम पन्थ······मिटाऊंगी ।

शब्दार्थ—सरल हैं ।

अर्थ—तुम मेरी प्रतीक्षा करो । किसी रात्रि को अचानक मैं अवश्य आऊंगी और तुम्हारे अधरों में अपने अधरों की मदिरा को उंडेल कर और तुम्हें अपने वक्ष से लगाकर युग-युगों से संचित तुम्हारी कामाग्नि को तृप्त करूंगी ।

पुरूरवा

आवेशित······माया हो ।

शब्दार्थ—आवेशित=आवेश-युक्त, जोश में कहे गये । उद्‌गार=हृदय के सहज भाव । मर्म=तथ्य । उद्‌घाटन=खोलना, प्रकटीकरण । स्रस्त=शिथिल, ढीला । अवगुंठन=पर्दा, घूंघट । मायावरण=माया का परदा ।

प्रसंग—उर्वशी के आवेश में स्वयं सौन्दर्य-वर्णन के द्वारा भी उर्वशी की माया का रहस्य पुरूरवा के मस्तिष्क में अस्पष्ट ही रहता है ।

अर्थ—तुम्हारे ये आवेश में कहे गये तीव्र भाव रहस्य के प्रकट करने में समर्थ नहीं हैं । माया के रहस्य का पर्दा इन उद्‌गारों से बहुत अधिक नहीं हट सका है और यदि वह कुछ स्पष्ट हुआ भी हो तब भी तुम मेरे लिये रहस्यमयी हो । माया का आवरण हटा देने पर भी तुम मेरे लिये माया हो ।

विशेष—उपर्युक्त प्रथम दो पंक्तियों में प्रश्नवाचक चिन्ह किंचित संदिग्ध हैं । उनके न होने पर अर्थ कुछ अधिक स्पष्ट होता है । तीसरी पंक्ति में आवेशित उद्‌गार के द्वारा रहस्योद्‌घाटन का स्वीकारात्मक शब्द प्रयुक्त न होने से 'पर' अर्थसंगति में सर्वथा बाधक सिद्ध होता है । पुनश्च, मर्मस्थल से

उद्घाटित उद्गार सर्वथा आवेशित होते हैं। '**आवेशित**' उद्गार का विशेषण नहीं अपितु उसका सद्धर्म है जो उद्गार में स्वयं भी अन्तरस्थित है। तो फिर सहज उद्गार मर्मों का सही उद्घाटक हुआ और (?) प्रश्नवाचक चिन्ह का प्रयोग करने से इसका अर्थ विपरीत होता है, जो अधिक संगत नहीं है।

नारी मूलत: माया है; रहस्य है; सौन्दर्य है। जो स्वयं माया है उसके रहस्योद्घाटन से उत्तरोत्तर माया का ही रूप अधिक गहन होता जाएगा। प्रसाद ने भी लज्जा के अशरीरी शरीर को माया में लिपटा हुआ कहा है—

"वैसी ही माया में लिपटी
अधरों पर उंगली धरे हुए।"

--प्रसाद : कामायनी

इसी प्रकार श्रद्धा को प्रसाद जी ने माया तथा रहस्य की संज्ञा दी है—

"कौन हो तुम विश्व माया कुहुक सी साकार।
प्रणय सत्ता के मनोहर भेद-सी सुकुमार।"

--प्रसाद : कामायनी

अब भी······नहीं है।

शब्दार्थ— निष्कलुष=पाप-रहित। शुभ्र=श्वेत। वन्हि=आग। अरणी=यज्ञ में जलाई जाने वाली लकड़ी। हेम=सोना।

प्रसंग—पुरूरवा को उर्वशी के सौन्दर्य में किसी अव्यक्त शक्तिमती सत्ता की आभा का आभास होता है। उसे लगता है जैसे उर्वशी सृष्टि की सौन्दर्यानुभूति का एकत्र समाहार है।

अर्थ—अब भी तुम अमल आदि उषा की तरह दमक रही हो। अरणी से अभी-अभी प्रस्फुटित श्वेत आग जैसी तुम प्रकाशित हो रही हो। तुम मेरी युग-युगों की स्वर्णवर्णा प्रेमिका हो जिसकी स्वच्छ त्वचा पर कहीं भी समय की उंगलियों के दाग तथा स्पर्श नहीं हैं।

विशेष—'श्रद्धा' का रूप-वर्णन भी कुछ इसी प्रकार का है—

"उषा की पहली लेखा कान्त"

× × ×

"एक लघु ज्वालामुखी अचेत"

—प्रसाद : कामायनी : श्रद्धा

एक स्पर्श······ईहाओं से ।

शब्दार्थ—तन्त्री=वीणा । निनद=निनाद, झंकार । अरुण=लाल ।
पुंस=पुरुष । ईहाओं=इच्छाओं ।

अर्थ—तुम कोमल गीतों के स्वरों पर संचालित अंगुली का वह स्पर्श हो जिसके द्वारा वीणा से नवीन संगीत के स्वर तथा मधुर झंकार उमड़ पड़ती है। तुम जिस दिशा में भी अपने रक्तिम कमलों जैसे चरणों को रखती हो उसी दिशा में नवीन आशाओं से कम्पित नव पौरुष से युक्त पुरुष जाग उठते हैं।

तुम त्रिकाल सुन्दरी······लौट जाओगी ।

शब्दार्थ—त्रिकाल सुन्दरी=शाश्वत सुन्दर रहने वाली । आभा=ज्योति ।
पुलक=रोमांच ।

अर्थ—तुम शाश्वत सुन्दरी हो । तीनों लोकों की अमर-अखण्ड ज्योति हो तथा सभी युगों से और सभी दिशाओं से चलकर आई हो । इसीलिए तुम अनेक जन्म-जन्मान्तरों के कुंजों में रोमांच जगाकर पुनः सभी दिशाओं तथा सभी युगों को लौट कर चली जाओगी ।

एक पुष्प······सपनों की ।

शब्दार्थ—संहित=संचित, संकलित । रसाकर्षण=रसमय आकर्षण ।
मन्वन्तर=एक मनु का शासन काल, एक युग ।

अर्थ—तुम एक पुष्प में सभी पुष्पों का, एक किरण में सभी किरणों का और एक स्त्री में सभी स्त्रियों का एकत्र संग्रह हो । तुम प्रत्येक युग की परिचिता, प्रत्येक युग का स्नेहमय आकर्षण, अखिल विश्व की प्रिया तथा सब के स्वप्नों की महारानी हो ।

पर, दिगन्तव्यापिनी······हुई है ?

शब्दार्थ—दिगन्तव्यापिनी=दिशाओं में व्याप्त । चन्द्रिका=चन्द्रमा की किरण । व्योम=आकाश । कादम्बिनी=मेघमाला ।

अर्थ—किन्तु दिशाओं के छोर तक फैली हुई चन्द्रिका के समान उन्मुक्त

विचरण करने वाली तुम आकाश को छोड़ कर मेरी भुजाओं के जाल में जो आकर सिमट गई हो, अन्तहीन आकाश में विचरण करती हुई रसमयी मेघ-माला सी प्रसन्न होकर सहसा जो आकर मुझ पर बरस गई हो वह केवलमात्र संयोग है अथवा इस गम्भीर महामिलन के पीछे जन्म-जन्म का कोई रहस्य छिपा हुआ है ।

जहाँ जहाँ······पुरुष था ।

शब्दार्थ—मलयानिल=मलय-पवन । कुंचित=संकुचित । चुम्बन-रसिक=चुम्बन का रस लेने वाला ।

अर्थ—तुम जिस स्थान पर भी जब कभी पुष्प बन कर विकसित हुईं तब तब उस स्थान पर मैं ही शायक मलय-पतन बनकर तुम्हें अपनी उद्विग्न बाहों में घेरता रहा हूँ । जिसके सामने तुमने अपने संकुचित होठों को अर्पित किया, ऐसा लगता है, मैं ही सदा वह चुम्बन का रस लेने वाला पुरुष था ।

मेरी ही······दृगों के !

शब्दार्थ—कल्प=युग । प्रणय-उद्वेलित=कामोत्तेजित । वक्षोज=उरोज । आर्त्त=पीड़ित ।

अर्थ—वह मेरी ही जलन थी जिसे जन्क-जन्म से तुम फूलों के कुंज-भवनों में अपने आलिंगन से शान्त करती रही हो । युग-युगोंसे तुम कामोत्तेजित प्रणय-पीड़ित अपने वक्षस्थल पर मुझे सुलाकर मेरे दुःखी नयनों के आंसू पोंछती आई हो ।

जहां-जहां······चलता है ।

शब्दार्थ—निष्पलक=एकटक । मधुकर=भौंरा ।

अर्थ—जहां-जहां तुम रही मैं एकटक अपनी आंखों की ज्योति से वहीं तुम्हें सींचता रहा हूं । भविष्य में भी तुम जहां-कहीं जाओगी मैं गन्ध से आकर्षित हुए भ्रमर की तरह तुम्हारे साथ चलूंगा अथवा जिस प्रकार राहु चन्द्रमा का अनुगमन करता है उसी प्रकार मैं भी तुम्हारा अनुसरण करूंगा ।

विशेष—प्रेम के मधुर प्रसंग में राहु की कल्पना संगत प्रतीत नहीं होती। राहु सर्वथा अशुभ तथा भयावह ग्रह है जो चन्द्रमा के सौन्दर्य का मर्दन न कर के उसे आतंकित करता है। प्रेमी तथा प्रेमिका में किसी ओर से भी आतंकित होने अथवा किए जाने से साधारणीकरण की अपेक्षा रस में दोष उपस्थित होता है।

उर्वशी

चन्द्रमा चला······अरुणाभ शिखर।

शब्दार्थ—लोहित=रक्तिम, लाल। रजनी=रात। अरुणाभ=अरुण आभा वाला।

प्रसंग—उर्वशी का प्रस्तुत आख्यान तृतीय अंक का उपसंहार है। इसमें एक ओर रात व्यतीत होने तथा प्रभात आने का वर्णन किया गया तथा दूसरी ओर चतुर्थ अंक की पृष्ठभूमि को प्रस्तुत किया गया है।

अर्थ—चन्द्रमा अस्ताचल की ओर जा रहा है। रात व्यतीत हो रही है। प्रकाश के आसन पर पर्वत के नीचे से प्रभात फट रहा है। सूर्य अपने रक्त-रंजित रक्तिम किरणों के बाण फेंकता हुआ उदित हो रहा है और वह देखो सूर्य की अरुण आभा से मंडित पूर्वाचल का उच्च शिखर ज्योति से बिंध रहा है।

विशेष—इस पद में रात्रि के बीतने तथा प्रभात के आने के द्वारा मिलन के अन्त तथा वियोग के आरम्भ का और लोहित बाणों के द्वारा आगामी जीवन के संघर्षमय होने का संकेत दिया गया है।

हिमस्नात······गाती है।

शब्दार्थ—हिमस्नात=बर्फ में नहाई हुई। सिक्त=गीली, भीगी, वल्लरी=लता। विहगावलि=पक्षियों की पांति। सोहर=जन्म के समय गाए जाने वाला मंगलगीत।

अर्थ—उस हिमाच्छादित रससिक्त पुजारिन लतिका को देखो! वह अपने पति पर्वत को फूलों का नया हार पहना रही है। शायद कुंजों में कल किसी नए वृक्ष का जन्म हुआ है। इसीलिए तो यह जंगल के खग-वृन्द हर्षित हो मंगल गीत गा रहे हैं।

विशेष—उपर्युक्त पद में आगामी अंक में होने वाले उर्वशी के नवजात पुत्र का संकेत है।

कट गया······आना होगा।

शब्दार्थ—निमिष=पल, क्षण।

अर्थ—हमारा एक वर्ष इस गन्धमादन पर्वत पर ऐसे व्यतीत हो गया जैसे दो ही क्षण बीते हों। अब हमें यह स्थान छोड़ कर अन्यत्र जाना होगा और फिर पता नहीं, इस हरे-भरे धरती के स्वर्ग-स्वरूप शीतल वन में राजपुरी से लौट कर फिर कब आना हो सकेगा।

कितना अपार······सोते थे।

शब्दार्थ—उपधान= तकिया।

अर्थ—यहाँ रहते हुए हमें कितना असीम सुख मिलता था जब इस पर्वत की चट्टानों पर बैठे-बैठे हम दोनों झरनों के निर्मल जल में क्रीड़ा करके पांव भिगोते थे। पेड़ों के नीचे अपनी बाहों को आपस में एक दूसरे का तकिया बना कर हम किस प्रकार निश्चिंत होकर छाया में सो जाया करते थे।

जाने से··········हरियाली से।

शब्दार्थ—निर्झरी=छोटा झरना। नीरव=शान्त।

अर्थ—यहां से जाने से पहले आओ आज हम जी खोल कर झरनों से, लतिकाओं से तथा फूलों की एक-एक डाली से मिल लें। आओ प्रियतम! आज हम पर्वत पर पड़ने वाले मौन प्रकाश का जी भर कर पान करें और अपने हृदय को मस्ती से झूमती हुई हरियाली से अभिसिक्त कर लें।

चतुर्थ अंक

स्थान—महर्षि च्यवन का आश्रय (महर्षि की पत्नी सुकन्या उर्वशी के नवजात पुत्र को गोद में लिये खड़ी है। चित्रलेखा का प्रवेश)

सुकन्या

अच्छा, तू······भू पर।

शब्दार्थ—उचट गई=खुल गई, हट गई। पद-चाप=पैरों की आवाज।

प्रसंग—उर्वशी पुत्र-जनन के पश्चात् पुरूरवा के यज्ञ-कार्य में व्यस्त होने पर च्यवन के आश्रम में समय बिताती है। सुकन्या उर्वशी के नवजात शिशु को गोद में लिए खड़ी है। इसी बीच चित्रलेखा का प्रवेश होता है तथा शिशु की नींद उचट जाती है।

अर्थ—अरी चित्रलेखा! तू आ गई! तेरी आवाज पाकर मुन्ने की नींद उचट गई है अर्थात् सहसा खुल गई है। मानो इसके मन में जो स्वर्गलोक का अंश निहित है वह पृथ्वी पर स्वर्ग की चरण-चाप सुनकर जाग पड़ा हो।

विशेष—चित्रलेखा—"अप्सरा, राजा पुरूरवा ने केशी नामक दैत्य को मारकर इससे सम्बध किया।" —हिन्दी कथा कोष : चित्रलेखा ६९

परन्तु यहां कवि ने इस ऐतिहासिक तथ्यको न देकर चित्रलेखा को उर्वशी की सखी मात्र माना है।

यह प्रसून······प्रेमी होगा।

शब्दार्थ—प्रसून=फूला मती-नभ=धरती-आकाश। परिणय=प्रेम। क्षार=मिट्टी।

अर्थ—धरती और आकाश के अद्भुत प्रेम से उत्पन्न हुआ यह सुन्दर फूल (शिशु) पता नहीं अपने पिता की तरह धरती की मिट्टी के रस का लोभी होगा अथवा देवताओं के समान केवल सुगन्ध से प्यार करेगा।

चित्रलेखा

मही और नभ·······आती है।

शब्दार्थ—व्योम=आकाश, जलदखण्ड=बादलों के टुकड़े।

प्रसंग—प्रस्तुत पद में चित्रलेखा धरती और आकाश के अंतर में समाहित समान गुणों का वर्णन करती हुई दोनों को एक ही सत्ता के दो समान स्वरूप सिद्ध करती है।

अर्थ—धरती और आकाश दो हैं, ये सब कहने की बातें हैं। धरती को जितना खोदोगे उतना ही नीचे शून्य मिलता जाएगा और आकाश, जो सर्वथा शून्य तथा रिक्त दृष्टिगत होता है, उसके भीतर भी नाना प्रकार के मेघ-खण्ड घूमा करते हैं। और, वर्षा-ऋतु में कभी-कभी उसके हृदय में रंगीन इन्द्र-धनुष भी निकल आता है।

सुकन्या

और······दशा।

शब्दार्थ—विरक्त=उदासीन।

अर्थ—सुकन्या चित्रलेखा से प्रश्न करती है कि उदासीन अम्बर में रंगीन इन्द्र-धनुष के निकल आने पर उसकी क्या मनोदशा होती है?

चित्रलेखा

तुम्हें ही······जागे थे?

शब्दार्थ—निदाघमय=कष्टपूर्ण, कठोर। मधुशिखा=सौन्दर्य-ज्वाला। युवा=जवान, नवयुवती। ध्यान में अवस्थित, ध्यानस्थ=ध्यान-लीन। विलोल=चंचल।

प्रसंग—चित्रलेखा सुकन्या के प्रति अपने भाव प्रकट करती है—आकाश में इन्द्र-धनुष आने पर वह योगी अन्तरिक्ष उसी प्रकार विकल हो उठता है जैसे सुन्दर कामिनी को देखकर मुनि, तपस्वी विकल हो उठते हैं।

अर्थ—सुकन्ये! क्या तुम नहीं जानतीं कि किसी सुन्दरी को देख उस पर मोहित होकर योगी वर अपने कठोर योग और तपस्वी अपने कष्ट साध्य तप को छोड़ इस तरह विकल हो दौड़ पड़ते हैं मानो सौन्दर्य की वह शिखा

जो उनके ध्यान में स्थिर नहीं होती थी, वह नवयौवना कामिनी बनकर उनके सामने आ ठहरी हो। क्या तुम्हें याद नहीं है कि जब तुमने ध्यानमग्न च्यवन ऋषि का स्पर्श किया था तब वे किस प्रकार व्याकुल तथा चंचल होकर अपनी समाधि से जाग पड़े थे।

सुकन्या

किन्तु······गर्व है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

अर्थ—चित्रलेखा के प्रति सुकन्या अपने विचारों को स्पष्ट करती हुई कहती है कि उसे च्यवन ऋषि से इस कारण कि उन्होंने उसका (सुकन्या का) स्पर्श पाकर समाधि खण्डित की, घृणा नहीं है अपितु गर्व है।

चित्रलेखा

यही गर्व······आंखों को।

शब्दार्थ—अनायास=सहसा। तेजवंत=तेजस्वी। व्यग्र-उदग्र=विकल-उत्तेजित। तपश्चरण=तपश्चर्या, तपस्या। निरंजन=परब्रह्म। उन्मीलित =खुलना। दूषते=दोष देते।

प्रसंग—इन पंक्तियों में चित्रलेखा योग तथा भोग, तप एवं प्रणय के समन्वय की महत्ता स्थापित करती है।

अर्थ—मुझे भी सहसा उन तेजस्वी पुरुषों पर गर्व होने लगता है जिनकी तपस्या विकल, उद्दीप्त प्रेम में बाधा नहीं बनती। और न ही जिनका प्रेम उनकी तपस्या में विघ्न डालता है। प्रेम के बन्धन में बंधे हुए भी जो रस में डूबे हृदय से उसी परम सुख की चोटी पर चढ़े हुए रहते हैं जहां योग योगी को और कविता कवि को बहा कर ले जाती है। तथा परब्रह्म की समाधि से खुल जाने पर जिनकी आंखें सांसारिक प्रणय में फंसी आँखों में दोष नहीं देखतीं।

तप का······नहीं है।

शब्दार्थ—उत्सर्ग=बलिदान। तपोनिधान=महान तपस्वी। सीमान्तनी =स्त्री। अमोघ=अपार। द्रष्टा=ज्ञानी। इन्द्रिय-तर्पण=इन्द्रियसुख।

अर्थ—तपस्वीराज **च्यवन** ने तप को प्रेम पर बलिदान कर केवल तुम्हें ही नहीं अपितु जगत भर की स्त्रियों को अपार अमर तथा तीनों लोकों को जीतने वाला गौरव प्रदान किया है। और, उन परम ज्ञानी ऋषि ने पुनः यौवन धारण कर यह सिद्ध कर दिया है कि इन्द्रियों का सुख भोगने में कोई दोष नहीं है।

विशेष—"ऋग्वेद में च्यवन और अश्विनी कुमारों का आख्यान है। महाभारत के अनुसार इनकी माता फलोमा और पिता भृगु थे। 'च्यवन' का शब्दार्थ है—गिरा हुआ। कहा जाता है, जब इनकी मां गर्भवती थी तभी एक राक्षस उन्हें ले भागा। मार्ग में भय से इनका गर्भपात हो गया। द्रवीभूत हो राक्षस ने उनको सद्यःजात पुत्र के साथ चले जाने की आज्ञा दे दी। उसी पुत्र का नाम च्यवन हुआ। च्यवन बहुत बड़े ऋषि हो गए हैं। एक बार नर्मदा-तट पर घोर तप करते हुए ये बहुत दिनों तक समाधिस्थ रहे। इनके सारे शरीर को दीमक ने ढक लिया। केवल आंखें ही चमकती रहीं। उनके इस आश्रम में एक बार राजा शर्याति की कन्या सुकन्या पहुंची और उनकी आंखों को जुगनू समझ कर खोद दिया, जिससे आंखों से रक्त बहने लगा। राजा शर्याति क्षमा मांगने आए, पर स्त्री रूप में सुकन्या को देने पर ही च्यवन क्षमा करने को प्रस्तुत हुए। च्यवन अति वृद्ध और जीर्णकाय थे। सब लोग सुकन्या पर हंसते थे। एक बार च्यवन के बुढ़ापे की हंसी उड़ा कर अश्विनी कुमारों ने सुकन्या को विचलित करना चाहा। कुमारों ने उनके सतीत्व की परीक्षा ली। एक बार एक सरोवर में कुमारों के साथ च्यवन को स्नान कराया गया। दिव्य देह धारण किए वे सभी एकही रूप धारण किए हुए निकले सुकन्या को उसमें से एक को चुनने को कहा गया। उसने उन्हीं को चुना। इससे कुमार सुकन्या से अत्यन्त प्रसन्न हुए और दिव्य औषधि से च्यवन को स्थायी यौवन प्रदान किया। यह औषधि अब भी 'च्यवनप्राश' के नाम से प्रसिद्ध है।"

—हिन्दी कथा कोष : ७०

एक प्रेम……हो जाते हैं।

शब्दार्थ—विधु=चन्द्रमा। ताल-द्रुम=ताड़ के पेड़। रस-आलोड़न=प्रेम-रस का उमड़ना।

अर्थ—एक तो वह प्रेम होता है जो चन्द्रमा के समान ऐसे दो ताल-वृक्षों के बीच से होकर ऊपर उठता जाता है जिन वृक्षों ने कभी प्रेम का आलिंगन ही नहीं किया और दूसरा वह प्रेम है जिसके रसावेश में पड़कर दो हृदय ही नहीं दो शरीर भी एक हो जाते हैं।

प्रथम प्रेम……दाग नहीं है।

शब्दार्थ—अंतर्दाह=हृदय की जलन। अतृप्ति=अधूरी प्यास। ललक=लालसा। इच्छा-अंत:क्षुब्ध=भीतर से दु:खित, पीड़ित। संत्रस्त=आतंकित। विभा=प्रकाश, किरण।

अर्थ—पहला प्रेम चाहे जितना भी पवित्र क्यों न हो पर अधूरा है। मन भले ही एक हो लेकिन मन की इस एकाग्रता से शरीर को कुछ नहीं मिल सकता। केवलमात्र हृदय की जलन, असन्तोष की वेदना, अभिलाषाओं की व्यथा ही तो मिल पाती है। दो हृदय सतत क्षोभ से पीड़ित रहते हैं लेकिन इस भय से सदा आतंकित रहते हैं कि हृदय का बांध टूटते ही तपोव्रत अथवा संयम की ज्योति नष्ट हो जाएगी। अतः अच्छा है, मन जलता रहे किन्तु शरीर तो बेदाग है।

विशेष—दिनकर ने पार्थिव प्रेम की अथवा यों कहिए कि दो शरीरों और हृदयों के एकत्र सम्मिलन की अनिवार्यता प्रतिष्ठित करते हुए मात्र योग को अथवा प्रेम के उस स्वरूप को जो दो शरीरों के आलिंगन के रस को नहीं जानता अंतर्जलन तथा मनःक्लान्ति का कारण कहा है। मन के आनन्दमय (एकाग्र) होने पर शरीर भी आनन्द का अनुभवन करता है। इसे दिनकर स्वीकार नहीं करते। यद्यपि योगियों की परम स्थिति से मन के साथ-साथ देह को भी चरम आनन्द की उपलब्धि होती है। किन्तु दिनकर की भावना पर वैज्ञानिक युग का बौद्धिक आवरण चढ़ा होने के कारण भौतिक सुख की मूल-प्रवृत्ति को उपेक्षित नहीं किया जा सकता है।

मृषा तर्क······जाती है।

शब्दार्थ—मृषा=झूठा, व्यर्थ । प्रभा=प्रकाश । क्षिप्र=तेज । अंग-संज्ञा=शरीर की चेतना ।

अर्थ—हे सुकन्ये ! यह विवाद व्यर्थ है । तन-मन का यह पारस्परिक भेद मुझे अस्वीकार्य है । तुम्हीं बताओ ! जब मन मलिन होगा तो शरीर के दिव्य होने की सम्भावना किस प्रकार की जा सकती है । तन-मन से समन्वित उस पूर्ण प्रेम की मैं बलिहारी जाती हूं जिसकी तेज लहर में केवल मन ही नहीं अपितु शरीर की सत्ताएं भी बेसुध हो जाती हैं ।

धन्य त्रिया······लहरों पर ।

शब्दार्थ—त्रिया=नारी । बलिष्ठ=उर्जस्वित । प्रणय-पीड़न=प्रेम की कसक ।

अर्थ—वह नारी धन्य है जो उर्जस्वित युवक की बेकल भुजाओं में आंख मूंदकर अपना समर्पण कर देती है और रस-मग्न होकर उस असह्य प्रेम के पीड़न को उसी प्रकार सहती है जैसे तरंगित सागर की लहरों में पड़ा हुआ एक पुरुष उसके मत्त झमेलों में भी आनन्दित होकर झूमता है ।

विशेष—उदाहरण अलंकार ।

धन्य पुरुष······आना है ।

शब्दार्थ—निष्काम=लालसा-हित । उपोषित=उपवास, व्रत । जठरा-नल=पेट की आग । क्षुधा=भूख । दीपित=ज्योतिमान । सतत=निरंतर । भोगरत=भोग में निमग्न । तीक्ष्ण=कषाय, पैना । भोग-निरत=भोग में लगे हुए ।

प्रसंग—उपरोक्त पंक्तियों में कवि ने चित्रलेखा के मुख से शरीर में निहित प्रेम की दो स्थितियों—(i) भोग-निरत प्रेम, (ii) योगी का प्रेम—का अन्तर स्पष्ट किया है ।

अर्थ—वे पुरुष धन्य हैं जो वर्षों तक निष्काम उपवास धारण करके अपनी पेट की आग को तीव्र तथा भूख को अधिक प्रज्ज्वलित कर लेते हैं । भला निरन्तर भोग-लिप्सा में लिप्त व्यक्ति जीवन के तीक्ष्ण स्वाद को क्या

जानेगा ? उसे तो केवल वही व्यक्ति जान सकता है जिसने कुछ दिन तक उपवास करके देखा हो। सतत भोग में निरत प्रेमी सर्वदा छाया में निवास करने का आकांक्षी रहता है अर्थात् वासना-लिप्त व्यक्ति कभी भी वियोगाग्नि को सहने में समर्थ नहीं होते जबकि प्रेम-योगी का स्वभाव सदा धूप से छाया की ओर आना है। अर्थात् वह तब तक प्रेम की शीतल बयार में अपना सर्वस्व समर्पण नहीं करता जब तक वह प्रेम की साधना में तप कर सोना न हो जाय।

विशेष—इस प्रकार भोग-रत प्रेमी प्रेम की 'सिद्धावस्था' तथा योगी प्रेमी 'साधनावस्था से सिद्धावस्था' की सोपान को अधिक श्रेयस्कर समझता है।

सुकन्या

एकचारिणी······हो कर ?

शब्दार्थ—एकचारिणी=पतिव्रता। अबन्ध=मुक्त, स्वच्छन्द, आजाद। क्रीड़ा=खेल। दयिता=पत्नी, प्रेयसी।

अर्थ—मैं पतिव्रता स्त्री भला विविध भोगों के स्वादों को क्या जानूं ? मेरे आनन्द-धाम पतिदेव तो केवल मेरे महर्षि ही हैं। योग-भोग के इन विभिन्न आनन्दों को तो स्वच्छन्द विहार करने वाली अप्सराएं ही जान सकती हैं। गृहिणी का तो अपना एक ही परम आराध्य देव होता है जिससे उसे योग तथा भोग दोनों ही प्राप्त हो जाते हैं। (अब तुम्हीं बताओ, भला) महर्षि की पत्नी तथा प्रेयसी बनकर (योग और भोग में से) मुझे क्या नहीं मिला अर्थात् प्रेम की समन्वित पीयूष-धारा का मैं आनन्द-विभोर होकर पान कर रही हूँ।

विशेष—(i) सुकन्या के रूप में गृहिणी के परम आदर्श की स्थापना की गई है ?

(ii) अप्सरा के मुक्त विचरण के माध्यम से आज की पश्चिम के रंग में रंगी हुई युवतियों के प्रति एक गहरा व्यंग्य है जिसको कवि ने आगे की पंक्तियों में और अधिक स्पष्ट किया है।

शिखर-शिखर······फिरने वाली को ?

शब्दार्थ—प्रफुल्ल=प्रसन्न ।

अर्थ—(नारी को अपनी कल्पना के पंख फैलाकर) शिखर-शिखर उड़ने में न जाने कौनसा आनन्द प्राप्त होता है ? (मेरी मति में तो) एक वृक्ष (पति) का आश्रय लेकर अपना सम्पूर्ण जीवन बिताने में जो मन प्रसन्न होता है, चित्त शीतल होता है और गहन शान्ति मिलती है वह भला नित्य प्रति नए-नए फूलों (पुरुषों) पर उड़ने वाली रमणी को कहां प्राप्त हो सकती है ?

विशेष—कवि अथवा साहित्यकार ध्वनि-ग्राहक यन्त्र के समान अपने युग की सभी मूल समस्याओं को पकड़कर अपनी रुचि के अनुसार अपने काव्य में अभिव्यक्त करता है। पश्चिमी प्रभाव के कारण आज भारतीय नारी अपने देश की संस्कृति एवं मर्यादा को भूलकर 'तितली' का रूप धारण कर बैठी है। पातिव्रत्य धर्म उसमें से लुप्त होता जा रहा है। पश्चिमी रौ में बहने वाली ऐसी ही रमणियों के प्रति कवि ने इन पंक्तियों में व्यंग्य किया है।

'अप्रस्तुत प्रशंसा' अलंकार।

नहीं एक······हृदय को।

शब्दार्थ—सरल हैं।

अर्थ—नारी के भी एक से अधिक प्राण नहीं होते फिर भला वह क्या खिलाकर अलग-अलग पुरुषों को खिलाती है और पुरुष भी नारी के हृदय को पाए बिना किस प्रकार जीता है ?

विशेष—आज का युवक तथा युवती-समूह पल्लवग्राही प्रेम के मार्ग पर चल रहा है। हृदय का तो वे कुछ मूल्य ही नहीं समझते। यही कारण है कि आज प्रेम का नाम बदनाम हो गया है। प्रेम हृदय की निधि है। हृदय एक ही होता है। अतः युवक हो अथवा युवती—दोनों को एक से ही प्रेम करना चाहिए; उसे ही अपना हृदय समर्पित करना चाहिए तभी प्रेम पावनता का रूप धारण कर सकता है।

जानेगा ? उसे तो केवल वही व्यक्ति जान सकता है जिसने कुछ दिन तक उपवास करके देखा हो। सतत भोग में निरत प्रेमी सर्वदा छाया में निवास करने का आकांक्षी रहता है अर्थात् वासना-लिप्त व्यक्ति कभी भी वियोगाग्नि को सहने में समर्थ नहीं होते जबकि प्रेम-योगी का स्वभाव सदा धूप से छाया की ओर आना है। अर्थात् वह तब तक प्रेम की शीतल बयार में अपना सर्वस्व समर्पण नहीं करता जब तक वह प्रेम की साधना में तप कर सोना न हो जाय।

विशेष—इस प्रकार भोग-रत प्रेमी प्रेम की 'सिद्धावस्था' तथा योगी प्रेमी 'साधनावस्था से सिद्धावस्था' की सोपान को अधिक श्रेयस्कर समझता है।

सुकन्या

एकचारिणी······हो कर ?

शब्दार्थ—एकचारिणी=पतिव्रता। अबन्ध=मुक्त, स्वच्छन्द, आजाद। क्रीड़ा=खेल। दयिता=पत्नी, प्रेयसी।

अर्थ—मैं पतिव्रता स्त्री भला विविध भोगों के स्वादों को क्या जानूं ? मेरे आनन्द-धाम पतिदेव तो केवल मेरे महर्षि ही हैं। योग-भोग के इन विभिन्न आनन्दों को तो स्वच्छन्द विहार करने वाली अप्सराएं ही जान सकती हैं। गृहिणी का तो अपना एक ही परम आराध्य देव होता है जिससे उसे योग तथा भोग दोनों ही प्राप्त हो जाते हैं। (अब तुम्हीं बताओ, भला) महर्षि की पत्नी तथा प्रेयसी बनकर (योग और भोग में से) मुझे क्या नहीं मिला अर्थात् प्रेम की समन्वित पीयूष-धारा का मैं आनन्द-विभोर होकर पान कर रही हूँ।

विशेष—(i) सुकन्या के रूप में गृहिणी के परम आदर्श की स्थापना की गई है ?

(ii) अप्सरा के मुक्त विचरण के माध्यम से आज की पश्चिम के रंग में रंगी हुई युवतियों के प्रति एक गहरा व्यंग्य है जिसको कवि ने आगे की पंक्तियों में और अधिक स्पष्ट किया है।

शिखर-शिखर······फिरने वाली को ?

शब्दार्थ—प्रफुल्ल=प्रसन्न।

अर्थ—(नारी को अपनी कल्पना के पंख फैलाकर) शिखर-शिखर उड़ने में न जाने कौनसा आनन्द प्राप्त होता है? (मेरी मति में तो) एक वृक्ष (पति) का आश्रय लेकर अपना सम्पूर्ण जीवन बिताने में जो मन प्रसन्न होता है, चित्त शीतल होता है और गहन शान्ति मिलती है वह भला नित्य प्रति नए-नए फूलों (पुरुषों) पर उड़ने वाली रमणी को कहां प्राप्त हो सकती है ?

विशेष—कवि अथवा साहित्यकार ध्वनि-ग्राहक यन्त्र के समान अपने युग की सभी मूल समस्याओं को पकड़कर अपनी रुचि के अनुसार अपने काव्य में अभिव्यक्त करता है। पश्चिमी प्रभाव के कारण आज भारतीय नारी अपने देश की संस्कृति एवं मर्यादा को भूलकर 'तितली' का रूप धारण कर बैठी है। पातिव्रत्य धर्म उसमें से लुप्त होता जा रहा है। पश्चिमी रौ में बहने वाली ऐसी ही रमणियों के प्रति कवि ने इन पंक्तियों में व्यंग्य किया है।

'अप्रस्तुत प्रशंसा' अलंकार।

नहीं एक······हृदय को।

शब्दार्थ—सरल हैं।

अर्थ—नारी के भी एक से अधिक प्राण नहीं होते फिर भला वह क्या खिलाकर अलग-अलग पुरुषों को खिलाती है और पुरुष भी नारी के हृदय को पाए बिना किस प्रकार जीता है ?

विशेष—आज का युवक तथा युवती-समूह पल्लवग्राही प्रेम के मार्ग पर चल रहा है। हृदय का तो वे कुछ मूल्य ही नहीं समझते। यही कारण है कि आज प्रेम का नाम बदनाम हो गया है। प्रेम हृदय की निधि है। हृदय एक ही होता है। अतः युवक हो अथवा युवती—दोनों को एक से ही प्रेम करना चाहिए; उसे ही अपना हृदय समर्पित करना चाहिए तभी प्रेम पावनता का रूप धारण कर सकता है।

स्यात्, मात्र·····लो आस्थी।

शब्दार्थ—स्यात्=शायद, सम्भवतः। भित्ति=दीवार (शरीर)। योषिता=नारी, स्त्री। शरीर-मन्दिर=शरीर रूपी भवन। धनु=धनुष (कटाक्ष)। प्रसून=फूल, (कपोलों की अरुणिमा)। उन्नत-तरंग=ऊँची-लहरें (उन्नत उरोज)। अचिर=अस्थायी। जरा=बुढ़ापा।

अर्थ—सम्भवतः मनुष्य नारी के शरीर रूपी मन्दिर में चित्रित धनुष (भौंह), प्रसून (कपोलों की अरुणिमा) तथा उन्नत तरंग (उर्जस्वित वक्ष) से आकर्षित होकर ही हृदय की चिर महत्ता को भूल जाता है लेकिन ये सारे चित्र नाशवान हैं। एक दिन जब इस जवानी से जरा आगे चलकर बुढ़ापा कदम रखेगा तो ये भौंहों के धनुष सिकुड़ जाएँगे; विकसित अरुणिम पुष्पों के समान कपोलों की लाली छूट जाएगी और वक्ष पर उरोजों के कारण जो आकर्षित करने वाली उन्नत तरंग दिखाई दे रही है वह समतल हो जाएगी।

तब फिर······मरण है।

शब्दार्थ—हतभागी=भाग्य की मारी हुई। भग्नावशेष—खंडहर। हर्म्य=भवन, अन्तःपुर। आशु=सद्यः, तुरन्त।

अर्थ—फिर उस गलित-यौवना, भाग्यहीना नारी की अन्तिम शरण कहाँ है? उसके यौवन के खण्डहर जरा के आने पर फिर किसको रुचिकर लगेंगे? देव-मन्दिर में भी लोग तभी तक जाते हैं, जब तक उसका तोरण-द्वार हरे-भरे कोमल फूल-पत्तों से सजा होता है और उसकी दीवारों पर सुन्दर चित्रकारी की त्वचा चढ़ी रहती है। यदि देव-भवन खण्डित होगा तो उसके भीतर के देवता का भी मरण शीघ्र ही हो जाएगा।

भावार्थ—नारी तभी तक आकर्षण का केन्द्र है जब तक उसके बाह्य अंग परिपुष्ट एवं सुन्दर होते हैं। बाह्य दैहिक सुन्दरता को छोड़ मन के आन्तरिक वैभव पर रीझना विश्व का नियम नहीं है।

इसीलिए······हाहाकारों में।

शब्दार्थ—उपवन=बाग। गलित=गले हुए, नष्ट, क्षीण। म्लान=मैले। विरमेगी=रमेगी, अटकेगी। विजन=शून्य, सूना। निकेतन=घर, भवन, शरीर।

अर्थ—इसीलिये में कहती हूं कि जब तक तुम्हारे यौवन का बाग हरा-भरा है, अपने सम्पूर्ण जीवन का तार किसी एक (पुरुष-प्रेमी) के साथ बांध लो। नहीं तो एक दिन ऐसा आयेगा जब कान्तिहीन मलीन अंगों पर क्षण भर के लिये भी किसी पुरुष की दृष्टि नहीं आकर जमेगी। बाहर शरीर का शून्य जंगल होगा और हृदय में अन्तर के देवता (आन्तरिक अनुभवन) भयंकर करुण हाहाकार कर प्राणों को छोड़ देंगे—छटपटायेंगे।

विशेष—वृद्धावस्था आने पर यौवन का मूल्य मालूम होगा तब प्राण यौवन के अभाव में करुण स्मृति में तड़पेंगे। शरीर का समस्त आकर्षण समाप्त हो जायेगा।

चित्रलेखा

कौन लक्ष्य ?

अर्थ—नारी का लक्ष्य कौन सा है ? भटक-भटक कर अनेक स्थानों पर रस पान करना या एक ही स्थान पर बँधकर रस लेना ?

सुकन्या

जिसको भी समझो।

अर्थ—तुम इन दोनों में जिसे भी उचित समझो अपना लक्ष्य बना लो।

चित्रलेखा

मैं तो······रहेगा।

शब्दार्थ—सौरभ=सौन्दर्य, सुगन्ध।

अर्थ—मुझे जीवन में किसी प्रकार की प्यास नहीं है। मेरे प्रसन्न प्राणों के अन्तर्देवता दुःखित नहीं हैं। जहां तक मेरी दृष्टि जाती है मुझे तो ऐसा दिखाई देता है कि जब तक फूल खिलते हैं, हवा सुगन्ध लेकर चलती है, मैं इसी प्रकार खिली रहूंगी। मुझमें ऐसा ही सौन्दर्य रहेगा। यही यौवन रहेगा।

विशेष—चित्रलेखा सौन्दर्य के असीम सत्य एवं सत्व को प्रकट करती हुई अपने यौवन में अमरता का आभास देखती है। वैसे भी देव जातियां अजर हैं, उन्हें वृद्धावस्था नहीं व्यापती।

सुकन्या

सो……सकती है ?

शब्दार्थ—विगलित=नष्ट। छलना=धोखा, प्रवंचना। मर्त्य-भुवन=मत्य-लोक। अवलंब=सहारा, आश्रय।

अर्थ—ऐसा तुम्हें इसलिये लगता है कि तुम अप्सरा हो, स्वयंसिद्ध हो, समर्थ हो। तुम परियों का यौवन कभी नष्ट नहीं होता। किन्तु इस पार्थिव मर्त्यलोक में तो यौवन केवलमात्र छलना है धोखा है, उसका सहारा लेकर मानव नारी कब तक जीवित रह सकती है। भावार्थ यह कि पृथ्वी के प्राणियों का यौवन क्षणिक है और उसका वृद्धावस्था में बदल जाना निश्चित है।

अप्सरियां……होता है।

शब्दार्थ—योषिता=स्त्री। आनन्द-कोष=आनन्द का घर। जीर्णता=मलिनता, शिथिलता।

अर्थ—अप्सरियां जो कुछ भी करें उन्हें सब सम्भव है। लेकिन हम धरती की ललनाओं के जीवन का आनन्द-निधि केवल रसपूर्ण हृदय ही है। हमारा हृ:य हमें यौवन के चले जाने पर भी नहीं छोड़ता, और न ही शरीर में दुर्बलता आने पर हमारा हृदय दुर्बल होता है।

(मनुष्य के वृद्ध हो जाने पर भी हृदय में रस की अजस्र धार बहा करती है। इसलिए कहा जाता है कि 'वह दिल से बूढ़ा नहीं है।')

एक दूसरे……करते हैं।

शब्दार्थ—उर=हृदय। वृन्त=डंठल, टहनी। शिशिर=सर्दी। घाम=धूप, गर्मी। पावस=वर्षा। खेप=गँवाना, व्यतीत करना। अनुद्धत मन=शान्त चित्त। उदधि=सागर।

अर्थ—हम मानव-मानवियाँ एक दूसरे के हृदय में इस प्रकार बस जाते हैं मानो एक ही टहनी पर दो फूल खिले हों। फिर दोनों में सर्दी, गर्मी तथा वर्षा का भेद नहीं रहता है। एक ही साथ हम जवान और एक ही साथ बूढ़े होते हैं। शान्त चित्त से अगणित ऋतुओं को सुख से काट देते हैं। एक ही नौका पर चढ़कर जीवन-सागर को पार करते हैं।

सच्चे प्रेमियों के हृदय मिल जाने पर उनमें भेद की लकीर मिट जाती है।

अप्सरियां······उत्सर्जन से।

शब्दार्थ—चिर=अमर, दीर्घकालीन । महत्=महान् । उत्सर्जन= समर्पण ।

अर्थ—परियां अशान्त चित्त होकर अपने शाश्वत यौवन के जिस रस को भोगती हैं उनके उस रस से कहीं अधिक सुख हमें प्रेम भरे हृदय के छल रहित शान्त नम्र समर्पण से प्राप्त होता है।

विशेष—हृदय का असीम सुख उसी को मिलता है जो अपना सर्वस्व समर्पण कर अपने हृदय को किसी एक के हाथ में सौंप देता है। सतत भटकते रहने में तो हृदय के दाह के अतिरिक्त सुख है ही नहीं।

चित्रलेखा

सचमुच······जाती हैं।

शब्दार्थ—अप्रमेय=अकथनीय । नन्दि-निलय=आनन्द का निकेत । दंपतियों=स्त्री-पुरुष का जोड़ा, पति-पत्नी । उत्सर्जित=न्योछावर, समर्पित । स्पर्शन=स्पर्श । मुनिसत्तम=मुनिश्रेष्ठ । कोपाकुल=गुस्से से व्यग्र । तापसों =तपस्वियों ।

अर्थ—वास्तव में यह धरती का सहज प्रेमजन्य सुख अवर्णनीय है। मन ही आनन्द का कोष है। हृदय का क्षण भर के लिए भी समर्पण पाने से जब इतना सुख मिलता है तब उन पति-पत्नियों को कितना सुख मिलता होगा जो सदा के लिए अपना हृदय परस्पर समर्पित कर देते हैं। लेकिन सुकन्ये ! जब तुम्हारे स्पर्श से च्यवन ऋषि समाधि खण्डित कर क्रोध से व्याकुल होकर जाग उठे थे। तब तुम उनसे भयभीत नहीं हुईं क्या ? क्रोधित हुए तपस्वियों से तो हम अप्सराओं को भी डर लगता है।

विशेष—वस्तुतः समर्पण ही सुदृढ़ प्रेम का उपयुक्त परिदान है। 'कामायनी' की श्रद्धा भी सेवा और समर्पण को नारी-जाति का गौरव मानती है—

"समर्पण लो सेवा का सार, सजल संसृति का यह पतवार।
आज से यह जीवन उत्सर्ग, इसी पदतल में विगत विकार।"

—कामायनी : श्रद्धा : ५७

× × ×

प्रेम के समर्पण में तो कुर्बानी इस हद तक पहुंच जाती है कि प्रेमी को अपनी जांत-पांत बदलने में भी संकोच नहीं होता। तभी तो कृष्ण के प्रेम में दीवानी 'मुगलानी ताज' अपना सर्वस्व उनके चरणों पर न्योछावर कर देती है—

"नन्द के कुमार कुरबान तेरी सूरत पैं,
हौं तो मुगलानी हिन्दुआनी ह्वै रहूंगी मैं।"

—ताज।

सुकन्या

डरी नहीं······आंखों में।

शब्दार्थ—कौतूहल=विस्मय। उद्भासित=प्रज्ज्वलित। रन्ध्र-युगल=दोनों आंखें। लीलना=निगलना। निष्कम्प=स्थिर। चेतनाहीना=निस्पंद। भयस्तंभ-पीड़िता=भय से जकड़ी हुई और दुःखित। संज्ञ=निश्चेतन। मृग-रिपु=शिकारी अथवा शेर।

अर्थ—चित्रलेखे! उनकी खण्डित समाधि से उत्पन्न कुपित मुद्रा को देखकर मैं न डरती यह कैसे सम्भव था? मैंने तो जिज्ञासावश उन ध्यानलीन मुनिदेव की पलकें तनिक अपनी ओर खींची थीं त्योंही उनके प्रज्ज्वलित दो नयन-रन्ध्रों से ऐसी ज्वाला निकलने लगी मानो स्वयं अग्नि देवता निकलकर बाहर आ रहे हों और जैसे मुझे वह ज्वाला एक ग्रास में ही निगलने को प्रस्तुत हो गई। मैं तनिक भी हिली-डुली नहीं अपितु स्थिर, निस्पंद, चेतना-शून्य, भयभीत, जड़ित, व्याकुल हुई उस हिरणी की तरह खड़ी ही रह गई, जिसकी मृत्यु सामने सिंह की आंखो में खड़ी हो।

विशेष—'उदाहरण' अलंकार।

पर में······लाली से ।

शब्दार्थ—पावक=आग । परिणत=बदलना । प्रमुदित=प्रसन्न । अनल-ज्वाल=अग्नि की शिखा । जावक=महावर । आसव=शराब ।

अर्थ—लेकिन मैं महामुनि के नयन-रन्ध्रों से फूटी हुई ज्वाला में जली नहीं, तभी उनकी आंखों की वह आग मधु की शीतल ज्वाला में बदलने लगी मानो प्रसन्न हुई अग्नि की ज्वालाएँ जावक का रूप धारण करके बदल रही हों । उनके नयन लाल थे किन्तु क्रोध से नहीं अपितु मधुमय प्रणय-मदिरा की लालिमा से रक्तिम हो रहे थे ।

विशेष—उत्प्रेक्षा अलंकार ।

सहसा······मुख पर ।

शब्दार्थ—स्मिति=मुस्कान । ग्रीवा=गरदन । सुगबुगा उठी=तिलमिला उठी । बंक लोचन=तिरछी नजर ।

अर्थ—उसी समय ऋषि के मुख पर मुस्कराहट की कान्ति खिल उठी और मेरी गरदन पर आकर प्रलय का हाथ जैसे लौट गया । ज्योंही मुझे होश आया मैं लज्जा से कांपने लगी और आँचल संभालकर तिरछी नजर से देखने लगी तथा यह विचार करने लगी कि अब ऋषि-मुख पर न जाने कौन से भाव फूट रहे हैं ।

अनुद्विग्न·········रहे हैं ।

शब्दार्थ—अनुद्विग्न=उत्तेजना-रहित, शान्त । अमृत-गिरा=मधुर वाणी । सौम्ये=सुन्दरी । शुचि=शुद्ध । तनया=बेटी । दाहकता=जलन । स्थाणु=ठूंठ ।

अर्थ—इसके पश्चात् मुनिदेव शान्तिपूर्वक उठे और मधुर वाणी में पूछने लगे ! शुभे तुम्हारा कल्याण हो । तुम इस बन में कहां से आई हो ? तुम देवताओं के कुल की पावन कान्ति हो या किसी मनुज-कुल की सुपुत्री हो । तुम्हें यह सुन्दर रूप कहां से मिला, जिसे देखते ही अग्नि की जलन शान्त हो गई और ठूंठ में भी पत्ते निकलने लगे ।

विशेष—सन्देह अलंकार ।

वरण करोगी······कुंजर सा ।

शब्दार्थ—जरा=बुढ़ापा । पादप=वृक्ष । मदकल=मदमस्त । कुंजर=हाथी ।

अर्थ—क्या तुम मुझे वर लोगी । मैं तुम्हारे लिए बुढ़ापे को छोड़कर तपस्या के बल से गम्भीर बादल, नवीन वृक्ष तथा मदमस्त युवा कुंजर के समान यौवन प्राप्त कर लूंगा ।

विशेष—उपमा अलंकार ।

डरो नहीं······आई हो ।

शब्दार्थ—तपोभंग=तपस्या का खंडन । च्युति=निम्नता, पतन । मनोज्ञ=सुन्दर । सन्धान=खोज ।

अर्थ—डरो मत ! यह तपस्या का टूटना मेरा पतन नहीं अपितु सिद्धि है । पहले भी जब महर्षि '**कर्दम**' का कठोर तप पूरा हुआ था तो उन्होंने वरदान में स्वर्ग नहीं अपितु सुन्दर नारी को ही माना था । फिर तुम तो तपस्या के फल की कान्ति सरीखी स्वयं मेरे सामने खड़ी हो । इससे भिन्न दूसरा स्वर्ग और कौन सा होगा जिसकी मैं खोज करूं । यदि भगवान मुझ पर प्रसन्न नहीं हैं तो तुम सिद्धि बन कर क्यों आई हो । अर्थात् निश्चित रूप में ही प्रभु मेरी साधना से प्रसन्न हैं और मेरी तपस्या की सिद्धि के रूप में उन्होंने तुम्हें यहां भेजा है ।

विशेष—कर्दम मुनि सांख्य दर्शन के रचयिता महर्षि कपिल के पिता थे । कहते हैं कि इन्होंने दस हजार वर्ष तक घोर तपस्या की और ब्रह्मा से वरदान प्राप्त कर कपिल की माता तथा स्वायंभू मनु की कन्या देवभूति से विवाह किया ।

मणि-माणिक्य······स्वयं आएगा ।

शब्दार्थ—शुचि-स्मिते=पवित्र एवं निर्मल मुस्कान । पर्णशाला=पत्तों की कुटिया ।

अर्थ—तपस्वी का तो एक-मात्र रत्न तप ही है, मणि-माणिक्य नहीं । और निर्मल मुस्कानमयी सुकन्या को मैं वही तपस्या-रत्न अर्पित कर रहा हूं ।

हम और तुम जिस पर्णशाला में एक साथ मिलकर रहेंगे स्वर्ग वहीं वरदान मांगने आएगा ।

विशेष—सुकन्या के इस सम्पूर्ण संवाद में 'स्मरण' अलंकार है ।

चित्रलेखा

कीर्त्तिमान······होती है ।

शब्दार्थ—कीर्त्तिमान=यशस्वी । कीर्त्ति=यश । त्रिया=स्त्री । उद्वेग=उत्तेजना । विभव=वैभव, ऐश्वर्य ।

अर्थ—यशस्वी का यश और भावुक तपस्वी की साधना जो स्त्री के हृदय में भी रसमयी उत्तेजना भर सकती है वह उत्तेजना मणि-माणिकों तथा मुकुटों से नहीं जगाई जा सकती । अतः वही साधना धन्य है जो धन का नहीं यश का संचय करती है ।

विशेष—संगति अलंकार ।

सुकन्या

चित्रे ! मैं······हरियाली ।

शब्दार्थ—विभासित=प्रकाशित । महाव्योम=महाकाश । रत्न=तारे । उर्मियां—लहरें । भंगिमा=अदाएँ ।

प्रसंग—च्यवन ऋषि के—"हरि प्रसन्न यदि नहीं, सिद्धि बन कर तुम क्यों आई हो ?"—वाक्य सुनकर सुकन्या के चित्त पर जो अमिट प्रभाव पड़ा उसी का स्पष्टीकरण सुकन्या स्वयं अपने मुख से करती है ।

अर्थ—हे चित्रे ! उस तापसी के मधुसिक्त वचन सुनकर न जाने मैं किस अपार महिमा से भर गई । उस समय मैं जीवन में पहली बार मेरा नारीत्व प्रतिभासित होकर उठ जागा अर्थात् मैं उस दिन जान पाई कि हम नारियों की कितनी अपार महिमा है जो ऐसे महान् तपस्वियों की सिद्धि का कारण बनती हैं और हमारी सिद्धि के लिए न जाने कितने युग साधना में बिता देते हैं । मुझे ऐसा लगा जैसे सूर्य में चमकने वाला प्रकाश उसका प्रकाश नहीं है अपितु वह मेरी ही आभा से आभास्वर हो रहा है । महाकाश में चमकने वाले नक्षत्र मेरी ही कान्ति के परिणाम हैं, जल में जो लहरें अठखेलियां कर रही

हैं वह सब मेरी चरण-भंगिमा का ही प्रतिफलन है और वन में जो हरियाली छा रही है वह सब मेरे हर्ष का ही फल है।

विशेष—इसी भाव के समानान्तर 'पद्मावत' में 'जायसी' का भाव दर्शनीय है—

रवि, ससि, नखत दिपहिं ओहि जोती,
रतन पदारथ मानिक मोती।

—जायसी : पद्मावत

'स्मरण' अलंकार।

लौट गए······आयी हो ?

शब्दार्थ—शत-शत=सैंकड़ों। श्रवण कर=सुनकर। प्रशस्ति=प्रशंसा सूचक वचन। तापस=तपस्वी।

अर्थ—सैंकड़ों राजकुमार जिस द्वार से निराश होकर लौट गये थे वही द्वार तापस के इस प्रशंसासूचक वचन को सुनकर खुल गया—"यदि भगवान मुझ पर प्रसन्न नहीं हैं तो सिद्धि बन कर तुम यहां क्यों आई हो ?"

हाय चित्रलेखे !······गाया था ?

शब्दार्थ—वारुणी=शराब। वन्दन-गान=प्रशस्ति।

अर्थ—हाय चित्रलेखे ! मैंने अपने सौन्दर्य के विषय में अपार प्रशस्तियों का श्रवण किया है। कौन ऐसा राजकुमार था जिसे मेरे मुख में आकाश का चन्द्रमा न दिखाई दिया हो; आंखों में शराब और त्वचा में सीपी जैसी उज्ज्वल चमक न दिखाई दी हो।

परन्तु मेरे आभ्यन्तर मानस में अदृश्य रूप में जिस देवता का निवास था क्या कभी उसका प्रशस्ति-गान भी किसी ने किया था ? अर्थात् किसी ने नहीं किया।

लौट गए······पाया था।

शब्दार्थ—चमत्कृत=विस्मित करने वाला। शोणित=रक्त। प्राचीर=दीवार।

अर्थ—सभी राजकुमार मेरे विस्मयकारी शोणित, मांस और त्वचा को देखकर, बाह्य सज्जा रूपी रंगों की दीवार तथा मुझसे निकलने वाली गन्ध

के घेरों से टकराकर लौट गये। कोई भी तो ऐसा युवक नहीं आया जो इस त्वचा के घेरे को पार करके परे पहुंचा हो या जिसने उसके पार जाने का किंचित् यत्न भी किया हो।

सब को लगा······गयी थी ?

शब्दार्थ—सरल हैं।

अर्थ—सब को ऐसा लगा जैसे मुझ में कोई मोहक-शक्ति आपूरित है लेकिन क्या कभी किसी ने अपनी दृष्टि को वहां तक ले जाने का प्रयास किया जहां के भीतर निवास करने वाले गहन सिन्धु से यह मोहक-तरंग उमड़ कर बाहर प्रतिभासित होती है ?

देखा उसे······आयी हो।

शब्दार्थ—सुप्त=सोई हुई। आयास-मुक्त=सरलता से। निश्छल=छल-रहित।

अर्थ—उस भीतरी महिमा के महासागर को महर्षि च्यवन ने देखा और यह सरल, निश्छल प्रशस्ति गाकर मेरी सुप्त महिमा को जगा दिया—"यदि भगवान मुझ पर प्रसन्न नहीं हैं तो तुम सिद्धि बन कर क्यों आई हो ?"

लगा मुझे······जाती हूं।

शब्दार्थ—दीपित=प्रकाशित, जलती हुई। आकंठ=गले तक।

अर्थ—मुझे ऐसा लगा जैसे मेरे शरीर की त्वचा रूपी ऊपरी पपड़ी टूट रही है और भास्वर होने वाली नयी त्वचाएँ अन्दर से निकल रही हैं। गहन चित्त के अन्तराल से ऐसा प्रतीत हुआ मानो कोई मधु की धारा बही चली आ रही है और मुझे ऐसा अनुभव हुआ जैसे मैं गले तक हर्ष से भरी जा रही हूं।

विशेष—उत्प्रेक्षा अलंकार।

रही मूक······प्रभा है।

शब्दार्थ—मूक=शान्त, चुप। अम्बर=आकाश, उर्ध्वलोक। गूढ़ द्रष्टा=रहस्यदर्शी। अनायास=बिना परिश्रम के। अमोघ=अचूक।

अर्थ—मैं वैसे तो चुप रही पर उर्ध्वलोक में चढ़े हुए मेरे हृदय ने कहा—

हैं वह सब मेरी चरण-भंगिमा का ही प्रतिफलन है और बन में जो हरियाली छा रही है वह सब मेरे हर्ष का ही फल है।

विशेष—इसी भाव के समानान्तर 'पद्मावत' में 'जायसी' का भाव दर्शनीय है—

रवि, ससि, नखत दिपहिं ओहि जोती,
रतन पदारथ मानिक मोती।

—जायसी : पद्मावत

'स्मरण' अलंकार।

लौट गए······आयी हो ?

शब्दार्थ—शत-शत=सैंकड़ों। श्रवण कर=सुनकर। प्रशस्ति=प्रशंसा सूचक वचन। तापस=तपस्वी।

अर्थ—सैंकड़ों राजकुमार जिस द्वार से निराश होकर लौट गये थे वही द्वार तापस के इस प्रशंसासूचक वचन को सुनकर खुल गया—"यदि भगवान मुझ पर प्रसन्न नहीं हैं तो सिद्धि बन कर तुम यहां क्यों आई हो ?"

हाय चित्रलेखे ! ······गाया था ?

शब्दार्थ—वारुणी=शराब। वन्दन-गान=प्रशस्ति।

अर्थ—हाय चित्रलेखे ! मैंने अपने सौन्दर्य के विषय में अपार प्रशस्तियों का श्रवण किया है। कौन ऐसा राजकुमार था जिसे मेरे मुख में आकाश का चन्द्रमा न दिखाई दिया हो; आंखों में शराब और त्वचा में सीपी जैसी उज्ज्वल चमक न दिखाई दी हो।

परन्तु मेरे आभ्यन्तर मानस में अदृश्य रूप में जिस देवता का निवास था क्या कभी उसका प्रशस्ति-गान भी किसी ने किया था ? अर्थात् किसी ने नहीं किया।

लौट गए······पाया था।

शब्दार्थ—चमत्कृत=विस्मित करने वाला। शोणित=रक्त। प्राचीर=दीवार।

अर्थ—सभी राजकुमार मेरे विस्मयकारी शोणित, मांस और त्वचा को देखकर, बाह्य सज्जा रूपी रंगों की दीवार तथा मुझसे निकलने वाली गन्ध

के घेरों से टकराकर लौट गये। कोई भी तो ऐसा युवक नहीं आया जो इस त्वचा के घेरे को पार करके परे पहुंचा हो या जिसने उसके पार जाने का किंचित् यत्न भी किया हो।

सब को लगा······गयी थी ?

शब्दार्थ—सरल हैं।

अर्थ—सब को ऐसा लगा जैसे मुझ में कोई मोहक-शक्ति आपूरित है लेकिन क्या कभी किसी ने अपनी दृष्टि को वहां तक ले जाने का प्रयास किया जहां के भीतर निवास करने वाले गहन सिन्धु से यह मोहक-तरंग उमड़ कर बाहर प्रतिभासित होती है ?

देखा उसे······आयी हो।

शब्दार्थ—सुप्त=सोई हुई। आयास-मुक्त=सरलता से। निश्छल=छल-रहित।

अर्थ—उस भीतरी महिमा के महासागर को महर्षि च्यवन ने देखा और यह सरल, निश्छल प्रशस्ति गाकर मेरी सुप्त महिमा को जगा दिया—"यदि भगवान मुझ पर प्रसन्न नहीं हैं तो तुम सिद्धि बन कर क्यों आई हो ?"

लगा मुझे······जाती हूं।

शब्दार्थ—दीपित=प्रकाशित, जलती हुई। आकंठ=गले तक।

अर्थ—मुझे ऐसा लगा जैसे मेरे शरीर की त्वचा रूपी ऊपरी पपड़ी टूट रही है और भास्वर होने वाली नयी त्वचाएँ अन्दर से निकल रही हैं। गहन चित्त के अन्तराल से ऐसा प्रतीत हुआ मानो कोई मधु की धारा बही चली आ रही है और मुझे ऐसा अनुभव हुआ जैसे मैं गले तक हर्ष से भरी जा रही हूं।

विशेष—उत्प्रेक्षा अलंकार।

रही मूक······प्रभा है।

शब्दार्थ—मूक=शान्त, चुप। अम्बर=आकाश, उर्ध्वलोक। गूढ़ द्रष्टा=रहस्यदर्शी। अनायास=बिना परिश्रम के। अमोघ=अचूक।

अर्थ—मैं वैसे तो चुप रही पर उर्ध्वलोक में चढ़े हुए मेरे हृदय ने कहा—

"हे रहस्यदर्शी महर्षि ! तुमने जो कुछ कहा वह झूठ नहीं है। सचमुच ही मैं परब्रह्म की उदार मुस्कान हूं अर्थात् उसी की ज्योति से ज्योतित होने वाली ही मैं देवी के समान नारी हूं।" सौन्दर्य की प्राप्ति दीर्घकाल की तपस्या के पश्चात् होती है। (इसी सौन्दर्य को) तपस्वी और प्रज्ञावान तो विभिन्न साधनाओं के द्वारा प्राप्त करते हैं लेकिन नारी को (सौन्दर्य की) वह शक्ति बिना किसी परिश्रम के सहज ही सुलभ होती है। वास्तव में नारी का सौन्दर्य विश्व को जीतने वाली अमोघ प्रभा के समान है।

सचमुच ही······आते हैं।

शब्दार्थ—अपत्र=स्थाणु, ठूंठ। द्रुमों=पेड़ों। ऊसर=बंजड़।

अर्थ—सचमुच ही मेरे स्पर्श मात्र से ठूंठ वृक्ष पत्र-पल्लवित हो जाते हैं और मैं जहां पर भी चरण रख देती हूं वहां की बंजड़ भूमि में भी फूल खिलने लगते हैं।

विशेष—(i) जायसी के प्रतिबिम्बवाद का प्रभाव।
(ii) तुलना—

"नयन जो देखा कंवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर॥"

—जायसी : पद्मावत : मानसरोदक खंड।

मैं अनन्त······तपश्चरण की।

शब्दार्थ—अनुचरी=दासी। किरीट=ताज। प्रणय-पुण्य शीला=प्रेम में पवित्र। दारुणतम=भयंकर, महान्। तपश्चरण=तपस्या।

अर्थ—मैं उस परब्रह्म की प्रभा हूं, किसी ताज या मुकुट की दासी नहीं हूं। प्रेम में पवित्र हुई मैं स्वतन्त्र नारी केवल उसी का वरण करूंगी जिसमें महान् तपस्या के फलस्वरूप आभा प्रतिफलित हो रही होगी।

भाव यह है कि चूंकि मैं स्वयं ज्योति का अंश हूं अतः मुझे उसी का वरण करना चाहिए जो स्वयं भी उसी परब्रह्म की ज्योति का अंश हो क्योंकि इसके अभाव में मेरा उससे भाव-समीकरण होना असम्भव है। परिणामतः मेरा सारा जीवन असफल हो जाएगा।

"किन्तु, हाय······आयी हो ?"

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—सुकन्या कहती है कि हाय! तुम पुनः एक बार इस वाक्य को क्यों नहीं दोहराते—"यदि भगवान मुझसे प्रसन्न नहीं हैं तो तुम भला फिर सिद्धि बन कर क्यों आई हो ?"

चित्रलेखा

उफ री······आंखों में।

शब्दार्थ—मादक=नशीली, मोहक, मस्त। मधु-मुहूर्त्त=सुन्दर क्षण।

अर्थ—प्रेम के प्रथम परिचय की यह मादक घड़ी कितनी कसकपूर्ण होती है। यह सुन्दर मुहुर्त्त मरकर भी नहीं मरता। जब चाहो तब इसकी साकार मूर्त्ति आंखों में बन्द मिलती है।

पर मैं······दिया है।

शब्दार्थ—कंटकित=दुःखित। पुलक-पूर्ण=रोमांच से भरी। ललनाएं=स्त्रियां। पर्याय=रूप। भूमा=आनन्द।

अर्थ—लेकिन मैं इस भांति क्यों दुःखित हुई जा रही हूं ? आह! निश्चय ही प्रथम प्रेम की याद बड़ी रोमांचपूर्ण होती है। च्यवन सारी धरती के पूज्य हैं। अगणित नारियां उन्हें अटूट श्रद्धा और अपार गौरव से देखती हैं। स्त्री को तपस्या की सिद्धि और ब्रह्मानन्द का रूप बताकर वास्तव में ऋषि ने स्त्री-जाति को अनोखा आदर दे दिया है।

सुकन्या

पूछो मत······शिशुओं पर।

शब्दार्थ—कोपन=क्रोधपूर्ण। निविष्ट=स्थित, संचित। वत्सलता=स्नेह। निरीह=असहाय, भोले, निर्दोष।

अर्थ—कुछ न पूछो, वैसे तो ऋषि का स्वभाव थोड़ा क्रोधपूर्ण है। उनके मन की रचना में अग्नि का ही कुछ अधिक अंश सन्निहित हो गया है लेकिन स्त्रियों पर सचमुच उनकी बड़ी श्रद्धा है और स्वभावतः उतना ही स्नेह वे भोले बच्चों से करते हैं।

कहते हैं······रहते हैं।

शब्दार्थ—अगम्भीर=साधारण, चंचल।

अर्थ—वे (च्यवन) कहते हैं कि बच्चे को चंचल तथा सारहीन भावों से नहीं देखना चाहिए। वे अभी उस परम गहन परब्रह्म के केन्द्र से दूर नहीं हैं। न जाने क्या कुछ देखकर वे सपने में भी हंसने लगते हैं।

स्यात्,······नहीं है।

शब्दार्थ—केंचुल=केंचुली, पर्दा।

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने शिशुओं के सहज, अव्यक्त अनुभवन के रहस्य का स्पर्श किया है। उनके अनुसार शैशव की पवित्रता के बिना गूढ़ सत्ता के भेदों को जानना कठिन है। ज्ञान से मनुष्य के मन पर रहस्य का पर्दा गहरा होता जाता है। वह तो सहज, सरल, अतार्किक अनुभूति के लिए ही खुला होता है।

अर्थ—शायद परमसत्ता का गूढ़ भेद, जो अब तक रहस्य-भेदने के प्रयत्न में लगे ज्ञानी के द्वारा नहीं खुल पाया है, ये शिशु उसे अनायास ही सहज दृष्टि के द्वारा देख लेते हैं क्योंकि इनकी दृष्टि पर तर्क के खण्डहरों में भटकाने वाली ज्ञान की केंचुली अभी नहीं चढ़ पाई है। जिसके भीतर शिशुओं जैसी पवित्रता विद्यमान है उस निर्दोष मनुष्य के हाथों में कोई मैल नहीं मिल सकता।

जब उर्वशी······लगती है।

शब्दार्थ—प्रसव=जन्म। चन्द्राहत=सौन्दर्य से घायल। श्लथ=ढीला। सत्त्वशीला=तेजस्विनी। लोकोत्तर=अलौकिक।

प्रसंग—प्रस्तुत पद में सुकन्या चित्रलेखा के प्रति च्यवन ऋषि के द्वारा कहे गए शब्दों को दोहराती है जिनमें ऋषि ने नारी-जन्म को पवित्र कहा है उसमें भी गर्भिणी तथा सत्त्वशीला नारी को अत्यधिक महान करुणा एवं श्रद्धा की प्रतिमूर्ति बताया है।

अर्थ—जब उर्वशी अपने पुत्र को जन्म देने यहां आई थी तब ऋषि ने इसे इतनी ममता से देखा था कि मैं उसका वर्णन भी नहीं कर सकती। और,

रात के समय उन्होंने चिन्तनपूर्ण गम्भीर वाणी में कहा था कि नारी का जन्म ग्रहण करने में बड़ी सुकीर्ति है। सौन्दर्य से व्याकुल कर वीर पुरुषों पर विजय पा लेना वस्तुतः वीरता है। अतः नारी की शक्ति महान है और नारियों में भी गर्भ के भार से शिथिल, तेजस्विनी नारी को देखकर मुझे इसके प्रति आदर से भरी करुणा सी होने लगती है। मैं सोचता हूं कि वह विवश होते हुए भी कितनी अलौकिक प्रतीत होती है।

देह-कान्ति……रही है।

शब्दार्थ—देह-कान्ति=शरीर का सौन्दर्य। पीतिमा-युक्त=पीला। पीवर=भारी। मेघाली=बदली। मन्थर=धीरे।

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने गर्भवती स्त्री के शरीर एवं गति का सुन्दर चित्रण किया है।

अर्थ—(गर्भवती स्त्री के) शरीर की कान्ति पीली पड़ जाती है। उसकी चाल चरणों के वश में नहीं रहती। वह तो किसी भांति उस जल से भरी गंभीर बदली की तरह चल देती है जो सागर का जल पीकर, धीमी गति से डगमगा कर आकाश में चल रही हो।

आकृति……नहीं हों।

शब्दार्थ—आकृति=शक्ल। ओप-विहीन=कान्ति-रहित। विवशा=विवश (स्त्रीलिंग)। उर्म्मियां=लहरें।

अर्थ—(गर्भवती स्त्री की) आकृति कान्तिहीन हो जाती है किन्तु वह भावों से रहित नहीं होती किन्तु फिर भी उसके मुख पर कोई भाव काफी देर तक नहीं ठहर पाता। उस गर्भ-विवशा के वश में मानो अब उसकी भाव-लहरियां भी नहीं रही हों।

दृग हो जाते……छा जाती है।

शब्दार्थ—तरल है।

अर्थ—उसकी आंखें तिरछी या मन के बन्धन से बाहर हो जाती हैं। वह जैसे देखना चाहती है वैसे नहीं देख पाती। उसकी यही बेबसी मुख पर बेचैनी बन कर छा जाती है।

निस्सहाय······कर का।

शब्दार्थ—निस्सहाय=बेसहारा। उदरस्थ=गर्भ में स्थित। वक्त्र=मुख। अजात=अनुत्पन्न। अंकन-पट=पट्टी।

अर्थ—वह असहाय एवं गर्भस्थ भविष्य के आधीन हुई अबला भला अपने को किस प्रकार वश में रख सकती है? भविष्य जो चाहता है, उसके मुख पर वही भाव आ जाते हैं, मानो जो अनुत्पन्न शिशु कभी जन्म लेकर तुतली बोली में बोलेगा वही अपने तुतले संकेत पहले से भेजने लग गया हो और गर्भवती नारी उस भविष्य में होने वाली संतान के कर की पट्टी हो।

कितनी······तपश्चरण की।

शब्दार्थ—यातना=पीड़ा, कष्ट। तपश्चरण=तपस्या।

अर्थ—स्त्री कितने कष्ट सहकर संसार के भविष्य का पालन करती है। इस गहन तपस्या की महिमा का भला कौन बखान कर सकता है।

विशेष—रासोकार चन्दवरदाई ने भी गर्भवती का चित्रण किया है किन्तु दिनकर का चित्र उससे सर्वथा भिन्न नहीं अपितु विपरीत भी है। इन दोनों में ठीक कौन है? इसे तो कामशास्त्र और मनोविज्ञान के पारदर्शी तत्त्ववेत्ता ही बता सकते हैं किन्तु युक्ति चन्दवरदाई के चित्र के पक्ष में ही अधिक संगत बैठती है। उनके अनुसार गर्भवती के मुख की कान्ति दिनोंदिन चन्द्रमा की कलाओं की तरह बढ़ती जाती है जबकि दिनकर के अनुसार वह कान्ति-विहीन होती है—

कितिक दिवस अन्तरह रहिअ आधान रानि उर।
दिन दिन कला चढ़न्त मेघ ज्यों चढ़त भद्द धुर।
चन्द कला सित पष्ष जेम बाढंत दिनं दिन।
मुग्धा जोबन चढ़त मिलत भरतार षिनं षिन॥

—पृथ्वीराज रासो : चन्द।

और प्रसूता······तट की।

शब्दार्थ—प्रसूता=जन्म देने वाली। शमित=शान्त। कुहु=अमावस्या। सार्थ=साथ। प्रभार=भार। अशेष=गहरी, सम्पूर्ण।

अर्थ—और प्रजनवती उर्वशी के समीप से जब महर्षि आए थे तब उन्होंने कहा कि उर्वशी अभी तो मौन जड़ीभूत हुई पीड़ा की शान्त अमावस्या में पड़ी थी और अब मानो किसी अदृश्य स्थान में जाकर तट पर आई हुई सुस्थिर नाव सी यह इस दृश्य जगत के लिए जीवन का कोई साथी ले आई है। गर्भ से भार के मुक्त होकर अब गहन अर्धनिद्रा में यह मानो उस अदृश्य के तट की धुंधली बातों को याद कर रही है।

बांध रहा······उर में।

शब्दार्थ—छोर=किनारा।

अर्थ—जो तन्तु इस लोक को अलौकिक जगत से बांधे हुए है उसका अन्तिम किनारा न जाने कहां अदृश्य में छुपा हुआ है लेकिन यहां स्त्री के हृदय में उसका छोर साफ दिखाई दे रहा है। अर्थात् स्त्री ही वह तन्तु है जो इस लोक को इतर लोक से बांधती है।

नारी ही······करता है।

शब्दार्थ—महासेतु=पुल। कोष्ठ=कोठा।

अर्थ—स्त्री ही वह महान सेतु है जिस पर अदृश्य लोक से चलकर नए मनुष्य तथा नए प्राण इस स्थूल संसार में आते रहते हैं। नारी ही वह विशाल कोठा है जहां देवता, राक्षस एवं मनुष्यों से छिपकर परमशून्य अपना आकार ग्रहण कर लेता है।

सच पूछो······झूले का।

शब्दार्थ—सत्त्वभार=गर्भ का भार। असंग=अकेली। निलय=भवन। निरापद=दु:खरहित। कक्ष=कमरा।

अर्थ—(च्यवन ऋषि कहते जा रहे हैं—) यदि सच पूछो तो संसार के उत्पन्न होने में पुरुष का कुछ भी भाग नहीं है। यह तो नारी ही है जो सृष्टि के सम्पूर्ण यज्ञ को स्वयं पूरा करती है। वह अकेली ही गर्भ के भार को सहती है। सन्तान भी वही अकेली जनती है और वही बालक को मन के उस उच्च धर्म में ले जाती है जहां बचपन के झूले का सुरक्षित सौन्दर्य एवं सुखद कक्ष है।

शुभे !......अद्‌भुत है ।

शब्दार्थ—सुयोग=अवसर । श्रेय=महत्ता ।

अर्थ—बच्चे के रूप में सदा ईश्वर ही नारी के गर्भ में आते हैं । प्रत्येक मां महापुरुष की ही जननी होती है लेकिन भविष्य को समेट कर अपने अनुकूल बना लेने का अवसर संसार की सभी माताओं को कहां मिल पाता है । फिर भी, शीलवती सुकन्या ! उनकी महत्ता कम नहीं है, अद्वितीय है ।

(उर्वशी का प्रवेश)

उर्वशी

(चित्रलेखा से)

अच्छा..........मोद-भवन हैं ?

शब्दार्थ—मघवा=इन्द्र । मोद-भवन=नन्दन-वन ।

अर्थ—उर्वशी चित्रलेखा से कहती है—अच्छा ! तुम यहां पर बैठी हो ! अब तो देवलोक की सभी अप्सराओं से यहीं भेंट हो जाती है । हे सखी ! यह च्यवन-कुटी है या इन्द्र का नन्दन-वन है ? (क्योंकि हम सब अप्सराएँ तो नन्दन-वन में ही मिला करती थीं, फिर कहीं भ्रम से हम वहीं पर तो नहीं बैठे) ।

विशेष—सन्देह अलंकार ।

चित्रलेखा

मोद-भवन......बेटी हैं ?

शब्दार्थ—मोद-भवन=आनन्द-बिहार। सत्य-संगम=सत्य के समन्वय से । शशांक-वंशी=चन्द्रवंशी ।

अर्थ—यह सुकन्या के लिए आनन्द-बिहार की स्थली हो सकती है पर हमारे लिए तो यह राजभवन है क्योंकि यहां कल्पना और सत्य के संगम से मनुष्य जाति के लिए एक और चन्द्रवंशी राजा ने जन्म लिया है । (चित्रलेखा के हृदय में, बात करते-करते एक जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि) हे आर्ये! भला बताओ तो सही ! हम अप्सराएँ किस मानव की बेटी हैं ?

विशेष—चित्रलेखा द्वारा शिशु को कल्पना और सत्य का संगम कहना

तर्क-संगत है। जहां उर्वशी कल्पनाशील युवती है वहां पुरूरवा सत्य का अनुसन्धाता है। अतः पुत्र में दोनों का संगम होना स्वाभाविक है।

उर्वशी

बेटी नहीं.........दिया है।

शब्दार्थ=सरल है।

अर्थ—हे चित्रलेखा! हम किसी मनुष्य की बेटी नहीं हुईं तो क्या हुआ? किसी मानव की मां तो मैं बन ही गई हूं। अरी देख तो मुझ रत्नमयी को कैसा सुन्दर लाल मिला है ?

चित्रलेखा

कौन कहे.......जनक से ?

शब्दार्थ—आनन=मुख।

अर्थ—चित्रलेखा उर्वशी से कहती है—कौन कह सकता है कि इस शिशु के मुख पर जो तेज झलक रहा है वह माँ का न होकर पिता से प्राप्त हुआ है ?

उर्वशी

अरी, देखती......देवों सा।

शब्दार्थ—ताक=देखना।

अर्थ—(चित्रलेखा के उपरोक्त तर्क का विरोध करते हुए उर्वशी कहती है—) अरी देख तो सही! मेरे लाल की छोटी-छोटी आंखों में इस समय भी तो स्वर्ग के स्वप्न प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। (देखो) यह कैसे टुकर-टुकर हमारी ओर सन्तुष्ट भाव से देख रहा है। ऐसा प्रतीत होता है मानो यह देवताओं के समान सब कुछ जानने वाला, सब कुछ देखने वाला और पूर्ण समर्थ है।

विशेष—(i) देवता प्रायः हर प्रकार की इन्द्रियजन्य इच्छाओं से सन्तुष्ट रहते हैं। भोग के प्रति उनकी रुचि नहीं होती। इसीलिए उर्वशी ने अपने लाल को देवों जैसा सिद्ध करने के लिए उसे संतुष्ट भावों वाला बताया है, मनुष्य की तरह असंतोषी और जिज्ञासु नहीं।

(ii) 'मानो, हो सर्वज्ञ' में उत्प्रेक्षा अलंकार।

(iii) 'देवों सा' में उपमा अलंकार।

सुकन्या

सखी तुम्हारा······मानेगा।

शब्दार्थ—महाधूर्त=शैतान। जुड़ाओ=शीतल करो। तृषित=प्यासे।

अर्थ—(इसी बीच च्यवन ऋषि की सहधर्मिणी सुकन्या उन दोनों के पास आती है और शिशु के विषय में कहती है)—

हे सखी! तुम्हारा लाडला बहुत शरारती हो गया है। मैं बड़े ध्यान से देख रही हूँ, जबसे तुम यहां आई हो तब से इस शैतान की नजर तुम्हारे ऊपर से हटती ही नहीं। लो, इसे छाती से लगाकर इसके प्यासे दिल (मातृत्व प्रेम से प्यासा) को शीतल करो। (हे उर्वशी!) मैं चाहे इसके लिए कितना भी क्यों न कर लूँ मगर यह दुष्ट भला मुझे अपनी मां क्यों मानने लगा?

विशेष—'महाधूर्त' और 'दुष्ट' शब्द मातृ-प्रेम से सिक्त हैं। इन शब्दों के वाचन में सुकन्या की शिशु के प्रति कोई दुर्भावना नहीं है।

उर्वशी

अरी जुड़ाना·····जाती हूं।

शब्दार्थ—जुड़ाना=शीतल। हृदय-कुसुम=हृदय के पुष्प।

अर्थ—अरी! इसको क्या शीतल करूँगी? ला, इस हृदय रूपी पुष्प को मुझे दे। इसे अपने वक्ष पर लगा कर ही मैं स्वयं प्राण तक शीतल हो जाती हूं।

विशेष—(i) 'हृदय-कुसुम' में रूपक अलंकार।

(ii) माता के वात्सल्य रस में पगे हुए स्वाभाविक उद्गारों के दर्शन होते हैं।

(सुकन्या की गोद से बच्चे को लेकर हृदय से लगाती है।)

आह! गर्भ······हुआ था?

शब्दार्थ—कल्पना-शृंग=कल्पना की चोटी। उत्तुंग=ऊंचे।

अर्थ—(शिशु को हृदय से लगा कर चित्रलेखा तथा सुकन्या को शिशु-

जन्म से पूर्व उत्पन्न अपने हृदय के उद्गारों को व्यक्त करती हुई उर्वशी कहती है—)

आह ! इस शिशु को गर्भ में धारण करने के पश्चात् मैंने कल्पना की चोटी पर चढ़कर कौन से सुन्दर एवं ऊंचे से ऊंचे स्वप्न को नहीं छूआ था ? अर्थात् तेरे विषय में मैं न जाने कितनी-कितनी सुखद कल्पनाएं किया करती थी ।

विशेष—ममता बड़ी विचित्र होती है । आने वाले अपने निरीह नवजात तथा अज्ञात शिशु के लिए वह अपना सब कुछ न्योछावर करने को तैयार रहती है । सभी स्वार्थों से परे हट कर मां की यही इच्छा बनी रहती है कि मेरा लाडला लाखों में एक हो । सुन्दरता, वीरता और ज्ञान में उसकी होड़ कोई न कर सके ।

यही चाहती……प्राणों में ।

शब्दार्थ— रश्मि=किरणें । अपरूप=पूर्व ।

अर्थ—(शिशु को जन्म देने से पूर्व मैं) यह चाहती थी कि सूर्य की किरणों; चन्द्रमा की कोमल रश्मियों तथा तारकों की पवित्र आभा को संचित करके पी जाऊँ जिससे ये अपूर्व तथा अमर-ज्योतियां मेरे गर्भ में प्रवेश कर इस शिशु के शोणित, हृदय तथा प्राणों में समा जायं ।

विशेष—(i) सूर्य तेजस्विता का, चन्द्र हृदय की कोमलता का और तारे प्राणों की पवित्रता का पर्याय हैं । अतः इन तीनों के परस्पर समन्वय से ही वह शिशु का निर्माण करना चाहती है ।

(ii) 'प्रथम उल्लेख' अलंकार ।

(iii) मातृत्व की निश्छल कल्पना ।

यह सोचती·······अधरों पर ।

शब्दार्थ—त्रिलोक=तीनों लोकों में । अंचल=गोद ।

अर्थ—(इसके जन्म से पूर्व मैं यह सोचा करती थी कि तीनों लोकों में जो कुछ भी मंगलकारी और सुन्दर है वह सब एक साथ मेरी गोद में आकर बरस जाय । मैं उसको संचित कर एक पतली सी मधुर मुस्कान का

निर्माण करके किसी प्रकार उसके होठों पर जड़ दूं (जिससे आजीवन उसके मुख पर मधुर मुस्कान का ही साम्राज्य हो, क्रोध की तथा ईर्ष्या एवं जलन की उस पर छाया भी न पड़े)।

विशेष—(i) माता द्वारा बच्चे में 'सत्यं, शिवं, सुन्दरं' की मधुर कल्पना करना। परब्रह्म का अंश होने के कारण वह सत्य का अंश तो है, साथ में त्रिलोक में जो कुछ शुभ और सुन्दर है, उसे वह बच्चे के मानस में आत्मसात कर देना चाहती है।

(ii) 'मुस्कान' जैसे अमूर्त्त भाव का मूर्त्तिकरण करने की सुन्दर कल्पना। अमूर्त्त भावों का मूर्तिकरण करने में प्रसाद जी बड़े माहिर हैं। 'लज्जा' जैसे अमूर्त्त भाव का सजीव एवं मूर्त्त भाव दर्शनीय है—

"मैं वह हलकी सी मसलन हूं,
जो बनती कानों की लाली।"

—प्रसाद।

सबका ...... महिमा से।

शब्दार्थ—मानस=हृदय। समावेश=आविष्ट। अगोचर=अदृश्य। निराकार=आकार-रहित। निर्गुण=सत्, रज, तम आदि गुणों से भी परे। भ्रूण-पिण्ड=गर्भस्थ शिशु का शरीर।

अर्थ—(तुझे जन्म देने से पूर्व मैंने कभी किसी का अहित नहीं विचारा) मैं सब के कल्याण की बात सोचती रही जिससे कि जिस समय तेरे मानस की रचना में करुणा तथा अन्य सभी अच्छी बातों का समावेश हो जाय। (यहां तक कि) मैं अपनी यह प्रार्थना निर्गुण, निराकार एवं अगोचर परम देव को सुनाती रही जिससे वे अपनी महिमा से गर्भस्थ शिशु के शरीर को एक बार छू दें अर्थात् अशीर्वाद दे दें।

विशेष—कामशास्त्र आदि अनेक भारतीय ग्रंथों में इस बात की बड़ी भारी चर्चा है कि जब नारी गर्भ धारण कर ले तब उसके विचार शीतल, निष्कपट, द्वेष एवं ईर्ष्या-रहित तथा सात्त्विक रहने चाहिएं। सबकी मंगल-कामना करना ही उसका परम कर्त्तव्य होना चाहिए क्योंकि इन दिनों नारी

जैसे भी कर्म करेगी, उनकी वैसी ही प्रतिच्छाया बच्चे के मानस एवं शोणित में आत्मसात हो जाएगी।

वह सब·······हरियाली से।

शब्दार्थ—भूतल=पृथ्वी, जगती। उर-अंतर=दिल में। अनुरक्त=अनुराग-युक्त, प्रेमी, आसक्त, वफादार।

अर्थ—(मुझे इसके स्वरूप को देखकर अब यह पूर्ण विश्वास है कि) यह सब कुछ (जो कुछ मैंने सोचा था) पूर्णतः सत्य होगा। मेरा यह लाल अपने पिता के समान अप्रतिम तेज वाले सूर्य के समान इस अखण्ड भूतल पर उदित होगा और अपनी माता के पुष्पवान एवं शीतल हरियाली जैसे गुण लेकर मेरा यह पुण्यकर्मा लाल सच्चे हृदय से प्रजा में आसक्ति रखेगा तथा उसके प्रति सदा वफादार (हितचिन्तक) बना रहेगा।

जब होगा······कहती हूं।

शब्दार्थ—भूप=राजा। प्रचुर=पर्याप्त, काफी। धन-धान्यवती=धन और अनाज से पूर्ण। परिताप=यातनाएं। वसुधा=पृथ्वी।

अर्थ—जब यह इस धरती का राजा बनेगा तब यही प्रचुर धन-धान्यवती हो जाएगी। पृथ्वी पर निवास करने वाले सभी प्राणियों के (दैहिक, दैविक तथा भौतिक; शारीरिक तथा मानसिक) रोग, शोक, परिताप और पाप कट जाएंगे। संसार में सब सुखी होंगे तथा सबकी आयु बढ़ेगी। इसीलिए, हे सखी! मैं अभी से इसको 'आयु' कहकर पुकारती हूं।

(बच्चे को बार-बार चुमकारती है।)

कितनी मृदुल······जियूंगी।

शब्दार्थ—दुग्ध-धवल=दूध के समान श्वेत। सोम-सुधा=सोमरस।

अर्थ—प्राणों में कितनी सुन्दर अवर्णनीय सुखों की मधुर लहरें हिलोरें ले रही हैं। इसकी (शिशु की) यह दृष्टि मनोहर और अमृत रस में सनी है। इसके स्पर्श में न जाने क्या सोम-रस की तरंग सी भरी है। इसे गोद में लेते ही पलकें नीचे झुक जाती हैं। सुकन्ये! कल से मैं किस प्रकार जीवित रह सकूंगी?

सुकन्या

क्यों कल क्या होगा ?

उर्वशी

कल से······आंखों से ।

शब्दार्थ—विमुक्त=छूटना । आचार=लोक-कर्म ।

अर्थ—कल से मुझ पर दुःखों का पहाड़ टूट पड़ेगा क्योंकि कल यज्ञ पूर्ण हो जाएगा और परिचर्या से मुक्त होते ही महाराज कल अवश्य ही मेरी खोज करेंगे, तथा मुझे क्षण भर भी कभी आंखों से दूर नहीं होने देंगे ।

हाय !······सकती हूं ।

शब्दार्थ—दयित=पति, स्वामी । वंशधर=वंश को धारण करने वाला ।

अर्थ—बड़े दुःख का विषय है कि जिसके लिए पति इतने विकल और बेचैन हैं वही उनका वंशज जन्म लेकर जंगल में छिपा पड़ा है और यह भी कितनी लाचारी है कि मैं अभागिनी नारी अपने बेटे का मुंह अपने ही पति को नहीं दिखा सकती और न ही पुत्र के लिए अपने स्वामी का स्नेह छोड़ सकती हूं ।

भरत शाप······हुआ है ।

शब्दार्थ—सरल है ।

अर्थ—भरत का शाप कितना भी कठोर क्यों न हो, अब तक तो वह वरदान ही था । उसका तप्त और भयंकर रूप तो अब आरम्भ हुआ है ।

विशेष—उर्वशी को दिए गए भरत ऋषि के शाप का प्रसंग किसी प्रकार ऐतिहासिक आधार नहीं रखता । कालिदास ने अपने नाटक 'विक्रमोर्वशीय' में इस कल्पना का आधार लिया है । कालिदास के अनुसार—"**भरत मुनि के शाप से उर्वशी को मृत्युलोक में आना पड़ता है और तब वह राजा के साथ कुछ समय तक रहती है ।······पर जब उर्वशी के गर्भ से उत्पन्न अपने कुमार को राजा देख लेता है तब उर्वशी इन्द्र की आज्ञानुसार स्वर्ग को लौट जाती है ।······कवि की कल्पना-शक्ति इसमें खूब प्रस्फुटित हुई है । भरत**

मुनि का शाप······उर्वशी का रूप-परिवर्तन······इत्यादि प्रसंग···कालिदास की कल्पना-शक्ति के फल हैं।

—स्व० पाण्डेय और नानूराय व्यास : संस्कृत सा० की रूपरेखा : ११०

दिनकर ने भी इस प्रसंग को अपनी कल्पना का योग देकर कुछ अधिक रुचिकर बनाने का प्रयास किया है। ऐसी कल्पनाओं के उद्भावन का मूल कारण यह होता है कि पाठक की काव्य-पठन के प्रति एक जिज्ञासा उपस्थित हो जाता है तभी काव्य में रमणीयता आ जाती है।

सुकन्या

महा क्रूर-कर्मा······जाता है ?

शब्दार्थ—कोविद=पण्डित। दारुण=भयंकर। संतति=सन्तान।

अर्थ—भरत ऋषि पण्डित होते हुए भी महा कुत्सित कार्य करने वाले एवं भयंकर प्रकृति के हैं। क्या वह यह भी नहीं जानते थे कि सन्तान का जन्म होने पर पति-पत्नी का प्रणय-सम्बन्ध और अधिक दृढ़तर हो जाता है? भाव यह है कि वह इन सब बातों को जानते थे। इसी कारण उन्होंने असह्य पीड़ा को वहन करने वाले शाप का बाण तुम पर छोड़ा है।

बाला रहती······होता है।

शब्दार्थ—बाला=युवती। शिरिष-सुमन=शिरिष का फूल। अंक=गोद। तनय=पुत्र। पयस्=दूध। अंचल=छाती, (स्तन)।

अर्थ—(पुत्र को जन्म देने से पूर्व) युवती शिरिष के फूल के कोमल रेशे के समान अपने प्रियतम से बंधी रहती है (अर्थात् उस समय युवा-युवती का प्रेम बहुत नाजुक होता है। किसी छोटी सी शंका अथवा गिला-शिकवा में ही वह प्रेम-सम्बन्ध शिरिष-कुसुम के धागे के समान छिन्न-भिन्न हो सकता है) किन्तु जब उसकी गोद में नन्हा-मुन्ना अठखेलियां करता है और आंचल में उमड़-उमड़ कर दुग्ध निकलता है तब वे शिरिष के तार (भावुक-अस्थिर प्रेम) रेशम की कठोर रस्सियां बन जाते हैं। ऐसा कौन है जो झटके से इसको तोड़ने की सामर्थ्य रखता हो क्योंकि रेशम जितना कोमल होता है उतना ही कठोर भी होता है।

अर्थात् पुत्र-प्रसव के पश्चात् उनके प्रेम में जो चांचल्य का तत्त्व विद्यमान होता है वह लुप्त हो जाता है और उनका प्रेम गम्भीर हो जाता है। कारण, सन्तान में प्रेमी-प्रेमिका को उनके रूप, स्वभाव एवं क्रीड़ाओं के दर्शन होते हैं, जिसके फलस्वरूप प्रेम का पार्थिव रूप आत्मिक रूप धारण कर लेता है। बस, यही प्रेम का दृढ़ बन्धन है।

कौन भामिनी······त्याग सकेगी ?

शब्दार्थ—भामिनी=क्रोध करने वाली सुन्दर स्त्री। अंगज=शरीर से उत्पन्न। पुरन्ध्री=स्त्री, देवी, पति-पुत्रवती स्त्री। निमित्त=लिए। सती= पतिव्रता स्त्री।

अर्थ=अपने सौन्दर्य पर मुग्ध होने वाली कौनसी ऐसी स्त्री है जो अपनी कोख से उत्पन्न पुत्र और प्रियतम में से किसी एक का चयन करके सारा जीवन सुखपूर्वक बिताने का दावा करते हैं ? कौन ऐसी पति-पुत्रवती युवती है जो पति के लिए पुत्र को छोड़ दे और कौनसी ऐसी पतिव्रता स्त्री है जो अपने बेटे के लिए अपने पति का त्याग कर सकती हो ? अर्थात् कोई नहीं।

यह संघर्ष······बेटे का।

शब्दार्थ—कराल—विषम, भयंकर।

अर्थ—उर्वशी ! यह बड़ा भयंकर संघर्ष है। इसमें निर्णय करना बहुत कठिन है (कि मैं पति और पुत्र में से किसका वरण करूं)। (भरत-मुनि ने शाप भी तो बड़ा भयंकर दिया है कि) तुम पुत्र और पति दोनों को एक साथ नहीं पा सकतीं। या तो तुम पुत्र का चयन कर सकती हो या पति का। यह भी केवल उसी समय सम्भव हो सकता है जब निष्ठुर बन कर तुम अपने पुत्र-जनन का रहस्य अपते पति से छिपाकर रखो और इस प्रकार इस रहस्यमयी प्रवंचना में तुम्हारे बेटे का भविष्य क्षार-क्षार हो जाएगा।

हे सखी ! देखो दुष्ट मुनि ने यह कितना भीषण शाप दिया है। इससे तो यही श्रेष्ठ था कि वे तुम्हें जलाकर भस्म कर देते (जिससे न होता बांस और न बजती बांसुरी)।

चित्रलेखा

किन्तु, जला······संचालन से ।

शब्दार्थ—तपन=ताप । काम-लोल कटि=काम से चंचल कमर ।

अर्थ—चित्रलेखा सुकन्या से कहती है—किन्तु यदि भरत ऋषि उर्वशी को अपने शाप से भस्म कर देते तो अपनी कामातुर कटि के कंपन तथा भृकुटि-संचालन से संध्या के समय इन्द्र की सभा में नाच-नाच कर देवताओं की तपन का हरण कौन करता ?

सरल मानती······रक्त-धारा में ।

शब्दार्थ—सतत-चारिणी=निरन्तर संचरण करने वाली । तरी=नौका । मीनकेतन=कामदेव । श्रमित=थके हुए ।

अर्थ—चित्रलेखा कहती है—हे सरल हृदय भूतल पर रहने वाली नारी ! तुम भला कुटिल देवों के स्वरूप को क्या जानो ! यद्यपि देवलोक अपनी कामना को जलाकर सिद्ध हो गये हैं किन्तु उनके भस्म-समूहों में अब भी काम की कुछ चिनगारियां शेष हैं । उनकी शीतल (काम तथा तृष्णा से रहित) रक्त-धारा में अब भी कामदेव की नौका निरन्तर रूप से मन्द-मन्द संचरण करती रहती है ।

सहे मुक्त······जगाकर ।

शब्दार्थ—प्रहरण=प्रहार, आघात । अनंग=कामदेव । दर्प=शक्ति, सामर्थ्य । बिबुध=देवता । पंचशर=कामदेव । सुरों=देवताओं । प्रशमन= शमन करना, आत्मसात करना । पावक=अग्नि (कामाग्नि) । वन्हि= आग ।

प्रसंग—देवों के हृदय में काम के प्रति क्या प्रतिक्रिया होती है ? इसकी सहज कल्पना कवि दिनकर चित्रलेखा के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं ।

अर्थ—(देवताओं में भला) इतनी शक्ति कहां है कि वे कामदेव का स्वतन्त्र आघात सह सकें ? (अर्थात् काम के मानस में स्थित होने पर जो शरीर में इन्द्रिय-जन्य व्याकुलता होती है वह देवों में नहीं होती क्योंकि वे सिद्ध और शीतल होते हैं) । देवता लोग कामदेव के प्रहारों को अपने मानस

पर धारण करते हैं क्योंकि उस कामाग्नि का सहज एवं स्वच्छ रूप से शमन करना उनके लिये सम्भव नहीं है। वे तो दूसरों में कामाग्नि जगाकर (और उसके दर्शन से ही सुखभोग करके) प्रेम का सात्त्विक भोग करते हैं।

कहते हैं……मदन की।

शब्दार्थ—यौवनहर=जवानी को हरने वाली। प्रसव-पीड़ा=प्रजनन-पीड़ा। तेजोनिधान=तेजस्वी। ग्रीवा=गरदन। तल्प=शैया। रंजिकाएँ=मनोरंजन करने वाली।

अर्थ—ऐसा कहा जाता है कि अप्सराएँ जवानी को हरण करने वाली प्रसव की वेदना से बची रहती हैं। और, वे इस संतति-सुख से वास्तव में वंचित रह जाती हैं क्योंकि यदि वे माताएं बनकर धरती पर निवसित हो जायँ तो विषय-रस के लालची सिद्धों की और तेजस्वी देवताओं की दृष्टियां किनके गालों पर, गर्दन पर और वक्षस्थल की शैया पर आकर टकराएंगी। (अर्थात् फिर वे किसकी यौवन-माधुरी को और किसके सुन्दर अंग-प्रत्यंगों को देखकर अपनी कामोद्दीप्त दृष्टि को शान्त करेंगे)। अतः हम अतृप्त कामेच्छा का मनोरंजन करने वाली कामिनियों (अप्सराओं) के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं।

विशेष—देवताओं के विनोद का एकमात्र साधन काम ही है जो मदमत्त युवतियों के अंगों में निवास कर उनकी कामुक दृष्टि को सदैव विरमाता रहता है। कामायनी में काम, देवों के प्रसंग में अपना परिचय इस प्रकार देता है—

"मैं काम रहा सहचर उनका,
उनके विनोद का साधन था।
हंसता था और हंसाता था,
उनका मैं कृतिमय जीवन था॥"

—कामायनी : काम : ७१

स्तन, नयन, कपोल आदि काम के साकार रूप हैं जिन पर कामुक देवों की वासनामयी दृष्टि का लौट-लौट कर आ टिकना स्वाभाविक ही है—

"अपने अंग के जानिकै, जोबन जुवति प्रवीन,
स्तन, मन, नैन नितम्ब को, बड़ो इजाफा दीन।"
—बिहारी सतसई

हाय सुकन्ये ! ……पाता है।

शब्दार्थ—नियति=भाग्य।

अर्थ—हाय सुकन्ये ! भाग्य के शाप से ग्रसित हम अप्सराओं के हृदय की इस विषम पीड़ा को कोई भी तो नहीं समझ पाता।

सुकन्या
(उर्वशी से)

तो यह……पड़ी है।

शब्दार्थ—दारुण=भयंकर। नियति-क्रीड़=भाग्य का खेल। विपद=आपदा, विपत्ति, संकट।

अर्थ—हे उर्वशी ! भाग्य का यह भयंकर खेल आखिर कब तक चलता रहेगा ? और आखिर कब तक पुत्र को कलेजे से लगा क्षण भर के लिए मनःतोष करने के लिए इस प्रकार (पुरूरवा से) छिप-छिप कर बन में आओगी ? साथ ही, क्या मुझे यह बता सकती हो कि आयु यहाँ पर कब तक रहेगा ? (ये सब प्रश्न करते-करते जब उसने उर्वशी का कारुणिक एवं विवश मुखड़ा देखा तो लम्बी सी श्वास निकाल कर सुकन्या इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं कह सकी) हे भगवान ! उर्वशी पर यह कैसी विपत्ति आ पड़ी है ?

उर्वशी

आने को……सकती है ?

शब्दार्थ—स्यात्=शायद, सम्भवतः। सरणि=क्रम। समग्र=सम्पूर्ण। रजनी=रात। बन्ध्य=बांझ। उदर=पेट। अधिशप्ता=शापित।

अर्थ—उर्वशी सुकन्या के उपरोक्त प्रश्नों का उत्तर देती है—

जहां तक आने का प्रश्न है, सम्भवतः, यह मेरा अन्तिम दिवस है। कल से तो (पुरूरवा के पास जाने पर) मेरे जीवन का वही पुराना क्रम शुरू हो जाएगा। दिन में तो वे जहां पर भी रहेंगे उनके साथ मुझे भी रहना पड़ेगा

और रात्रि आने पर ऐसी प्रेम-कथा में खो जाना पड़ेगा जिसका न आदि है, न मध्य और न कभी अन्त होता है। इतना होते हुए भी मैं कह नहीं सकती कि 'आयु' के वियोगजन्य दुःख को मैं कैसे वहन कर सकूंगी? (प्रायश्चित करती हुई उर्वशी कहती है कि) हाय पुत्र! तू मुझ जैसी अभिशप्ता और बन्ध्य-उदरा अप्सरा की कोख से क्यों जनमा था जो तुझे मां का प्यार भी नहीं दे सकी।

मैं निमित्त······आने पर।

शब्दार्थ—निमित्त=हेतु, कारण। अबोध=अनजान। निखिल=सम्पूर्ण। भ्रूण-वहन=गर्भ को धारण करना। प्रजनन=जन्म। शरण्ये=शरण देने वाली। स्वसे=भगिनी, बहन।

अर्थ—हे सुकन्या! मैं तो इस बच्चे की माता कहलाने की हेतु मात्र हूं। सत्य रूप में देखा जाय तो इस सम्पूर्ण विश्व में तुम्हें छोड़कर दूसरी कौन इस अबोध शिशु की माता कहलाने की अधिकारिणी है? केवल गर्भ धारण कर लेना और (फिर निश्चित समय पर) उसको जन्म दे देना ही मातृत्व नहीं है, माता तो असल में वह है जो बच्चे को अपनी छाती से लगाकर पालती है। (भाव यह है कि इस दृष्टि से इस शिशु की माता मैं नहीं वरन् तुम हो क्योंकि मैंने तो केवल इसको जन्म भर दिया है जब कि इसका पालन-पोषण तो तुम ही कर रही हो)। हे सखी, करुणामय देवी, शरण में आये हुए को शरण देने वाली, मंगल रूपा, कल्याण करने वाली और भगिनी (सुकन्ये)! मैं यह क्या बता सकती हूं कि अपने वंश से बिछुड़ कर आयु कब तक यहाँ धर्म की शरण में तथा तुम्हारे आंचल की छाया में रहेगा? लेकिन (इतना तो निश्चित है कि) एक न एक दिन उसे अपने पिता के घर में तो अवश्य ही जाना है। (हाँ यह बात दूसरी है कि वह कब जा सकेगा? हो सकता है भाग्य की प्रवंचना से) वह आज या कुछ दिन में अथवा यौवन आने पर ही जाए।

अपना सुख······गयी हूं।

शब्दार्थ—तृणवत=तिनके के समान। जनित=उत्पन्न किए गए।

तनय=पुत्र। दयित=स्वामी, पति, प्रियतम (पुरूरवा)। क्षिति=धरती। कल्प-कानन=नन्दन-वन।

अर्थ—(मातृत्व में विभोर होकर उर्वशी सुकन्या से कहती है—) मैं अपने सुख (प्रणय-सुख) को तो तिनके के समान नगण्य मानकर किसी भी क्षण उसे छोड़ सकती हूं लेकिन इस धरती पर रहते हुए (अपनी आंखों के सामने) मैं (अपने क्षणिक सुख के लिए) बच्चे के भाग्य को कैसे फोड़ सकती हूं? हे सुकन्ये! इसलिए मेरे द्वारा प्रसूत इस शिशु को जब तुम्हारी इच्छा हो तभी (राज-गृह) भिजवा देना। (यह मैं जानती हूं कि) जब मेरे स्वामी की दृष्टि इस पर पड़ेगी तब मुझ पर एक वज्र सा टूट पड़ेगा। भरत द्वारा दिया गया शाप गर्जन कर उठेगा और मैं पुतली के समान पराधीन सी होकर इस धरती को छोड़ अचानक खिंची हुई स्वर्गलोक को चली जाऊँगी। फिर अकस्मात् मेरे ये सभी सुख, जिनकी लालसा लेकर मैं इस धरती पर उतरी थी और जिनके लिए मैंने नन्दन-वन को भी भुला दिया था, छूट जाएँगे।

यह धरती .....वसुधा से।

शब्दार्थ—अटवी=जंगल। प्रसून=फूल। सरित्सलिल=नदी का पानी। शस्य=फसल (अनाज)। निकुंज-पुंजों=झाड़ियों (लताओं) के झुरमुटों। अविनश्वर=शाश्वत, अमर। सुरपुर=इन्द्रलोक।

अर्थ—स्वर्ग में जाने पर मुझे यह पृथ्वी, (यहां से खड़े होकर दिखाई देने वाला) यह नीलाकाश, मृगों से आपूरित हरे-भरे जंगल तथा ये (रंग-बिरंगे) फूल बड़े याद आयेंगे। प्रातःकाल उषा की अरुणाभा से सरिता के जल का झलमल-झलमल करना, धानों के खेतों पर चन्द्रमा की चांदी जैसी किरणों का बिखर जाना, लता-कुंजों में पक्षियों का कलरव करना भला मुझ स्वर्ग-वासिनी को स्वर्ग में कहाँ देखने को मिलेगा, इसलिये इस विशाल किन्तु नश्वर मही के शाश्वत सौन्दर्य को मैं, स्वर्गवासिनी श्रद्धा से नत होकर नमस्कार करती हूं। इस वसुधा पर कितना अनन्त सुख, प्रमोद तथा आनन्द है? इन्द्र-लोक का स्वर्गीय आनन्द तो इसकी तुलना में बहुत ही कम है।

दिन में......जाती है?

शब्दार्थ—अंकस्थ=अंक में धारण किए हुए। अचल=अडिग। यामिनी

=रात । निस्तब्ध=शान्त । सुदूर=दूर से । क्षितिज=धरती और आकाश का मिलन-स्थल । तृणों=घास ।

अर्थ—दिन में जब ये अडिग पर्वत मोहित करने वाली प्रिय छाया को अपने भीतर आत्मसात कर लेते हैं तब भी वे कितने सुन्दर लगते हैं ? रात्रि के आगमन पर जब आकाश की छाती पर नक्षत्रों का विराट ज्वार-भाटा सा छा जाता है तब वह कितना महान प्रतीत होता है । जब रात काफी घनी हो जाती है उसी समय उन निस्तब्ध क्षणों में कौन सा ऐसा गीत है जिसे अचेतन अंधकार गाया करता है और जब दूर क्षितिज से स्पर्श से ही अमित सुख प्रदान करने वाली वायु आती है तो वह, कौन सी ऐसी रहस्यमयी बात है जिसे (हरे-हरे) तृणों पर लिखकर छोड़ जाती है (जिसे वे रह-रह कर अपनी संगीतमयी ध्वनि में सुनाते रहते हैं और ओस-बिन्दुओं के रूप में करुणायित होकर रोते रहते हैं) ।

विशेष—'पर्वत' और 'अचल' में 'पुनरुक्तवदाभास' अलंकार है ।

और गन्धमादन······इठला कर ।

शब्दार्थ—विटप-तृण=वृक्षों के पत्ते । श्रवण=कान । अटवी=वन, जंगल । निनद=निनाद, स्वर । ज्वार बांध=ज्वार-भाटे का रूप धारण करके । तटिनियां=सरिताएँ । सुढाल=ढलान वाली, चिकनी ।

प्रसंग—उर्वशी अपने पिछले दिनों की सुखद कल्पना का स्मरण कर रही है तथा दोनों में परस्पर की गई रति-क्रीड़ा का प्रकृति पर क्या प्रभाव पड़ा, इसका भी पुनराख्यान कर रही है ।

अर्थ—और मैं पुष्पों से आच्छादित इस गन्धमादन-भुवन का क्या वर्णन करूं ? यहाँ के जीव-जन्तुओं की बात तो छोड़िये, मुझे तो इसके वृक्षों का एक-एक पत्ता तक सजीव (प्राणवान) लगता था । हमारे द्वारा परस्पर किए गए चुम्बन तथा मधुर अठखेलियों से उत्पन्न सूक्ष्म ध्वनिको यह वन वृक्षों के प्रत्येक पत्रक को कान बना, मौन धारण कर कितने ध्यान से सुना करता था ? (हमारे आलिंगन से उद्दीप्त होकर) लताएँ तथा शाखाएँ हमारा मधुर स्पर्श करने के लिए झुक आती थीं और हिमालय की चोटियां ऐसी प्रतीत होती थीं मानो विशाल भुजाएँ हों जो सपने में आगे बढ़कर हमें अपने आगोश में ले लेना

चाहती हों ! (हमारे मुख तथा नासिका से निकलने वाली उत्तप्त एवं कामासक्त निश्वासों से पीड़ित होकर) कुंजों के फूल बेचारे विचलित हो उठते थे। ऐसा प्रतीत होता था जैसे वे अपनी गन्धपूर्ण श्वासों के द्वारा हम को पी जाएंगे। (हमारी प्रणय-क्रीड़ा से रोमांचित होकर) पहाड़ों की चोटियों पर लहराने वाली हरियाली समुद्र की लहरियों के समान फेन उगल रही थी और वह ज्वार-भाटे के समान लग रही थी जो किसी न किसी प्रकार बादलों से मिलने के लिये उत्सुक हो रही थी। (हरियाली की उर्मियां स्त्रीलिंग तथा बादल पुल्लिग है। स्त्रीलिंग का पुल्लिग से परिरंभण करने का आकुल भाव उर्वशी तथा पुरूरवा के परस्पर निबद्ध हो जाने के आकुल भाव को दर्शित करता है) और, ढलान वाली चिकनी-चिकनी शिलाओं से टकराकर उछलती हुई बहने वाली सरिताएं हमें देखकर और अधिक इठला कर चलने लगती थीं। (भाव यह है कि ये गर्विता नायिका का रूप धारण करके इठला-इठला कर यह दर्शाने का प्रयत्न करती थी कि "तुम्हीं नहीं" मैं भी अपने प्रियतम समुद्र के आलिंगन-पाश में समा जाने के लिए जा रही हूं। तुम्हें तो किसी न किसी क्षण अपने प्रियतम के आलिंगन से अलग होना ही पड़ेगा मगर मुझ सौभाग्यशालिनी को देखो जो एक बार उसकी गोद में समा जाने के पश्चात् कभी उनसे विलग नहीं होती)।

विशेष—(i) उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा अलंकार।

(ii) स्मरण अलंकार।

(iii) प्रकृति का मानवीकरण।

और हाय······बनाकर।

शब्दार्थ—निर्झरी=छोटा झरना (स्त्री०)। सुकृत=अच्छे कर्म।

अर्थ—और हाय! (मैंने एक निर्झरिणी को देखा था। उसको याद भला मैं कैसे भूल सकूंगी? अच्छे कर्मों से द्रवित हुई सी एक निर्झरिणी पेड़ों की छाया में बहती हुई कितनी भोली लग रही थी। ऐसा लगता था जैसे वह जिस किसी पवित्र उद्गम-स्रोत से निकल कर आ रही है वहीं कहीं उसके प्रियतम कुटिया बना कर रहते होंगे (जिनके साथ वह अभी काम-क्रीड़ा

करके आ रही है और अब उस प्रेम का स्मरण मात्र करने से द्रवित हो रही है।)

विशेष—(i) उदाहरण तथा स्मरण अलंकार।
(ii) प्रकृति का मानवीकरण।

आह! ····· छिपाकर।

शब्दार्थ—अलभ्य=अप्राप्य। मदिर=मस्त। घ्राण=सूंघने की शक्ति। वियद=विस्तृत। उर:देश=वक्ष। लक्ष्य=चिन्ह। रभस=मिलन। अभंग=निरन्तर। शर्वरी=रात। मुखदेश=मुख।

अर्थ—गन्धमादन का यह सुख और प्रियतम की गोद—सब मुझे याद आ रहे हैं। वह मस्त आनन्द जो स्वर्ग में भी अप्राप्य है उसका मैंने इस रसमयी पृथ्वी पर जी भर कर पान किया है। नासारन्ध्रों में जो सुगन्धि तथा चकित नयनों में जो सौन्दर्य व्याप्त हो गया है, त्वचा में, कपोलों में तथा उंगली की पोरों में स्पर्श के सुख की जो पुलकित कर देने वाली सनसनी समा गई है उसे क्या कभी पवित्र एवं विस्तृत गंगा का जल धो पायेगा? कल्पवृक्ष के नीचे ध्यान में जगी हुई मैं अपने वक्ष पर प्रियतम के वक्षस्थल के सुखद चिन्हों को तथा रोमांचित हुई सारी देह पर पिछले चुम्बनों को ढूंढूंगी। और, प्रियतम के साथ की गई उन सुन्दर रंगरेलियों को क्या मैं कभी भुला सकती हूं? मेरे सारे अंगों से प्रियतम का सदा ठिठोली कर सदा खेलते रहना और प्रेमरस में निष्पलक नयनों से सारी रात मस्ती से बिता देना, कभी मुझे अपने आकुल एवं स्निग्ध हृदय से लगा लेना और कभी बालकों की तरह मेरी गोद में अपना मुंह छिपा लेना—(ये सब क्या कभी मुझे भूल सकेंगे?)

तब फिर······जाते हैं।

शब्दार्थ—आलोड़न=उमड़ना। निगूढ़=गहन। बेकली=बेचैनी। विलय=लीन। अन्तराल=हृदय। विसुध=बेसुध।

अर्थ—और फिर दो प्राणों की ध्वनियों का गहन संघर्ष, एक को दूसरे में लीन कर देने की उनकी वह बेचैनी, खून का वह उफान, हड्डियों में चिनगारी का फूटना और त्वचा का पुलकित होकर स्वयं प्रकाशित हो उठना मानो शरीर

के अन्धकार की पर्तें एक-एक कर नष्ट होती जा रही हों । मन का किसी आकाश के अन्तर में किसी महासागर में डूब कर निश्चल समाधि के सुख में खो जाना आदि मेरे विगत प्रेम की स्मृतियाँ कितनी विकल कर देने वाली हैं । सुकन्ये ! धरती का यह प्रभापूर्ण प्रेम कितना दिव्य है, कितना गहरा है ? अपनी उत्तेजना की धारा में बेसुध होकर स्वयं तैरते हुए न जाने हम किस अदृश्य लोक में पहुंच जाते हैं ।

यह प्रदीप्त······जाता है ।

शब्दार्थ— मर्त्य-जगती=मरण-धर्मा पृथ्वी । वातायन=झरोखा,खिड़की । प्रणय-वन्हि=प्रेम की आग । पाषाण=पत्थर ।

अर्थ—(धरती का) यह आलोकित आनन्द भला इन्द्रलोक की शीतल, प्रशान्त प्रकृति में कहां सम्भव है ? पारिजात के पुष्पों में (काम की) आग ढूंढने से भी नहीं मिलेगी । यह तो मर्त्यलोक ही है जहां पर स्पर्श के सुख से अंधकार में भी आलोकवान झरोखे खुल पड़ते हैं । शान्त हृदय में प्रेम की आग उसी प्रकार जलने लगती है जैसे सोया हुआ पत्थर जाग कर हीरा बन जाता है ।

किन्तु,······देने को ।

शब्दार्थ—अमेय=अपरिमित । निर्जर=बुढ़ापे से रहित । अमर्त्य= अमर । पीयूषमयी=अमृतमयी । अदूर=निकट, समीप । घात=दांव । आकस्मिक=सहसा आने वाले ।

अर्थ—किन्तु दुःख है कि इन अतुल, अपरिमेय सुखों की नश्वरता को अमरता में बदलकर भोगना मेरे लिए भी कठिन है । यद्यपि मैं जराहीन, स्वर्गिक, अमर एवं अमृतमयी अप्सरा हूं । भरत का शाप न जाने मेरे कितने समीप एक ही आकस्मिक झटके में पृथ्वी से मेरा सुखमय सम्बन्ध छिन्न कर देने के लिए दांव लगाए बैठा है ।

जो भी······वाले हैं ।

शब्दार्थ—सरल है ।

अर्थ—हे सखि ! चाहे मैं कुछ भी क्यों न करूं पर वह दिन तो अब आने ही वाला है जब मेरा सारा सौभाग्य एक ही क्षण में छिन जाएगा । मैं

पृथ्वी के सारे सुखों को छोड़कर यहां से उसी प्रकार उड़कर चली जाऊंगी जिस प्रकार आत्मा शरीर को छोड़ अम्बर में उड़ जाती है और अंत में मुझ शापित अभागिनी नारी को न तो प्राणों से प्रिय पुत्र ही मिल सकेंगे और न ही फिर मेरा प्रियतम से मधुर मिलन हो सकेगा।

चित्रलेखा

भरत शाप······रही हो।

शब्दार्थ—दुस्सह=असहनीय। दुरन्त=भयंकर। छागी=बकरी। खर=तीक्ष्ण। छुरिका=छुरी।

प्रसंग—भरत के शाप की दुस्सह कल्पना से चित्रलेखा के हृदय में उर्वशी के प्रति भयजन्य कारुण्य की लहर कौंध जाती है और वह उर्वशी के दुर्ललित भाग्य के प्रति शोक प्रकट करती है।

अर्थ—प्रिय सखी! भरत का असहनीय भयाक्रान्त अभिशाप कितना दुःखदायी एवं कटु है। प्रत्येक क्षण इसके भय को उस बकरी की तरह आखिर तुम कब तक सहती जाओगी, जिसकी भय से निरन्तर रूप से कांपती हुई गरदन पर यमराज की जीभ के समान तीक्ष्ण छुरी झूल रही हो।

शिशु को·····करती हैं।

शब्दार्थ—सुरपुर=इन्द्रपुरी।

अर्थ—'आयु' को किसी तरह अपने प्रियतम पुरूरवा के राजमहल में पहुंचा कर तुम आज ही रात को यदि इन्द्रपुरी लौट चलो तो अधिक श्रेयस्कर है। ठीक है कि शाप से छूटने का कोई उपाय नहीं है किन्तु ऐसा करने से तुम उसके भय की दाहकता से तो बच जाओगी और फिर अप्सराएं अपनी सन्तानों का पालन करती ही कब हैं?

विशेष—**"और अप्सरा संततियों का पालन कब करती हैं?"**—"पुराणों में निम्नलिखित कथाएं देखिए—शुकदेव का जन्म घृताची से, मत्स्यगन्धा का जन्म उपरिचर और अद्रिका से, प्रभद्वरा का जन्म विश्वावसु मुनि और मेनका से। राजा आग्नीध्र और पूर्वचित्ति, मुनीश्वर कण्डु और प्रम्लोचा तथा मेनका और विश्वामित्र की कथाएं भी। गंगा ने भी अपने आठ पुत्रोंमें से

किसी का पालन नहीं किया । हां, मेनका एक ऐसी अप्सरा अवश्य है, जिसके भीतर मातृत्व कुछ अधिक सजीव था । दुष्यन्त के यहाँ सेजब शकुन्तला निकाल दी गई, तब सहसा मेनका आकर उसे उठा ले गई, ऐसा साक्ष्य कालिदास की कल्पना देती है ।"

— उर्वशी-परिशिष्ट : १६८

उर्वशी

यों बोलो······नहीं है ।

शब्दार्थ—वातायन=खिड़की, झरोंखा । स्वरस=सुरस । पजाती=किटकिटाती । अनागत=भविष्य ।

प्रसंग—चित्रलेखा के यह कहने पर कि उर्वशी शाप के भय से बचने के लिए पृथ्वी से पलायन कर स्वर्ग को लौट जाय तो अच्छा है, उर्वशी पृथ्वी के दुःख-सुख के समन्वित एवं शाश्वत नियम की ओर उसका ध्यान आकृष्ट किया चाहती है । यहां (धरती पर) अमृत और गरल; फूल और कांटे ; दुःख तथा सुख सबका एक साथ वरण करना पड़ता है । अतः अनागत दुःखों की आशंका से भयभीत होकर उर्वशी भागना नहीं चाहती ।

अर्थ—हे सखी ! ऐसा मत कहो । पृथ्वी के अपने अलग नियम हैं । यहां जिस जगह सुख होता है उसी जगह दुःख भी झरोंखे से झांका करता है । जहां मनुष्य को मधुमय रस का पूर्ण स्वाद मिलता है वहां पास की खाई में छिपकर बैठी हुई मृत्यु अपना दांव लगाए दांत पीसती रहती है । यहां जो भी अमृत का पान करना चाहता है उसे एक हाथ रस के घड़े पर और दूसरा मौत की गरदन पर रखना पड़ता है । (जब इस धरती का नियम ही ऐसा है) तो फिर मैं ही भविष्य के भय से भयभीत होकर इस धरा को क्यों छोड़ दूं । अतः प्रिय पुत्र आयु यहीं रहेगा । उसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग इसका नहीं है ।

सुकन्या

चित्रे ! ······पालूंगी ।

शब्दार्थ—निरीह=भोले । पयमुख=दुधमुहां । निरापद=आपत्ति-

रहित। कुलपाली=कुल को पालने वाली। विमातृत्व=विमाता। वामा =स्त्री।

अर्थ—चित्रलेखे ! उर्वशी ठीक कहती है इस भोले तथा दुधमुंहे आयु को अभी से राजभवन भेज देना आपत्तिहीन नहीं होगा। रानी चाहे कितनी भी उदार, कुल का पालने वाली तथा दयावती क्यों न हों हम स्त्रियां विमाताओं का विश्वास नहीं किया करती हैं। उर्वशी तुम 'आयु' को मुझे दो। इसका पालन-पोषण मैं करूंगी।

(उर्वशी की गोद से आयु को ले लेती है और उसे पुचकारते हुए बोलती जाती है)।

यह आश्रम······नहीं है।

शब्दार्थ—इन्दु=चन्द्रमा। डैने=पंख। कपोत-केकी=कबूतर और मोर। रार=झगड़ा। रोपेगा=करेगा। शशकों=खरगोशों। प्लवंग= खग, पक्षी। कुरंग-छोनों=हिरन के बच्चों। होम-धेनु=यज्ञ की गाएं। गोचर-अनुकूल=प्रवेश पाने योग्य। समिधा=यज्ञ की सामग्री। शस्त्र-शास्त्र-निष्णात=शस्त्र तथा शास्त्रों में प्रवीण। कैशोर=यौवन। पीयूष= अमृत। मृण्मयी=मिट्टी वाली।

अर्थ—हे सखी ! यह तुम्हारा पुत्र आयु इस आश्रम की ज्योति है; इस पर्णकुटी का नन्हा सा चन्द्रमा है और हमारी आंखों का तारा है।

यह मेरा मुन्ना घुटनों के बल दौड़-दौड़ कर कभी हरिण के कानों को पकड़ेगा और कभी कबूतर एवं मोर के पंखों को।

जब यह खड़ा होकर चलने लगेगा तो सुन्दर खरगोशों, गिलहरियों, खग-शावकों तथा बाल-मृगों के साथ हठपूर्वक झगड़े करेगा।

फिर कुछ दिन में और तनिक बड़ा होकर यह यज्ञ की गायों को लेकर गौओं के चरने योग्य जंगल में प्रतिदिन जाया करेगा।

और सांझ के समय उन्हें चराकर सिर पर छोटा सा कुशा, दाभ तथा समिधा का गट्ठा लेकर लौट आएगा।

फिर पवित्र होकर महर्षि च्यवन के साथ यज्ञ की वेदी पर बैठकर हमारा यह लाल मन्त्रोच्चारण कर हवन किया करेगा।

हवन के धूएं से जब उसकी आंखों में आंसू उमड़ आएंगे तब मैं अपने आंचल से उसके दोनों नयन पोंछ दूंगी।

शस्त्र और शास्त्रों के प्रयोग में प्रवीण, शरीर से बलिष्ठ, मन से प्रभा-युक्त जब यह अपना पुत्र यौवन को प्राप्त कर लेगा तब मैं इसे स्वयं राज-भवन में पहुंचा आऊंगी।

तब तक तुम (उर्वशी) जाकर मर्त्य धरती के अमृत का निश्चिन्त तथा सन्देह रहित होकर पान करो। आयु को अब किसी प्रकार का भी भय नहीं रह गया है।

उर्वशी

तो मैं जा रही हूं ?

सुकन्या

कहां जा रही हो ? क्या तुम प्रिय के आलिंगन-पाश में बंधने के लिए तो नहीं जा रही हो।

उर्वशी

उस बन्धन······विपद में।

शब्दार्थ—विकल्प=विचार। दारुण=भयंकर।

अर्थ—राजा के आलिंगन-पाश में तो अब केवल शरीर ही बंधने को शेष रह गया है क्योंकि मेरे प्राण तो आयु के ही जीवन से लिपटे हैं जिन्हें मैं यहीं तुम्हारे घर छोड़कर जा रही हूं। मैं पुत्रों और पति—दोनों को नहीं अपितु इनमें से केवल एक को ही प्राप्त कर सकती हूं, भरत का यह शाप वास्तव में बड़ा भयंकर है। इसकी कल्पना-मात्र ही भयंकर एवं असहनीय है। आगे से किसी का भाग्य किसी को भी ऐसी घोर विपत्ति में न डाले।

(उर्वशी और चित्रलेखा का प्रस्थान)

पंचम अंक

स्थान—पुरूरवा का राजप्रासाद (पुरूरवा, उर्वशी, महामात्य, राजपण्डित, राजज्योतिषी, अन्य सभासद, परिचारक और परिचारिकाएं यथास्थान बैठे या खड़े। राजा की मुद्रा अत्यंत चिन्ताग्रस्त। आरम्भ में कई क्षणों तक कोई कुछ नहीं बोलता।)

महामात्य

देव ! क्षमा······आने वाली है ?

शब्दार्थ—कुतुक=कौतुक, तमाशा, उत्सुकता। महामह=महान महिमा से युक्त। मूक=चुपचाप। विषण्ण=दुःखी। अचल=स्थिर, शान्त। कलरोर =सुख देने वाला संवाद। निस्पन्द=स्पन्दन रहित। सन्न=हतप्रभ, हैरान।

प्रसंग—पुरूरवा के राजमहल में दरबार लगा हुआ है। पुरूरवा, उर्वशी, महामात्य, राज-पण्डित, राज-ज्योतिषी, अन्य सभासद तथा परिचारक और परिचारिकाएँ यथास्थान बैठे या खड़े हुए हैं। राजा की मुद्रा अत्यन्त चिन्ता-ग्रस्त है। आरम्भ में, कई क्षणों तक, कोई कुछ नहीं बोलता। अन्त में महामात्य ही राजा से चिन्ता का कारण पूछते हुए कहते हैं—

अर्थ—हे देव ! आज मेरे चित्त में एक जिज्ञासा जागी है जिसके लिए आप मुझे क्षमा करें ! आज मैं अपने महामहिम राजा के विशाल नेत्रों में किसी नवीन चिन्ता को घमड़ते हुए देख रहा हूँ। महाराज जब से (दरबार में) आए हैं तब से कुछ चुप, दुःखी तथा अचल दृश्यमान हो रहे हैं। यह महासिन्धु सुख देने वाले मधुर स्वर को रोक कर अपनी लहरों को निस्पन्द किए इस प्रकार अपने में क्यों डूब रहा है। (भाव यह है कि आप महासिन्धु के समान हैं। आपके चित्त में आनन्द की हिलोरें मधुर गुंजन किया करती थीं। वे आज शान्त हो गई हैं तथा आप अपने में ही डूब जाना चाहते हो)। यह दृश्य देखकर सम्पूर्ण सभा हतप्रभ है। (कृपया हमें बताइए कि) कौन ऐसी भयंकर आपदा है जो हम पर आना चाहती है।

विशेष—'समुद्र का अपने में डूब जाना' बड़ी भयंकर आपदा का

सूचक है क्योंकि यह वैज्ञानिक सत्य है कि जब कभी समुद्र लहरों को अपने अन्तर में समेट कर शान्त हो जाता है तब यह समझना चाहिए कि निकट भविष्य में समुद्र के अन्दर महाप्रलय आने वाली है। इस प्रकार कवि ने अंक के प्रारम्भ में ही आने वाली किसी घोर विपदा की पाठकों को सूचना दे दी।

पुरूरवा

कुशल करें······देखा है।

शब्दार्थ—अर्यका=सूर्य। मरुद्गण=देवता। व्योम-मण्डल=आकाश-लोक। अभिषुत=निकाले हुए। सोम=रस। भुवन=लोक, संसार। आह्वनीय=आहुति देने योग्य। अनल=अग्नि। अभीष्ट-वर्षी=इच्छित वर्षा करने वाले। मघवा=इन्द्र।

प्रसंग—दुःख का पहाड़ टूटने से पूर्व राजा पुरूरवा राष्ट्र की मंगलकामना के लिए सभी देवताओं से करबद्ध याचना करता है—

अर्थ—सूर्य देवता हमारा कल्याण करें! देवता आकाश-लोक से उतर कर निचोड़े हुए सोमरस का पान करने के लिए हमारी जगती पर आते रहें। अर्थात् हमारी धरती इतनी रसमयी हो कि देवता यहां पर रीझ-रीझ कर आएँ! वरुण देवता यज्ञ में आहुति देने योग्य अग्नि को सदा प्रज्ज्वलित रखें और इच्छित वर्षा करने वाले इन्द्र की हम प्राणियों पर सदा करुणा-दृष्टि रहे। (यह मंगलकामना करते हुए अब मैं अपनी चिन्ता का कारण बताता हूं।) हे सभासदो! कल रात को मैंने एक विचित्र स्वप्न देखा है।

विशेष—(i) अपनी गहन चिन्ता में देवताओं से राष्ट्र की मंगल-कामना करना एक आदर्श राजा की पहचान है जिसे कवि ने यहां उपस्थित करने का प्रयत्न किया है।

(ii) 'अर्यमा', 'मरुद्गण', 'अभिषुत' तथा 'आह्वनीय' जैसे शुद्ध तत्सम शब्द, जो हिन्दी भाषा में पचे नहीं हैं, कठिन प्रतीत होते हैं। ऐसे दुरूह शब्दों का मोह काव्य के सहज प्रवाह तथा साधारणीकरण में बाधक होता है। अतः इनका यथास्थान त्याजन ही श्रेयस्कर है।

सभासद

स्वप्न !

पुरूरवा

स्वप्न ही······जागृति है ?

शब्दार्थ—द्वाभ=प्रकाश। छलना=धोखा। मुद्रित=अंकित। निद्रित= सोया हुआ।

अर्थ—हे सभासदो ! तुम चाहो तो उसे स्वप्न कह सकते हो, यद्यपि मेरे आभ्यन्तर चक्षुओं के सामने अब भी वे दृश्य ज्यों के त्यों घूम रहे हैं। जैसे सुषुप्ति और जागरण-क्षितिज के धूमिल प्रकाश में मैंने उन्हें सत्य, चेतन, सुस्पष्ट तथा स्वच्छ रूप में देखा था (वैसे ही चित्र अब मेरी आंखों के सामने नाच रहे हैं)।

(रात्रि को जो स्वप्न देखा था,) उसकी कथा बड़ी विस्मयकारी है। (मैं नहीं जानता कि) वह मानस की छलना थी या मेरे भविष्य के अंकित पृष्ठ, जिनका आगे चलकर उद्घाटन होने वाला है उनको मैं रात्रि को सोते समय भविष्य में जाकर देख आया हूं।

यह कौन बता सकता है कि रात्रि को मैंने जो स्वप्न देखा था वह सारहीन है या जो कुछ मैं अब देख रहा हूं वह स्वप्न है ? मैं नहीं जानता कि मेरे लिए यह जागरण स्वप्न है या स्वप्न जागृति है (अपितु यह रहस्य तो भविष्य के मुद्रित अंक ही खोलेंगे)।

विशेष—(i) सन्देह अलंकार।

(ii) अन्तिम तीन पंक्तियों में पुरूरवा के हृदय का अन्तर्द्वन्द्व बड़े सजीव रूप में अंकित हुआ है।

महामात्य

बड़ी विलक्षण······जायेंगे।

शब्दार्थ—बिला=मिटाना। उन्मीलित=खुली। दुश्चिन्त्य=बुरी चिन्ताओं से भरा। अश्विद्वय=अश्विनीकुमार।

अर्थ—अद्भुत बात है। स्वामी आपने ऐसा क्या कुछ देख लिया है जिसके कारण स्वप्न और जागृति की दूरी कम हो रही है, तथा वर्तमान पर

भविष्य की परछाईं पड़ रही है। भविष्य की बन्द हुई पोथी के पृष्ठ खुले से नजर आ रहे हैं अर्थात् जिससे भविष्य कुछ स्पष्ट सा हो रहा है। हे स्वामी! दया करके आप मुझे बतायें कि दुश्चिंताओं से पूर्ण वह क्या सपना था। दो अश्विनीकुमारों की कृपा से जो भी विघ्न होंगे दूर हो जायेंगे।

विशेष—दो वैदिक देवता। ये सूर्य के औरस पुत्र माने जाते हैं। इनकी माता एक अप्सरा थी जिसने अश्विनी का रूप धारण कर लिया था। यह देख सूर्य ने भी अश्व का रूप धारण कर लिया। उनके सहवास से जिन युगल कुमारों की उत्पत्ति हुई वे अश्विनीकुमार कहलाये। ये चिरयुवा, चिरसुन्दर, दिव्य तेज युक्त, लोकोपकारक एवं देव-चिकित्सक थे। ये ऊषा के पूर्व दिव्यरथ पर आरूढ़ होकर आकाश में विचरण करते हैं। सम्भवतः इसी आधार पर वे सूर्य के पुत्र के रूप में कल्पित कर लिये गये हों। निरुक्ताकार इन्हें 'स्वर्ग तथा पृथ्वी' और दिन तथा रात्रि का प्रतीक मानते हैं। पौराणिक कथाओं के आधार पर नकुल तथा सहदेव की उत्पत्ति इन्हीं के अंश से मानी जाती है। इन्होंने अति वृद्ध च्यवन ऋषि को चिर-यौवन प्रदान किया था जिसके फलस्वरूप च्यवन ने इंद्र से कहकर इन्हें देवताओं का यज्ञ-भाग दिलवाया था जिससे चिकित्सक होने के कारण अश्विनीकुमार वंचित रहते थे।

—हिन्दी कथा कोष : पृष्ठ १०

पुरूरवा

कौन······निकालेगा!

शब्दार्थ—बद्ध=बँधा हुआ। ऋत=प्रकृति के वे नियम जिनसे सृष्टि की सम्पूर्ण प्रक्रिया गतिमान होती है। प्रारब्ध=भाग्य, नियति। सौम्य=सुन्दर, उदार।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण में पुरूरवा प्रकृति के शाश्वत नियमों की ओर संकेत करते हैं और भावी को प्रबल बताते हैं।

अर्थ—महामात्य! कौन से विघ्न की तथा कैसे विघ्न का बात आप पूछ रहे हैं। जो कुछ भी होता है अथवा होने वाला है सब ऋत नियमों के अमर धागों में गहनता से बंधा है। उसे तुम भाग्य, नियति अथवा प्रकृति की

उदार लीला, जो चाहो कह सकते हो। जो बीज यहां गिरा है वह अवश्य ही वृक्ष बनकर उगेगा।

किन्तु......आता है।

शब्दार्थ—गर्त=गढ़ा। गह्वर=गुफा। प्रदीप्त=तेज युक्त।

अर्थ—लेकिन मैं किसी प्रकार भी इन नियमों के बन्धनों से भयभीत नहीं हूं, गहनतम धरा के अन्तराल में, गंभीर गुफा में भी यदि मुझे जाना पड़े तो मैं उसी प्रकार तेजयुक्त होकर जाऊंगा जिस प्रकार अन्तरिक्ष के विभिन्न लोकों में मैं अनेक बार घूम चुका हूं। मेरा यह मौन धारण करना भय का प्रतीक नहीं है अपितु मैं तो यह विचार कर रहा हूं कि अब की बार मेरा भविष्य कौनसा वेष धारण कर आयेगा।

महामात्य

महाराज......पृथ्वी पर ?

शब्दार्थ—संकल्प=निश्चय, इरादा। प्रसाद=कृपा। द्यावा=नभ।

अर्थ—वस्तुतः महाराज, आपका मन बलशाली है, आपका अन्तर शुद्ध एवं दृढ़ निश्चयों से आपूरित है। जिस (पुरूरवा) की बाहों की कृपा से देवता निश्चित रहते हैं उस अजेय के लिये आकाश अथवा पृथ्वी में कहीं भी भय नहीं है।

प्रभु......रहते हैं।

शब्दार्थ—अभीक=निडर। निषण्ण=स्थित।

अर्थ—हे स्वामी! आप भय से मुक्त ही रहें किन्तु फिर भी मेरी यह जानने की जिज्ञासा है कि वह स्वप्न क्या था जिसकी याद अब तक आपके प्राणों में घर किये बैठी है।

मन के चंचल लेख (कार्य-कलाप) निद्रा के नन्हे चित्रपट पर जल की रेखा के समान बनते-बिगड़ते रहते हैं।

विशेष—दिवस के समय अथवा जागृतावस्था में मन में आये विचार ही सपनों में आते-जाते रहते हैं ऐसा विचार सभी मनोविज्ञानवेत्ताओं का है।

पुरूरवा

देखा......आतुरता से।

शब्दार्थ—नव्य=नया। वट-पादप=बड़ का पेड़।

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियों में पुरूरवा अपने स्वप्न का वर्णन करते हैं।

अर्थ—मैंने स्वप्न में देखा, कि सारे प्रतिष्ठानपुर में कुछ कोलाहल छाया हुआ है। लोग कहीं से एक नवीन अश्वत्थ का वृक्ष ले आये हैं और उसे वहीं बाहर के आंगन में रोपकर (लगाकर) बड़े चाव से तथा चिन्ता से प्रपीड़ित व्यग्रता से सींच रहे हैं।

मैं भी······नहीं हो।

शब्दार्थ—क्षीरघट=दूध का घड़ा। उत्कंठित=उत्सुक। विरवा=पौधा। नागर=नगर-निवासी। नवागत=नवागन्तुक। सौरमंडल=सूर्य-मंडल।

अर्थ—फिर मैंने (सपने में) देखा जैसे मैं भी दूध का एक घड़ा हाथ में लिये उत्सुक होकर वहीं आ गया हूं और उस नवीन वट-वृक्ष को दूध से सींचकर वहीं खड़ा हो गया हूं। लेकिन मेरी ओर कोई भी नगर-निवासी दृष्टि नहीं दे रहा है मानो मैं किसी अन्य सूर्यमंडल से आया हुआ नवागन्तुक जीव हूं जिससे उन नगर-निवासियों की कोई जान-पहचान नहीं है।

तब देखा······गया है।

शब्दार्थ—मदकल=मद से मस्त। वरिष्ठ=हृष्ट-पुष्ट।

अर्थ—तभी मैंने यह भी देखा कि मैं एक मदमस्त श्रेष्ठ बलिष्ठ हाथी पर बैठा हुआ प्रतिष्ठानपुर से बाहर किसी जंगल में पहुंच गया हू। किन्तु ज्योंही मैं उस जंगल में हाथी की पीठ से नीचे उतर कर देखता हूं तो मुझे सब सूना नजर आता है और मुझे वहीं छोड़कर चोरी से मेरा हाथी भी कहीं गायब हो गया है।

एकाकी······धारा सी।

शब्दार्थ—एकाकी=अकेला। निःसंग=संग रहित, एकाकी। निर्जन=सूने। वधूसरा=नदी का नाम। दृगम्बु-धारा=आंसुओं की धारा। पुलोमा=महर्षि भृगु की स्त्री तथा च्यवन की माता।

अर्थ—संगी साथी हीन अकेला मैं सुनसान जंगल में भटकता हुआ, उस स्थान पर जा पहुंचा जहां च्यवन ऋषि के आश्रम के पास से वधूसरा नदी पुलोमा की आँखों के आंसुओं की धारा सी बहती है।

विशेष—दैत्य द्वारा पीड़ित होने पर **'वधूसरा'** पुलोमा के आंसुओं से निकली थी। **'पुलोमा'** महर्षि भृगु की स्त्री तथा च्यवन की माता थी। यह वैश्वानर की कन्या थी।

उर्वशी

च्यवनाश्रम !······जल दे।

शब्दार्थ—हन्त=मारी गई।

अर्थ—(क्या कहा !) च्यवनाश्रम ! हाय मारी गई ! हे अपाले ! मुझे एक घूंट भर जल दे दे।

(अपाला घबरा कर पानी देती है !
उर्वशी पानी पीती है।)

पुरूरवा

देवि ! आप······लगता था।

शब्दार्थ—तरु=पेड़। वसन=कपड़े। कृष्णसार मृग=काली धारियों वाले हिरण। अभय=निडर। वीथि-कुंजों=लताओं के बीच में बने रास्तों। मेघमन्द्र=बादल के गर्जन के (समान)। घट=घड़ा। प्रत्यंचा=धनुष की डोरी। सुभव्य=गरिमामय।

अर्थ—देवि ! आप सहम क्यों गईं ? मैं सत्य कह रहा हूं, वह च्यवनाश्रम ही था। च्यवन ऋषि वृक्ष के ऊपर से अपने सूखे हुए वस्त्र उतार रहे थे। श्याम-वर्ण की धारियों वाले हिरण कुंजों के बीच बनी पगडंडियों में निडर होकर विचरण कर रहे थे। मोर तट पर खड़े होकर बादल की गर्जन के समान घड़ों को भरने की डुग-डुग-ध्वनि को कान लगा कर सुन रहे थे और पास ही एक दिव्य बालक अपनी वीर भुजाओं में धनुष को धारण कर प्रशान्त मन से प्रत्यंचा को माँज रहा था। हाय उर्वशी ! वह बालक मुझे कितना गरिमाशाली लग रहा था, इसका मैं क्या वर्णन करूं ? (अर्थात् वाणी से उसकी सुभव्यता का वर्णन नहीं हो सकता)।

विशेष—(i) तपोवन के सात्त्विक वातावरण का सजीव चित्रण।
(ii) 'उपमा' अलंकार।

उर्वशी

दुर्विपाक······पड़ेगा ।

शब्दार्थ—दुर्विपाक=कुफल, दुष्परिणाम ।

अर्थ—हाय ! यह कैसा दुष्परिणाम है ! कितनी दुर्भाग्य की बात है ! हे अपाले ! ला, थोड़ा सा जल और दे। मेरे प्राणों में (रहस्य की जो) ज्वाला भड़क उठी है वह कण्ठ में आकर अटक गई है। (अर्थात् भरत-शाप की घटना, जो अनन्त काल से मेरे प्राणों में सोई पड़ी थी, वह आज इस स्वप्न को सुनकर पुनः एक प्रज्ज्वलित ज्वाला के समान जाग उठी है मगर दुर्भाग्य की बात है कि मैं इसे अपने प्रियतम को बता भी तो नहीं सकती)। मुझे ऐसा लगता है जैसे आज सम्पूर्ण आकाश में महानाश का नृत्य होगा।

विशेष—(i) उर्वशी के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का चरम विकास।

(ii) 'ज्वाला' शब्द का सुन्दर लाक्षणिक प्रयोग।

(पानी पीती है।)

पुरूरवा

देवि !······रहा था ।

शब्दार्थ—अकारण=बिना किसी कारण के। भीत=डरी हुई। विध्वंस=नाश। स्यंदन=रथ। अबाध=बाधा-रहित।

अर्थ—हे देवि ! आप बिना किसी ठोस कारण के स्वप्न से यों क्यों डर रही हो ? जब मैं तुम्हारे साथ हूं तो भला विध्वंस की क्या मजाल, जो हमारे पास भी फटक जाय। क्या तुम भूल गईं कि मेरा रथ आकाश में भी अबाध गति से उड़ता है। (अतः घबराने की आवश्यकता नहीं, धरती और आकाश में, जहां पर भी प्रलय के आसार देखूंगा वहीं, तुम्हारी आंखों के समक्ष शत्रुओं में त्राहि-त्राहि मचा दूंगा। इसलिए घबराओ मत !) मैं तो केवल ऋषिकुमार के तेज का वर्णन कर रहा था।

उरु दण्ड······शिला हो ।

शब्दार्थ—उरु दण्ड=जंघाएँ। परिपुष्ट=ठोस। मध्य=कमर। कृश=पतली। पृथुल=मोटी। प्रलम्ब=लटकती हुई। उन्नत=ऊँचे उठा हुआ।

अर्थ—(उस ऋषि-कुमार की) ठोस जंघाएँ, पतली कमर, मोटी तथा लटकती हुई लम्बी-लम्बी भुजाएँ और ऊंचा उठा हुआ विशाल वक्षस्थल कितना भव्य लग रहा था ? ऐसा लगता था मानो वह कुमार उषा-विभासित उदय-शैल (पर्वत) की स्वर्णिम चट्टान हो।

विशेष—(i) ऋषि-कुमार के उर्जस्वित अंग-प्रत्यंग का हृदयग्राही चित्रण।

(ii) उत्प्रेक्षा अलंकार।

उफ री······च्यवन का।

शब्दार्थ—पय: शुभ्रता=दुग्ध-धवल। आयत=चौकोर, लम्बे-चौड़े। अलक्ष्य=दाग या निशान-रहित। बिला गया=छुप गया। तिमिर=अन्धकार।

अर्थ—कुमार की आंखों का वर्णन करते हुए पुरूरवा कहते हैं कि उफ ! उस कुमार के दाग-रहित दुग्ध-धवल लम्बे-चौड़े नेत्रों का मैं क्या वर्णन करूं। (उन्हें देखकर) मेरे प्राण, उसे गोद में उठाकर चूम लेने को, व्याकुल हो उठे लेकिन तुरन्त (मन में इस भाव का उदय होते ही) सब कुछ शून्य अन्धकार में समा गया। अब न तो वहाँ पर ऋषि-कुमार था और न ही च्यवन ऋषि की कुटिया थी।

देखा जिधर······हरियाली में।

शब्दार्थ—पुष्प-वृंतों=फूल के गुच्छों। कुसुम-आनन=फूल के समान मुख। प्रहृष्ट=प्रसन्न। सद्यः स्फुटित=उसी समय खिले हुए।

अर्थ—(उसके पश्चात्) मैंने जिस ओर भी अपनी नजर दौड़ाई; जिस किसी टहनी अथवा फूलों के गुच्छे की ओर देखा, उसी ओर सचमुच सद्यः प्रस्फुटित कमल के समान प्रसन्न एवं हंसता हुआ तुम्हारा मुख जगमगा रहा था। लेकिन हाय री विडम्बना ! जिस दिशा में भी मैं उसे स्पर्श करने के लिए आगे बढ़ा वह छलिया पुत्र वहीं फूलों एवं पत्तों की हरियाली में लोप हो गया।

विशेष—'उपमा' अलंकार।

चकित······चुकी थी।

शब्दार्थ—निरस्त=दूर हटाया हुआ, फेंका हुआ। खंड-जलद=बादल के टुकड़े सा।

अर्थ—(इस दृश्य से मैं काफी) चकित, भीत, हैरान और अधीर हो गया। फिर माया के द्वारा फेंका जाने पर मैं अकस्मात् पृथ्वी को छोड़कर उर्ध्वाकाश में उड़ गया। और न जाने कितनी देर तक मैं बादल के खंड-समान (आकाश में) तैरता रहा। जब रात्रि पूरी समाप्त हुई तब मुझे होश आया।

विशेष—'उपमा' अलंकार।

यह बालक······में।

शब्दार्थ—सरल हैं।

अर्थ—पुरूरवा उर्वशी के समक्ष अपनी जिज्ञासाएँ उपस्थित करता है—यह बालक कौन था? और कौन सी माया थी जो मुझे उर्वशी का प्रसन्न मुख डाली-डाली में दिखाकर मुझे छलने आई थी?

महामात्य

बड़े आश्चर्य की बात है!

एक सभासद

अपार विस्मय है!

दूसरा सभासद

यह स्वप्न······कहता हूं।

शब्दार्थ—रूप-ध्यायी=रूप का ध्यान करने वाले। उड्डयन=उड़ना।

अर्थ—यह स्वप्न है या किसी उज्ज्वलता में रमण करने वाले, रूप का ध्यान करने वाले तथा रस में डूबे हुए हृदय की कविता है? मेरे विचार से तो आपका उर्ध्वलोक में उड़ना नैतिक विकास का प्रतीक है। अतः मैं तो इस स्वप्न को आने वाले मंगल की शुभ सूचना मानता हूं।

तीसरा सभासद

शान्ति!······बतलाते हैं।

शब्दार्थ—सरल हैं।

अर्थ—शान्त हो जाइए। सिद्ध, दैवज्ञ ज्योतिषी विश्वमना हिसाब-किताब में लगे हुए हैं। देखें, वे स्वप्न का क्या फल बतलाते हैं।

विश्वमना

हाय, इसी······नहीं है।

शब्दार्थ—निमित्त=हेतु, लिये। गिरा=वाणी। मृषा=झूठ। विमूढ़ =मूर्ख।

अर्थ—(गणना करने के पश्चात् ज्योतिषी विश्वमना कहते हैं—) हाय, क्या मैं यही दिन देखने के लिये जीवित बचा था? महाराज! यदि गणना के आधार पर मैं सत्य कहता हूं तो मेरा कहा हुआ झूठ सिद्ध होता है और यदि झूठ कहता हूं तो मन में यह विचार आता है कि आखिर सत्य बोलकर अब तक मैं जो मान पाता आया हूं वह क्या मृषा बोलकर पा लेता? अतः हे देव! मुझ मूर्ख को आज मौन ही रहने दो क्योंकि गणना के आधार पर जो कुछ मुझे दीख रहा है उसका मेरे सामने कोई भी आधार नहीं है।

विशेष—काव्य में नाटकीय उत्सुकता पैदा करने के लिये मूल बात को छिपा कर उसके लिये पाठक में उत्सुकता पैदा करना।

पुरूरवा

किसका है······कौन कहेगा?

शब्दार्थ—प्रहेलिका=पहेली। उत्कण्ठा=जिज्ञासा।

अर्थ—(विश्वमना की बात से उत्कंठित एवं उद्विग्न हुए पुरूरवा कहते हैं—) किसका आधार लुप्त है? गणित का क्या फल है? (जल्दी बताइये, वरना) यह पहेली चित्त में और अधिक व्यग्रता उत्पन्न कर रही है। आपको जो कुछ भी कहना है सो निस्संकोच होकर कहिए। चाहे गणित झूठ हो मगर आपको कोई भी झूठा नहीं कहेगा।

विश्वमना

वरुण करें······पहना कर।

शब्दार्थ—प्रव्रज्या-योग=संन्यास-योग। किरीट=मुकुट।

अर्थ—हे अग्निदेव! मेरा कल्याण करें! अच्छा महाराज! मैं सच-सच कहता हूं, ध्यानपूर्वक सुनिये। आपकी जन्म-कुण्डली में जो अमिट संन्यास-

योग पड़ा हुआ है वह आज ही अपना फल दिखाएगा। क्योंकि आपकी प्राण दशा में शनि ने प्रवेश किया है और सूक्ष्म में मंगल-ग्रह पड़ा हुआ है। इसके अतिरिक्त जन्म-कुण्डली में जो अन्य योग हैं, उनके अनुसार आप अपने वीर बेटे को राज-पाट, धन-धाम और अपना मुकुट सौंप कर आज संध्या तक प्रव्रजित हो जाएँगे।

पर, विस्मय……सुखकर है।

शब्दार्थ—अनभ्र=बादल (आधार) रहित। अपकीर्ति=अपयश।

अर्थ—लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि वह (अधिकारी) पुत्र आपके यहाँ कब पैदा हुआ है? (विवश होकर) चलो अच्छा है, अगर मेरे मुख पर कालिख पुत जाय। लोग कहेंगे कि वृद्ध हो जाने पर विश्वमना की विद्या मर गयी (मगर) आने वाली इस आधार-रहित विपदा से तो मेरे लिये यह अपयश कहीं ज्यादा सुखकर है। (भाव यह है कि मेरा अपमान तो व्यक्तिगत है, इससे अन्य किसी पर असर नहीं पड़ता लेकिन राजा के प्रव्रजित हो जाने पर तो सारे नागरिकों पर दुःख का पहाड़ टूट पड़ेगा। अतः भगवान मेरी कही हुई बात को झूठ कर दे जिससे प्रजा तो सुख से रहे)।

उर्वशी

आह! क्रूर……नहीं है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

अर्थ—आह! (भरत के) भयंकर शाप! तुम्हारी ज्वाला बहुत प्रबल है। अरी अपाले! मैं इसमें जली जा रही हूं। जल्दी से मुझे थोड़ा सा पानी दे। हे महाराज! (मैंने इस शाप का रहस्योद्घाटन आपके सम्मुख नहीं किया। मुझे क्षमा करें क्योंकि) मुझ किस्मत की मारी का इसमें कोई दोष नहीं है।

(पानी पीती है। दाह अनुभूत होने के भाव।)

पुरूरवा

किसका शाप?…सकती है?

शब्दार्थ—विजन=एकान्त। विपिन=कानन। पुरी=नगरी।

अर्थ—(पुरूरवा व्यग्र होकर कहता है—) (तुम) किसके शाप (का आख्यान कर रही हो ?) कहां की ज्वाला (तुम्हें जला रही है ?) और हे कल्याणी ! (तुमने) कौन सा दोष (किया है ?) आप बार-बार दुःखी होकर अपने आप को हतभागी क्यों कह रही हैं ? गन्धमादन के एकान्त कानन में हम कितने आनन्दित रहते थे ? इसलिये यदि (शापवश) यह नगरी छूट भी गई (तो चिन्ता की क्या बात है ?) हम दोनों वहीं पर चले चलेंगे। तुम तो पता नहीं किस अज्ञात चिन्ता में डूबी जा रही हो। (जरा सोचो) क्या तुम्हें छोड़कर (किसी भी मूल्य पर) मेरी यह देह जीवित रह सकती है ?

(प्रतीहारी का प्रवेश)

प्रतीहारी

जय हो……लगा है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

अर्थ—महाराज की जय हो ! वन से सुकन्या नाम की एक तापसी आयी है। उसके साथ एक ब्रह्मचारी भी है। वह स्वामिनी उर्वशी से मिलना चाहती है।

पुरूरवा

सती सुकन्या……राजा को ?

शब्दार्थ—सती=पतिव्रता। कीर्त्तिमयी=यशस्विनी। भामिनी=स्त्री। पुण्योदय=पुण्य के फलित होने।

अर्थ—(क्या) पतिव्रता सुकन्या (पधारी हैं ?) महर्षि च्यवन की यशस्विनी स्त्री को आदर-सहित ले आओ। मेरा स्वप्न अब फलित हुआ सा लगता है क्योंकि भला बिना पुण्य कर्मों के उदित हुए सज्जन व्यक्ति राजा को कहां मिलते हैं ?

(सुकन्या और आयु का प्रवेश।)

पुरूरवा

इलापुत्र……गुरुकुल में ?

शब्दार्थ—पदों में=चरणों में। महर्षिसत्तम=ऋषियों में श्रेष्ठ। वर्धमती =विकास पर हैं।

अर्थ—मैं इलापुत्र पुरूरवा आपके चरणों में सादर नमस्कार करता हूं। हे देवि ! महर्षिश्रेष्ठ (च्यवन) की तपस्या तो ठीक चल रही है न ? आश्रम में तो किसी प्रकार का विघ्न नहीं है ? अरण्य-गुरुकुल में तो सब कुशल-क्षेम है ?

सुकन्या

जय हो······पिता हैं।

शब्दार्थ—पितृ-गेह=पिता के घर। सुयोग=अवसर। न्यास=धरोहर, अमानत। सक्षेम=कुशलतापूर्वक।

अर्थ—(राजा से—) राजा, आपकी जय हो। वहां पर सब कुशल हैं। (उर्वशी से—) उर्वशी ! आज अचानक ही महर्षि कहने लगे कि आयु को आज ही अपने पिता के घर जाना है। अतः आज ही, जैसे-तैसे सायंकाल तक इसे अपने माता-पिता के पास पहुंचाना होगा।

इसलिये मैं इसे अचानक ही ले आयी क्योंकि न तो पूर्व सूचना देने का ही कोई अवसर था और न ही इसको रोक रखने का कोई उपाय था। हे सखी ! सोलह वर्ष पूर्व तुमने मुझे जो धरोहर सौंपी थी उसे मैं कुशलतापूर्वक तुम्हें लौटा रही हूं।

(आयु से—) बेटा ! यही तुम्हारी मां हैं और ये देव तुम्हारे पिता हैं, इन्हें प्रणाम करो।

(आयु पहले उर्वशी को, फिर पुरूरवा को प्रणाम करता है। पुरूरवा उसे छाती से लगा लेता है।]

पुरूरवा

महाश्चर्य !······गया है॥ पृ० १४१-४२॥

शब्दार्थ—अघटन=न घटने वाली। अपत्य=संतान, पुत्र। त्राता=रक्षक। पुं=पुरुषत्त्व। अमृत-अभ्र=रससिक्त बादल। अनभ्र=शून्य, बादल-रहित। पौरजनों=नगर के निवासियों। अबाध= कभी न रुकने वाला। संज्ञा= होश, चैतन्य। विक्षिप्त=पागल। आनंद-कंद=आनन्द के फल। आलोक= प्रकाश।

अर्थ—बड़े आश्चर्य की बात है। यह तो ऐसी घटना घटी जिसके घटने की कभी कल्पना भी नहीं थी। ईश्वर की लीला भी कितनी अपूर्व एवं अद्भुत है। अरे! यह सब कुछ सचमुच ही सत्य है या मैं फिर कोई स्वप्न देख रहा हूं।

अब (उर्वशी से—) हे देवि! देखो, अब मैं पुत्रवान् हो गया। यह मेरा पुत्र है। मेरा भी रक्षक इस धरती पर पुरुषत्व धारण कर जन्म ले चुका है।

(अपने आप से—) अकस्मात् ही यह इकट्ठा किया हुआ पुण्य कैसे प्रकट हो गया? मेरे सूने हृदय में यह रस-सिक्त बादल कैसे बरस पड़ा?

(प्रतीहारी से—) अरे, सारे नगर में घोषित कर दो कि मैं पुत्रवान् हो गया हूं (और इस खुशी में) जो जहां पर है, उसे मेरे पास आने की आज्ञा दे दो।

खजाने का दरवाजा खोल दो और नगर-निवासियों से कह दो कि वे आकर जितना चाहें उतना सुवर्ण ले सकते हैं।

ऐल वंश के महान मंच पर आज नया सूर्य उदित हुआ है। अतः पुत्र-प्राप्ति के इस अनुपम एवं शुभ अवसर पर निर्बाध गति से उत्सव होने दो।

(प्रसन्नता से विह्वल होकर—) मैं पुत्रवान् हूँ! अरे, आओ! कोई मुझे संभालो! मेरी चेतना को होश में लाओ! नहीं तो, मैं अविकल हर्ष से पागल सा हुआ चला जा रहा हूं।

(पुत्र से—) अरे मेरे पुत्र! तेरा स्पर्श अमृत के समान है। मेरे नेत्रों के लिए आनन्द-कंद है! प्राणों का प्रकाश है। आह! अब तक तुम कहाँ छिपे हुए थे।

(उर्वशी से—) हे देवी! यह ऐल वंश का दीपक कब उत्पन्न हुआ था? और तुमने निष्ठुर बनकर अब तक इसे क्यों छिपा रखा था। हाय! (तुम्हारे न बताने से) मैं कितने बड़े सुख को भोगने से वंचित रह गया हूं।

उर्वशी

अब से······पावक से।

शब्दार्थ—पुत्रेष्टि-यज्ञ=पुत्र की इच्छा का यज्ञ। यज्ञिय=यज्ञ के निमित्त।

पावक=अग्नि, वीर्य ।

अर्थ—हे देव ! आज से सोलह वर्ष पूर्व जब आप पुत्रेष्टि-यज्ञ के निमित्त अपना पावन एवं विशिष्ट जीवन बिता रहे थे उस समय मुझ में आपके द्वारा स्थापित तेज-पुंज वीर्य से च्यवन ऋषि की तपोभूमि में मैंने आयु को जन्म दिया था ।

किन्तु छिपा······जाता है ।

शब्दार्थ—पुत्रेच्छु= पुत्र की इच्छा रखने वाले ।

अर्थ—किन्तु हे देव ! पुत्र की इच्छा वाले आपसे मैंने इस सहस्य को क्यों छिपा कर रखा था, इसके उद्घाटन का समय अब मेरे पास नहीं है क्योंकि ऐसा लग रहा है जैसे कोई मेरे प्राणों को लोहे के अंकुश से बेध रहा है और मुझे जबरदस्ती इस जगती से कहीं दूर खींच कर लिए जा रहा है ।

पुरूरवा

अच्छा, जो······खड़ा हो ?

शब्दार्थ—वपुमान्=शरीरधारी ।

अर्थ—अच्छा,जो रहस्य है उसे रहस्य ही बना रहने दो । अपने इस रहस्य को उद्घाटित करने की अभी कोई जल्दी नहीं है क्योंकि तुम्हारा यह रहस्य शरीर धारण करके मेरे सामने ही खड़ा हुआ है ।

सभासदो !······गया था ।

शब्दार्थ—पुंगव=श्रेष्ठ । उदग्र=व्याकुल । अंक=गोद ।

अर्थ—हे सभासदो ! कल रात स्वप्न में मैंने इसी श्रेष्ठ वीर को बन में प्रत्यंचा मांजते हुए देखा था । और व्याकुल होकर ज्योंही मैं इसे अपनी गोद में भरने के लिए इसकी तरफ दौड़ा था तब यह दुष्ट मुझे छलावा देकर लता-कुंजों में लुप्त हो गया था ।

किन्तु, लाल !······बन्धन है ।

शब्दार्थ—प्रसुप्त=सोए हुए ।

अर्थ—किन्तु हे लाल ! अब भला तुम मेरे आलिंगन-पाश से कैसे भाग सकोगे ? क्योंकि ये दृढ़ भुज-बन्धन प्रसुप्तावस्था के नहीं अपितु जगे हुए के हैं ।

आयु

अब तक······पिया है।

शब्दार्थ—वियुक्त=अलग। अंक=गोद। तात=पिता। निमित्त=हेतु, लिए। उपोषण=उपवास, व्रत।

अर्थ—यह क्या कम विपदा की बात है जो मैं अब तक आपकी गोद से अलग रहा। हे तात! (भला विचारिए) आपकी (स्नेहमयी) छाया छोड़कर भला मैं किसके लिए भागूँगा? जब से जन्म ग्रहण किया है तब से धर्म का पालन करना ही मेरे प्राणों का व्रत रहा है। हे पिताजी! यद्यपि अब तक मुझे तापसी मां (सुकन्या) का प्यार मिलता रहा है लेकिन फिर भी मेरा हृदय (माता-पिता के अंक में समा जाने की) भूख और प्यास से बहुत विकल है।

पुरूरवा

रुला दिया······पाने से?

शब्दार्थ—तृषित=प्यासा। क्षीर=दूध।

अर्थ—हे मेरे चांद! अपनी व्यथा कह कर तुमने तो मुझे रुला दिया। (उर्वशी से) हे देवि! (देखो) मां की छाती का दूध तथा पिता का स्नेह न पाने से हमारा लाल कितना प्यासा रहा है?

[उर्वशी अदृश्य हो चुकी है।]

महामात्य

महाराज!······स्वामी के?

शब्दार्थ—सरल हैं।

अर्थ—महाराज! बड़े आश्चर्य की बात है? देवी उर्वशी, जो अब तक आपके पास खड़ी थी, यह वहां पर नहीं है, न जाने कहां चली गई?

पुरूरवा

क्यों जायगी!······आने को।

शब्दार्थ—श्रान्त-चित्त=उदास। स्यात्=शायद।

अर्थ—क्यों? भला इस अमित आनन्द को छोड़ कर वे कहां जाएँगी, किन्तु अभी वे कुछ उदास तथा थकी हुई सी लगती थीं। जाकर देखो, शायद

थोड़ा सा शीतल, स्वच्छ एवं प्रसन्न वायु में घूमने के लिए प्रमद उपवन में चली गई हों।

सुकन्या

वृथा यत्न······सुषमा से

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—अब सारे प्रयत्न करने बेकार हैं क्योंकि उर्वशी राजभवन में नहीं है। वह आपके महत प्रेम के आकर्षण में निबद्ध होकर जहां से भूतल पर आई थी, वहीं पर पुनः लौट गई। आज वसुधा चिर-नवीन लगने वाले सौन्दर्य से वंचित हो गई।

महाराज······दिया था।

शब्दार्थ—चक्षुराग = दर्शन-प्रेम। विलोल-हृदया = चंचल चित्त वाली। कुपित = क्रोधित। दारुण = भयंकर।

अर्थ—हे महाराज! उर्वशी सामान्य नारी न होकर एक अप्सरा थी जब उसका आपसे चक्षुराग हुआ तब उस चंचल-हृदया ने किसी कारण से महर्षि भरत को क्रोधित कर दिया और तब स्वयं भरत ने ही उसको भयंकर शाप दिया था—

"भूल गई······तनय को।"

शब्दार्थ—सरल हैं।

अर्थ—"हे उर्वशी! जिसके स्वरूप-चिन्तन में डूब कर तुम अपने कर्त्तव्य तक को भूल गई हो, जाओ, तुम भूतल पर जाकर उसी की प्रेयसी बनो किन्तु, गृहस्थी के सभी सुख तू नहीं पा सकेगी। पुत्र और पति दोनों को तुम नहीं पा सकतीं। या तो तुम पुत्र को ही पा सकोगी या केवल अपने पति का ही सुख भोग सकोगी। हे! अहंकारिणी। वह सुख भी तू केवल तभी तक प्राप्त कर सकती है जब तक वह तुम दोनों के परस्पर संयोग से उत्पन्न पुत्र को नहीं देख पाएगा।"

वही शाप······पिता से।

शब्दार्थ—उद्यत = तैयार। परिजन = बन्धुओं।

अर्थ—आज वही शाप अपना फल दे गया और उर्वशी पुनः इन्द्रपुरी में चली गई। हे महाराज! (आप सोचते होंगे कि यह दृश्य देखकर मुझे

विस्मय क्यों नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि) मैं तो इस घटना के लिए पहले ही अपने को तैयार करके लाई थी क्योंकि मैं जानती थी कि आपके द्वारा 'आयु' के देखते ही भरत-शाप गर्जन कर उठेगा और उर्वशी इस पृथ्वी पर नहीं रहेगी। लेकिन अब आप ही सोचिए। आखिर आयु को हम कब तक उसकी जाति, वंश, सौभाग्य, गोत्र तथा बान्धवों एवं पिता से अलग रख सकते थे ?

हुआ वही······प्यासा है।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—जो कुछ पूर्वनिश्चित था वही हुआ। अतः हे महाराज! इस विषय पर प्रायश्चित करना व्यर्थ है। अब तो जो कुछ आपसे आयु मांग रहा है वही दीजिए। सचमुच ही इस बेचारे का हृदय बहुत प्यासा है।

(पुरूरवा आयु से अलग हो जाता है)

पुरूरवा

चली गयी ?······ममता थी।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—तो क्या उर्वशी स्वर्गलोक को चली गई ? मेरे लिये सब सुनसान हो गया ? मैं विरही वंचित रह गया ? देवों को मेरे लिये बस इतनी ही ममता थी।

लाओ मेरा······बाणों की।

शब्दार्थ—गगन-जयी=स्वर्ग को जीतने वाला। स्यन्दन=रथ।

प्रसंग—उर्वशी के चले जाने पर पुरूरवा का पौरुष देवों के प्रति विद्रोह कर उठता है और वह स्वर्ग में देवताओं को परास्त करने के हेतु जाने को उत्सुक हो उठते हैं।

अर्थ—मेरा धनुष लाओ और आकाश को जीतने वाले मेरे रथ को सजा दो। आज देवताओं का मित्र नहीं अपितु शत्रु बनकर मुझे इन्द्रपुरी में जाना है और यह दिखाना है कि किसका तेज अधिक प्रबल है—भरत के शाप अथवा पुरूरवा के तीक्ष्ण बाणों का ?

कहां ······बाणों से ।

शब्दार्थ—रत्नसानु=रत्नों वाले पर्वत । कनक-कन्दरा=सोने की गुफा । प्रलय-दीप्त=प्रलय की तरह प्रज्ज्वलित ।

अर्थ—देवता मेरी प्रियतमा उर्वशी को कहां छिपा कर रखेंगे ? यदि वे उसे रत्नकूट पर्वत की स्वर्ण-गुफा में छुपायेंगे तो मैं उस पर्वत को सोने की धूल बना कर धरती पर बिखेर दूंगा । मनुष्य (पुरूरवा) के प्रलयंकारी बाणों से वह सर्वथा छिन्न-भिन्न हो जायेगा ।

दिव के······छिपी है ।

शब्दार्थ—दिव=दिन । वियल्लोक=विस्तृत प्रकाश । अरुद्ध=निर्विरोध, अप्रतिहत । शम्पा=बिजली ।

अर्थ—यदि वे (देवता) उसे (उर्वशी को) दिन के विपुल प्रकाश में छाये स्वर्ण-मेघों में विलीन कर देंगे तो मेघों के हृदय में अप्रतिरुद्ध बिजली की तरह मेरा विमान देवताओं के प्राणों को कंपाता हुआ घुस जायेगा । और एक-एक मायावी बादल के पर्दे को उलट कर मैं खोज निकालूंगा कि उर्वशी कहां छिपी है ?

लाओ······संगर का ।

शब्दार्थ—प्रखर=तीक्ष्ण । वन्हिमय=आग उगलते । विशिख=बाण । दृप्त=अभिमानी । मघवा=इन्द्र । नैवेद्य=मीठा, आमन्त्रण । संगर=युद्ध ।

अर्थ—लाओ मेरा धनुष कहां है ? यहीं से अम्बर में बाण संधान कर मैं देवताओं के नन्दन-वन में आग लगा दूंगा । जलते हुए तथा आग उगलते हुए तीक्ष्ण बाण छोड़कर मैं अभिमानी इन्द्र को आज ही मनुजों के विरुद्ध युद्ध करने का निमन्त्रण भेजता हूं ।

और सिन्धु······मथा था ।

शब्दार्थ—विकराल=भयंकर । सैन्य=सेना । पराभूत=पराजित ।

अर्थ—और यदि देवों ने उर्वशी को वहीं समुद्र में छिपा दिया, तो तुम विकराल सेना सजाओ । हम आज महासागर को मथ कर हिला देंगे । हमसे

पराजित होकर सागर उन सभी मणि तथा रत्नों को उगल देगा, जो देवों तथा राक्षसों के समुद्र-मन्थन के समय से अब तक उसमें जुड़ पाये होंगे।

और उसी······निकला था।

शब्दार्थ—मोहिनी=मुग्धकारी।

अर्थ—और उसी मथने के क्रम में लहरों के आसन पर बैठी एक बार फिर उर्वशी सागर से निकल आयेगी। जिस प्रकार वह पहले भी भोर की मनमोहिनी प्रभा सारे लोकों में बिखेरती हुई समुद्र के भीतर से प्रकट हुई थी।

भूल गये······प्राणप्रिया हूँ।

शब्दार्थ—अमित=अगणित, असीम। आप्रलय=प्रलय-काल तक।

अर्थ—आज शायद देवता इस बात को भूल गये हैं कि मैंने अनेकों बार राक्षसों की प्रचण्ड शत्रुता का सामना कर उन्हें (देवों को) रण में विजय दिलवाई थी। लेकिन इस बार जब मैं नाश बनकर स्वयं उन पर टूट पड़ूंगा, तो वे प्रलयान्त तक मेरे तीक्ष्ण बाणों की जलन को नहीं भुला पायेंगे। और वे इस बात को भी स्वीकार कर लेंगे कि उर्वशी चाहे कहीं भी क्यों न उत्पन्न हुई हो, वह देवों की अप्सरा नहीं है अपितु मेरी, पुरूरवा की पत्नी है।

उठो······प्यारे हों।

शब्दार्थ—पटह=नगाड़े। पौर-जन=पुरवासी, नगर-वासी।

अर्थ—आज सभी युद्ध के नगाड़े बजाकर लड़ाई के लिये सन्नद्ध हो जायें। नगर-निवासियों से कह दो कि उनका प्रिय स्वामी आज स्वर्ग से युद्ध ठान रहा है, जिसे अपने प्राणों का रंचमात्र भी मोह न हो वह मेरे साथ चले।

महामात्य

महाराज······गये थे।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—महाराज! आप शान्ति धारण करें। आपका यह क्रोध अनुचित

नहीं है, सार्थक ही है। तारा की बात को लेकर पहले भी देवताओं और राक्षसों में दो पक्ष धारण कर भयंकर युद्ध हुआ था और उस युद्ध में भी देवताओं को मुंह की खानी पड़ी थी।

विशेष—तारा—यह बृहस्पति की द्वितीय पत्नी थी। एक बार राक्षसों और देवताओं में इसी को लेकर युद्ध हुआ था जिसमें देवताओं की हार हुई थी!

वह सब······सेना में।

शब्दार्थ—इष्ट=ध्येय।

अर्थ—फिर वही होगा यदि स्वामी का ध्येय ऐसा ही रहा तो अर्थात् फिर देवताओं को हार खानी पड़ेगी। किन्तु, यद्यपि यह युद्ध मनुष्यों और देवों में होगा फिर भी राक्षस इस अद्भुत-अवसर पर अलग नहीं रहेंगे वे निश्चय ही देवताओं के विरुद्ध मानवों का साथ देंगे।

सुरता······रहे हो?

शब्दार्थ—सुरता=देवत्व। ध्वंसन=नाश। बूते=बल।

अर्थ—क्योंकि राक्षसों को देवों के नाश से बढ़कर अन्य कुछ भी प्रिय नहीं है और जहां मनुष्य और राक्षस एक साथ मिलकर उनसे लड़ेंगे वहां उन देवों के पांव किस शक्ति के बल पर टिक सकेंगे। अर्थात् उनकी पराजय निश्चित है।

इस संगर······संगति में।

शब्दार्थ—अपूत=अपवित्र।

अर्थ—महाराज! इस युद्ध में हमारी विजय तो निश्चित है लेकिन हमें यह अवश्य सोचना है कि देवों से वैर बांध लेने पर कहीं हम राक्षसों की अपावन सगति में न पड़ जायें।

नर का······किया है।

शब्दार्थ—उपयोग=प्रयोग।

अर्थ—मनुष्य का शृंगार केवल जीत मात्र नहीं है अपितु उसकी विजय तो उज्ज्वल चरित्र ही है। नीतियाँ यही कहती हैं कि जिसे भी तुम विजयी

समझते हो उसकी विजय के उन सारे प्रकट अथवा गुप्त प्रयत्नों की जाँच पहले अवश्य कर लो जिनका प्रयोग उसने विजयोपलब्धि करने के समय किया था।

डाल······घबराता हूं।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—महाराज मैं देवों से इसीलिये घबराता हूं कि कहीं उनकी शत्रुता हमें राक्षसों के हाथों में न डाल दे अर्थात् हम कहीं राक्षसों से मित्रता कर दनुजत्व को ग्रहण न कर लें।

पुरूरवा

कायरता······दूषण का।

शब्दार्थ—भीति=भय। सचिव=मंत्री। मिथ्या=झूठा। वसन=वस्त्र। दनुज-संगति-कल्पना-जन्य=राक्षसों की संगति की कल्पना से उत्पन्न।

अर्थ—महामन्त्री! यह कायरता की बात है। वास्तव में तुम्हारे मन को इन्द्र के कठोर वज्र तथा देवों की माया का भय सता रहा है। लेकिन तुम ऊपर से राक्षसों के साथ की कल्पना से उत्पन्न दोषों के झूठे आवरण को ओढ़कर उस भय को छिपाने का प्रयत्न कर रहे हो।

जब मनुष्य······कम हैं?

शब्दार्थ—दरक=दहल, हिल जाना, बैठ जाना।

अर्थ—मनुष्य जब आलोड़ित होकर विद्रोह की वाणी में चीखता है तो आकाश का हृदय दहल जाता है। उसकी तपस्या की ज्वाला में इन्द्र का हृदय भी कांप जाता है। ओह! अगर कहीं मनुष्य क्रोधित होकर प्रलय का आमन्त्रण कर बैठे तो स्वर्ग टूटकर धरती पर आ जाये। हम मनुष्यों की शक्ति कम नहीं है फिर हम देवताओं की सहायता क्यों मांगें।

बजे······मरण है।

शब्दार्थ—द्रुत=शीघ्र।

अर्थ—युद्ध के बाजे बजाये जायें। शीघ्र ही युद्ध का साज सजाओ। यह अपमान सहा नहीं जाता। इससे मृत्यु अधिक श्रेयस्कर है।

[नेपथ्य से आवाज आती है।]

पीना होगा······अमलिन है ?

शब्दार्थ—गरल=विष, जहर। अमलिन=पवित्र।

अर्थ—(पुरूरवा जब इस प्रकार रौद्र रस से आप्लावित होकर देवताओं के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर रहा था उस समय आकाशवाणी (नेपथ्य) होती है—)

हे पुरूरवा ! सावधान, तुम्हें यह गरल पान करना होगा और इस विषम पीड़ा को भी सहन करना पड़ेगा क्योंकि देवताओं के साथ युद्ध करने में तुम्हारा किसी भी दशा में हित नहीं है। जानते हो देवता किसे कहते हैं ? वे मानव के शुद्ध एवं श्रेष्ठ रूप हैं जिन्होंने अपने मलों का विरेचन कर लिया है। तो क्या तुम आज मानव के इसी श्रेष्ठ रूप से युद्ध करना चाहते हो ? या उससे (युद्ध करना चाहते हो) जो तुम्हारा रूप अभी दानवी एवं दुष्ट-स्वरूप धारण किये बैठा है ?

पुरूरवा

यह किसका······नभ में।

शब्दार्थ—यवनिकाओं=पर्दों। घटित=घट रहा है, हो रहा है।

अर्थ—यह किसका स्वर है ? इन पर्दों की ओट में कौन छिपा बैठा है। (बड़े आश्चर्य की बात है कि) आज जो कुछ भी घटित हो रहा है वह स्तम्भित करने वाली घटना है। बड़ी अनोखी बात है ! आखिर तुम कौन हो जो इतने सूक्ष्म विचार मेरे समक्ष बोल रहे हो ? तुम कहाँ छिपे हो, धरती में या आकाश में ?

[नेपथ्य से आवाज़]

मैं प्रारब्ध······अतल से।

शब्दार्थ—प्रारब्ध=भाग्य। प्रताप=यश। अतल=तल-रहित।

अर्थ—मैं चन्द्रवंश का भाग्य तथा तेरा संचित किया हुआ पुण्य हूं जो तेरे ही प्राणों की अतल गहराई से बोल रहा हूं।

अनुचित नहीं······जाती है ?

शब्दार्थ—क्षणभंगुर=पल भर में नष्ट होने वाली। अनुत्पन्न=जो अभी पैदा नहीं हुए हैं। शत-सहस्र=लाखों। बिम्ब=प्रतिच्छाया।

अर्थ—क्या पल भर में नष्ट होने वाली वर्तमान की इस विजय का अभिमान करना अनुचित नहीं है ? क्या तुमने कभी अपने दिल की गहराई में डूब कर कभी इस विषय पर चिन्तन किया है कि तेरे द्वारा किए गए वर्तमान-कर्म पर आगे आने वाले लाखों प्राणियों का भविष्य निर्भर है ? (यदि तुमने वर्तमान में इतना गर्हित कर्म किया तो) अनुत्पन्न लाखों व्यक्तियों के मुखमण्डल पर तुम्हारी कौनसी छाया,प्रतिच्छाया अथवा प्रतिबिम्ब पड़ेगा ?

जैसे तूने······करेंगे ।

शब्दार्थ—प्रणय-तूलिका=प्रेम की कूंची । लौह-विशिखों=लोहे के बाणों ।

अर्थ—जिस प्रकार तुमने प्रेम की कूंची तथा लौह के बाणों से अपने जीवन का ओजस्वी वृत्त लिखा है, उसी प्रकार कल को आने वाली चन्द्रवंश की विपुल सन्तति भी लौह तथा वासना से समन्वित होकर (जीवन-प्रांगण में) नर्तन करेंगे ।

अतुल पराक्रम······जनमे हैं ।

शब्दार्थ—ताराहर=नक्षत्रों की ज्योति को मन्द करने वाले ।

अर्थ—तुम्हारे द्वारा किए गए अतुल पराक्रम के प्रकाश में भी यह बात छिपाए नहीं छिपेगी कि ये मनुष्य (जो आज लौह-विशिखों का नृशंस प्रयोग कर रहे हैं) ताराहर शशि के विलास में जन्मे हैं ।

चिन्तन कर······रही हैं ।

शब्दार्थ—निक्षेप=चिन्ह, रखना ।

अर्थ—तुम विचारपूर्वक सोचकर यह जान लो कि तुम्हारे एक-एक क्षण की चिन्ता से सुदूरव्यापी भविष्य का मनुष्य जन्म ले रहा है । अपना चरण उठा कर तुम यह सोच लो कि तुम्हारे एक-एक चरण-न्यास की ध्वनि भविष्य के कानों में गूंज रही है ।

विशेष—भाव मिलाइए—

"युगों की चट्टानों पर सृष्टि, डाल पद चिन्ह चली गम्भीर ।
देव, गन्धर्व असुर की पंक्ति, अनुसरण करते उसे अधीर ॥"

कामायनी : श्रद्धा : ५६

और प्रेम······सकता था ?

शब्दार्थ—आराधन=पूजा । लावण्य=सौन्दर्य । रमामुख=लक्ष्मी का मुख । आलोक-पुंज=प्रकाश-पुंज ।

अर्थ—और तुम्हारा यह प्रेम (जो इस समय इतना रौद्र रूप धारण किए हुए है) अरुणा की अश्रुधारा क्यों नहीं बना ? उन दिव्य देवताओं की अर्चना क्यों नहीं बना, जो नारी के सौन्दर्य अथवा लक्ष्मी के प्रकाश-मण्डल में छिपे हुए हैं अथवा वह जीवन का अखण्डित प्रकाश-पुञ्ज क्यों न बन सका जिसको लेकर उर्ध्वलोक में तू और भी ऊंचा उठ सकता था ?

अरुण अधर······स्रवण से ।

शब्दार्थ—अरुण-अधर=रक्तिम ओष्ठ । कुसुमासव=मकरन्द । घूर्ण=आलोड़ित । माया-मनोज्ञ=मायाविनी,सुन्दर । आकटि=कमर तक । समन्त=सीधी । शिखा=ज्वाला । मदन=कामदेव । वक्ष=उरोज । प्रतीप=उलटा । त्रिबली=पेट पर पड़ी हुई तीन रेखाएं । स्वर्ण-सरसी=स्वर्णिम तालाब । श्लथ=शिथिल । विक्रमी=बहादुर, वीर । मरीचिका=माया, तृष्णा, धोखा । पृथुल=परिपुष्ट । परिणत=कोमल । विविक्त=उन्मुक्त । जघन=जंघाएं । ध्वस्त=नष्ट । हत-विक्रम=जिनका तेज नष्ट हो गया हो । असृक्-स्रवण=ऋतुमती स्त्री का मासिक धर्म के समय होने वाला रक्त-स्राव ।

प्रसंग--प्रस्तुत पंक्तियों में कवि स्त्री के मांसल शारीरिक सौन्दर्य का अत्यन्त उन्मुक्त एवं कामोद्दीपक श्रृंगारपूर्ण वर्णन कर अनन्य विक्रमी पुरुषों के उसकी मोहिनी मरीचिका में फंसकर हत-विक्रम होने का काव्यमय वर्णन करता है ।

अर्थ—रक्तिम अधर, अरुणिम कपोलद्वय, आंखों में कामुक मद के आलोड़न आदि से युक्त मायामयी सुन्दर ललना रूपी प्रतिमा का मदोन्मत्त आमन्त्रण कितना असहनीय होता है ? गर्दन से कमर तक निष्कम्प कामदेव की जलती हुई प्रचण्ड शिखा सी सम्पूर्ण त्वचा में सौन्दर्य की छाया का आलोड़न लिए अपने उलट कर रखे हुए कमलों जैसे उरोजों पर मूंगे सरीखे दो कुचाग्रों से परिशोभित और स्वर्ण-मंडित तड़ाग में उठती हुई लहर के समान त्रिबली से युक्त नारी रूपी मरीचिका को अपने आलिंगन में समेट कर रखने के लिए किन शौर्यवान पुरुषों की भुजाएं शिथिल नहीं पड़ जातीं ?

कौन ऐसा वीर है जो परिपुष्ट मधुरिम आवाहन करती हुई मंजुल मसृण उन्मुक्त नग्न जंघाओं पर आकर मधुमय मासिक रक्त-स्राव की सुगन्ध से अपने विक्रम को न गंवा बैठा हो ? सौन्दर्य के लीलामय संचरण से ध्वस्त न हो गया हो !

जिसने भी······पाने को ।

शब्दार्थ—व्रण=घाव । शोणितमय=रक्तपूर्ण ।

अर्थ—(इस ससार में जिसने भी प्रेम किया है वह प्रेम-कर का शोणितमय तिलक धारण किए तथा अपने विदीर्ण प्राणों में घावों को संजोए चल रहा है। और, प्रेम की यह चोट जिसे जितनी अधिक गहरी लगी है, जिसका घाव जितना अधिक गहरा है, वह उतना ही पीड़ा की मुक्ति पाने के लिए कम बेचैन रहता है। अर्थात् प्रेम के प्राबल्य में जो व्यथा होती है वह तो अमित आनन्द प्रदान करने वाली होती है। उसे तो व्यक्ति संजोकर अपने दिल में रखना चाहता है, फिर भला तुम इस व्यथा-मुक्ति के लिए क्यों उतने बेचैन हो रहे हो ? इसका तात्पर्य यह है कि तुम्हारे हृदय पर अभी तक प्रेम का घाव गहरा नहीं लगा है ।

नारी के भीतर······पत्थर की ।

शब्दार्थ—किंचित=कुछ । सलिल-धार=जल की धारा । महीध्र= पर्वत ।

अर्थ—क्या तुमने कभी सोचा है कि नारी के भीतर भी जो एक असीम नारी है, पुरुषों में उसकी रक्षा कौन करेगा ? उनकी रक्षा केवल वही कर सकता है जो सामान्य पुरुष न होकर पुरुष से कुछ अधिक तत्त्व धारण किए हुए है। (वह पुरुष) जिसके हृदय में (प्रेम की) मीठी धारा बहती हो ; प्राणों में पर्वत के समान दृढ़ता हो ; उंगलियां कलियों के समान कोमल हों तथा जिसकी मुट्ठियां पत्थर के समान ठोस हों ।

विशेष—हृदय सलिल-धार के समान इसलिए कि उसमें प्रेम की निर्मल धारा सदैव प्रवाहित होती रहे ; पर्वत इसलिए कि वह प्रेम के मामले में सदा दृढ़ रहे ; कोमल उंगलियां इसलिए कि प्रेमिका को सहलाती रहें और पत्थर की मुट्ठियाँ इसलिए कि गाढ़ आलिंगन में प्रेयसी को जकड़ सके ।

कह सकता······चिनगारी भी ।

शब्दार्थ—पुरुषाधिक=पुरुष से अधिक । शिलोच्चय=शिला से भी ऊंचा । शिखर-शैल=पर्वत की चोटी । प्रवात-ताड़न=आंधी के प्रताड़न से ।

अर्थ—हे पुरूरवा ! क्या तू बता सकता है कि क्या तुम पुरुषाधिक वही पुरुष हो (जिसका मैंने ऊपर वर्णन किया है ?) (यदि नहीं जानते तो) फिर हृदय के सामान्य धरातल से ऊपर उठकर शिखर-शैल के समान मानस की उच्चावस्था में स्थित होकर देख कि तू प्रेम के पथ पर अचल रूप से खड़ा हुआ है या तेज हवा के झोंकों से प्रताड़ित होकर इधर-उधर डोल रहा है ? यह भी देख तेरी भुजाओं में कुसुम सी कोमलता है या वे वज्र की शिला के समान ठोस भी हैं ? भुजाओं में फूल ही फूल धारण किए हुए हैं या कुछ पावक-शलाकाएं भी हैं ?

विपद् व्याधिनी……चिल्लाकर ।

शब्दार्थ—विपद् व्याधिनी=विपत्ति में पीड़ित करने वाली । त्रिया= नारी । मनोज्ञ=मनोहर ।

अर्थ—हे पुरूरवा ! क्या तुझे (उर्वशी को छोड़ कर) अभी तक विपद् व्याधिनी मिली थी ? जब तूने ज्योतिषी जी से अपना भविष्य पूछा था तब उसने क्या बतलाया था ? नारी एक मनोहर छलना है । जब उसका हृदय चाहता है तो कण्ठ फाड़-फाड़ कर चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगती है और पुरुष (उसकी मनोज्ञ छलना पर) मग्न होकर हंसता रहता है ।

पूछ रहा……दिशा में ।

शब्दार्थ—अंगदिर=अंगों को जानने वाला । गणक=गणना करने वाला, ज्योतिषी । उपवेशित=बैठकर ।

अर्थ—(हे पुरूरवा !) तुम अपने विषय में अंगदिर, गणक ज्योतिषी से क्या पूछ रहे हो ? जरा अपने हृदय को चीर कर देखो ? तुम्हारे समाधान की ताली उसी में पड़ी हुई है । तुम जरा अपने अन्तर्मन को जगा कर पूछो । वह तुम्हें जिस दिशा में भी जाने को संकेत करे उसी दिशा का अनुसरण कीजिए । निश्चय ही तुम्हें मनःशान्ति मिलेगी ।

बिना चुकाये……पचा कर ।

शब्दार्थ—सरल है ।

अर्थ—(अपने कर्मों का) पुराना मूल्य चुकाए बिना भला कौन जगत में सुख ग्रहण कर सकता है ? हे पुरू ! तेरे पर अपार जीवन का जो शेष ऋण बचा हुआ है उसे बचा कर तू किसी प्रकार भी जाग नहीं सकता अर्थात् उसका मूल्य तुझे चुकाना ही पड़ेगा ।

नहीं देखता······क्षणों का ।

शब्दार्थ—सरल है ।

अर्थ—हे पुरूरवा ! देख तेरे सामने जो आंखों को तरेरे हुए खड़ा है वह और कोई नहीं तेरा ही जीवन है । आज तक इसका आधार लेकर जो कुछ भी संचित किया है उसका मूल्य इन्हीं क्षणों में तुझे गिन-गिन कर चुकाना होगा ।

पर, कैसे ?······निदिध्यास है ।

शब्दार्थ—उड्डयन=उड़ान । विभा=ज्योति । निदिध्यासन=ध्यानावस्थित समाधि ।

अर्थ—लेकिन यह मूल्य कैसे चुकाएगा ? क्या स्वर्ग में जाकर उर्वशी को पुनः धरातल पर लाएगा ? अथवा मन के महाकाश में, जहां न कोई कामिनी नारी है, न (पार्थिव) प्रेम की कामना है अपितु परमज्योति की छाया, प्रार्थना एवं ध्यानावस्थित समाधि का साम्राज्य है, उज्ज्वल प्रेम के बलशाली पंखों द्वारा असीम उड़ान भरेगा ।

खोज रहा······पड़ी है ।

शब्दार्थ—अवलम्ब=आश्रय । द्विधा=द्वैत ।

अर्थ—क्या तुम इस धरती की वासना में ही आश्रय ढूंढ़ना चाहते हो ? किन्तु इस आश्रय का इस द्वैत भरी ज्वलित जगती में कोई उत्तर नहीं है । मैं फिर वही बात कहता हूं (कि यदि तुम मुक्त होना चाहते हो तो) अपने अन्तर में झाँक कर देखो । समाधान रूपी ताली तुम्हें इसी के अन्तस में मिलेगी ।

पुरूरवा

देख लिया······जाता है ।

शब्दार्थ—सरल है ।

अर्थ—हे पत्नियो ! मैंने सब कुछ देख लिया । विश्वमना का फलादेश सत्य सिद्ध हुआ । मेरे पास इस समय एक क्षण भी नहीं है । अतः पुरोहित से कहो कि आयु के राजतिलक के लिए पुण्य श्लोक उच्चरित करें ।

मृषा बन्ध······सुना है ।

शब्दार्थ—मृषा=झूठ । बन्ध=सांसारिक बन्धन । दैहिक=शारीरिक । सिद्धियों=सफलताओं । कंचनावरण=सोने के आवरण में । विषण्ण=दुःखी । गिरा=वाणी ।

अर्थ—विक्रम और विलास का यह बन्धन और माया का मोह झूठा है। इन दैहिक सिद्धियों, यश के स्वर्णिम आवरण में भीतर ही भीतर विषण्ण हुआ ऐसा अनुभव कर रहा हूं जैसे मैं अन्दर से खोखला होता जा रहा हूं। (इन जगती के बन्धनों में फंस कर) मैंने अपने अन्तरतम के रोदन और अभावों की अव्यक्त गिरा को कई बार सुनकर भी अनसुना कर दिया है।

पर, अब······जाता हूं।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—पर, अब इस स्वर की ओर अधिक अवहेलना नहीं की जाती। हे अनन्त दिशा की ओर ले जाने वाली महाशक्ति ! मूक प्राणों में झंकार भरने वाली ! ठहरो ! मैं अपने पंख खोलकर अभी तुम्हारे साथ चलता हूँ।

दिन-भर······जाने का।

शब्दार्थ—विभावसु=सूर्य। प्रदोष=रात्रि। कन्दरा=गुफा। दरी=खोह। अन्तर्गगन=आभ्यन्तर चित्त। चक्रवाल=एक पुराण वर्णित पर्वत। विजन=एकान्त।

अर्थ—सूर्य भी रात्रि को अपने अन्तर्चित्त से शीतल प्रकाश प्रकाशित करने के लिए दिन भर अपना प्रकाश लुटाकर रात्रि के आने पर अपनी सम्पूर्ण रश्मियां समेट कर पर्वत की किसी निजन कन्दरा अथवा खोह के एकान्त प्रान्त में उतर जाता है। तो फिर भला मैं आकाश के मध्य में क्यों तपता रहूं। अब मेरे नए सूर्य को भी क्षितिज छोड़कर आकाश की ओर आने दो क्योंकि मेरे लिए भी वह समय आ गया है जबकि मैं अपनी किरणें समेट कर चक्रवाल के पार कहीं एकान्त प्रदेश में उतर जाऊँ।

यह लो,······जाता हूं।

शब्दार्थ—घूर्णिमान=भ्रमित होने वाला। पूषण=सूर्य। ऐल-वंश-अवंतस=ऐल वंश के पुत्र। कानन=बन।

अर्थ—यह लो, मैं अपने भ्रमित होने वाले सिर से ऐल वंश का मुकुट हटाकर आयु के मस्तक पर धरता हूं। लो, सूर्यदेव की कृपा से राज्याभिषेक भी पूरा हो गया। ऐल-वंश के सुपुत्र नए सम्राट आयु की जय हो। हे महाराज ! अब मैं राज्य-भार से मुक्त होकर बन में जा रहा हूं।

भाग्य दोष !······आशिष के ?

शब्दार्थ—सध सका नहीं=पूरा नहीं हो सका। महाभ्रत=महान यशस्वी। निःस्व=निर्धन।

अर्थ—यह मेरे भाग्य का दोष है कि मैं अपने कर्त्तव्य को पूरा नहीं कर सका। अब तो मैं केवल आपकी प्रजा हूं। अतः प्रजा-धर्म के कर्त्तव्य का पालन करूँगा। मैं जहाँ पर भी रहूंगा वहीं पर महान यशस्वी राजा का यशोगान करूँगा। एक निर्बल संन्यासी भला एक आशीर्वाद के अतिरिक्त और क्या दे सकता हूं?

सभासदो!······कहेंगे।

शब्दार्थ—कालज्ञ=समय को समझने-बूझने वाले। पटु=होशियार। निदेश=आज्ञा।

अर्थ—हे सभासदो! आप सबके सब कालज्ञ और कर्म-निपुण हैं? आप सब जानते हैं कि राजा की समयोचित आज्ञा को आपने किस होशियारी से निभाना है! (मैं जा रहा हूं।) अतः आप प्रजावासियों से हमारा आशीर्वाद कहिए।

जय हो,······प्रजाजनों को।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—महाराज की जय हो! प्रजाजनों के लिए चन्द्रवंश जितना सुरम्य एवं सुखकर था आशा है, उतना ही सुखद वह अब भी होगा।

[एक ओर से पुरूरवा का निष्क्रमण : दूसरी ओर से महारानी औशीनरी का प्रवेश]

औशीनरी

चले गए? (महाराज चले गए?)

सभी सभासद

अनुकंपामयी राजमाता की जय हो।

औशीनरी

हां, मैं······लगा कर।

शब्दार्थ—राजमहिषी=रानी। नियति=भाग्य।

अर्थ—हाँ, मैं अभी थोड़ी देर तक राजमहिषी थी। चाहे जहाँ भी हो, मगर अभी तक नियति ने मुझे प्रकाश से दूर न जाने कहां फेंक रखा था। भाग्य की बात है कि अब मैं निश्चय ही राज-माता हूं, इसलिए हे बेटा! आ! मैं तुझे अपने अंक में छुपा कर अपने प्राणों को शीतल कर लूँ।

[आयु को हृदय से लगाती है।]

कितना भव्य······बचपन में।

शब्दार्थ—चिबुक=ठोडी। तनय=बेटा।

अर्थ—हे बेटा! तुम्हारा स्वरूप कितना भव्य है? तुम्हारे नेत्र, नासिका, मस्तक तथा ठोड़ी में महाराज के स्वरूप की पूर्ण प्रतिच्छाया पड़ी हुई है। काश! हे बेटा, कहीं यदि तू मुझे बचपन में मिल गया होता तो मैं तुझे कितनी उमंग और आशा से पालती-पोसती।

पर, तब······पिला कर।

शब्दार्थ—उत्तुंग=ऊंची। पावक=अग्नि। पाषाणों=पत्थरों। क्षीर=दूध।

अर्थ—लेकिन कोई बात नहीं, जिन महान एवं मनस्वी पुरुषों को उत्तुंग शिखर पर नवीन यशोपताका गाड़नी होती है उन्हें भाग्य प्रायः अग्नि में तपा-तपा कर गढ़ता है; पत्थरों पर सुलाता है और उसे किसी शेरनी का दूध पिलाता है।

विशेष—भाव मिलाइए—

(**अ**) "जिन्दगी के असली मजे उनके लिए नहीं हैं जो फूलों की छांह के बीच खेलते और सोते हैं। बल्कि फूलों की छांह के नीचे अगर जीवन का कोई स्वाद छिपा है, तो वह भी उन्हीं के लिए है जो दूर रेगिस्तान से आ रहे हैं, जिनका कण्ठ सूखा हुआ, ओठ फटे हुए और सारा बदन पसीने से तर है। पानी में जो अमृत तत्त्व है, उसे वह जानता है जो धूप में खूब सूख चुका है; वह नहीं जो रेगिस्तान में कभी पड़ा ही नहीं है।

× × × ×

बड़ी-बड़ी चीजें संकटों में विकास पाती हैं; बड़ी हस्तियां बड़ी मुसीबतों में पलकर दुनिया पर कब्जा करती हैं। अकबर ने तेरह साल की उम्र में अपने बाप के दुश्मन को परास्त कर दिया था, जिसका एकमात्र कारण यह था कि अकबर का जन्म रेगिस्तान में हुआ था और वह भी उस समय जब उसके बाप के पास एक कस्तूरी को छोड़कर कोई दौलत नहीं थी।

महाभारत में देश के प्रायः अधिकांश वीर कौरवों के पक्ष में थे, मगर फिर भी जीत पाण्डवों की हुई; क्योंकि उन्होंने लाक्षागृह की मुसीबत झेली थी, क्योंकि उन्होंने बकवास की जोखिम को पार किया था।"

"जीवन उनका नहीं युधिष्ठिर ! जो उससे डरते हैं।
वह उनका जो चरण रोप, निर्भय होकर लड़ते हैं।"

—दिनकर : हिम्मत और जिन्दगी

(ब) वसुधा का नेता कौन हुआ ? भूखण्ड विजेता कौन हुआ ?
अतुलित यश-क्रेता कौन हुआ ? नव-धर्म-प्रणेता कौन हुआ ?
जिसने न कभी आराम किया, विघ्नों में रह कर नाम किया।

× × × ×

कंकड़ियां जिनकी सेज सुघर, छाया देता केवल अम्बर,
विपदाएँ दूध पिलाती हैं, लोरी आंधियाँ सुनाती हैं।
जो लाक्षा-गृह में जलते हैं, वे ही शूरमा निकलते हैं।

—दिनकर : रश्मिरथी : तृ० सर्ग : २८, २९

सो, तू पला······भेजा था।

शब्दार्थ—सीमन्तनी-शिखा=नारियों की अग्रणी। केहरिणी=शेरनी।

अर्थ—और तू जिसकी गोदी में पला है वह नारियों में अग्रणी, पतिव्रताओं में शेरनी के समान और कोई नहीं है। तपोनिधान, तपः सिंह च्यवन ऋषि की प्रिया (सुकन्या ही) है।

हाय, हमारा······आया हो ?

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—देखो, मेरा लाल कितना अवाक् होकर खड़ा है ? (ठीक भी है) ऐसा कौन है जो अचानक राज्याभिषेक को पाकर विस्मित और निस्तब्ध नहीं होगा ? उस वट-वृक्ष को सम्मुख देख, जिसकी छाया के लिए वह इतनी दूर से चलकर आया हो, (भला कौन विस्मित नहीं होगा)।

कितना विषम······चुरा कर।

शब्दार्थ—सरल हैं।

अर्थ—कितने बड़े शोक का विषय है ? पहले तो तुम्हारा जन्म ही जंगल में हुआ और फिर जब महान आवश्यकता थी तब पिता की शीतल गोद तुम्हें नहीं मिल सकी। जब तुम स्वयं ही उनके पास आए तो वे सहसा अपना राजपाट, सर्वस्व तुम्हें सौंप तथा अपना वात्सल्य (पुत्र-प्रेम) चुरा कर चले गए।

नीरवता······करने का ।

शब्दार्थ—रवपूर्ण=ध्वनिमयी । मुखर=वाचाल । विकल्प=उपाय । मस्तकस्थ=मस्तक पर धारण किए ।

अर्थ—हे बेटा ! तेरी यह ध्वनिपूर्ण नीरवता और तेरी यह चुप्पी सब प्रकार से मुखर होकर तेरे मन की पीड़ा को प्रकट कर रही है । लेकिन अब शीश पर धारण किए गए राजमुकुट के भार का वहन करने के अतिरिक्त अन्य उपाय भी क्या है ?

उदित हुआ······बचेगा ?

शब्दार्थ—प्लावन=प्रलय ।

अर्थ—हे आयु ! तेरा भाग्योदय हुआ तो अवश्य मगर बड़े संकट-काल में हुआ है लेकिन तुम्हें छोड़कर हमें इस महान आपदा से कौन पार उतारेगा ? यदि तुम्हीं उदास रहे तो कौन ऐसा है जिसके मुख पर मुसकान इठलाएगी और यदि तुम ही इस महान संक्रान्ति से नहीं उबरे तो भविष्य में आने वाली इस महान प्रलय में कौन बच सकता है ? (भाव यह है कि हे पुत्र ! अब तुम पितृ-शोक को भुला कर प्रसन्न हो अपने राज-धर्म का पालन करो) ।

पिता गए······रही हूं ।

शब्दार्थ—नरनाथ=राजा ।

अर्थ—अरे बेटा, यदि तुम्हारे पिता चले गये तो क्या हुआ ? तेरी माता तो तेरे सामने खड़ी हुई है । हे बेटा ! ऐल-वंश का राजा अभी अनाथ नहीं हुआ है । तू जिस वात्सल्य-रस की क्षुधा से आकुल है मैं भी उस अमृत-कोष को लुटाये बिना आजीवन इसी में भरी हुई हूं ।

फला न······लगा है ।

शब्दार्थ—शस्य=हरा-भरा पौधा । भान=आभास ।

अर्थ—(इस पद में औशीनरी का मातृत्व अपनी चरम सीमा पर आ गया है । कवि ने बड़े सशक्त शब्दों में माता के वात्सल्यपूर्ण भावों को प्रकट किया है—)

प्रकृति की ओर से मुझे जो वात्सल्य का अमृत मिला था वह मेरे शरीर रूपी वृक्ष की टहनियों एवं सूनी डालियों में अब तक लहरें मारता रहा, उससे कोई पौधा नहीं फला-फूला किन्तु आज तुझे पाकर ऐसा आभास हो रहा है जैसे शस्य-भार से मेरी सभी डालियां झुकी जा रही हों । हाय पुत्र ! मैं भी जीवन-भर बहुत प्यासी थी, केवल पहली बार शीतल जल का पात्र मेरे ओठों

पर लगा है। (भाव यह है कि मैं अभी तक ममता की प्यासी थी। तू मेरे लिए शीतल जल के समान आया है। तुझे पाकर मेरा सूखा हुआ हृदय पुष्पित एवं पल्लवित हो गया)।

तप्त बना······दबा कर ?

शब्दार्थ—द्विधा=दुविधा। विपन्नता=संकट-ग्रस्तता। शतक्रतु=इन्द्र, इस कारण कि उन्होंने सौ यज्ञ किये थे। कहते हैं, पुरूरवा भी शतक्रतु थे।

अर्थ—हे वीरमणि पुत्र ! (इस शीतल वात्सल्य-रस को) दुविधा, ग्लानि और चिन्ता से गर्म मत करो। देखते नहीं, मैं इन्द्र के समान तेजस्वी अपने पति को गंवा कर, अपने अन्तस में उच्छलित वेदना के विस्फोट को दबा कर, संकट-ग्रस्तता के किस कगारे पर खड़ी हुई हूं।

और हाय,······हरते हैं।

शब्दार्थ—सरल हैं।

अर्थ—लेकिन हाय, फिर भी मैं भीरु नारी हूं। नारी के भाग्य में विधाता ने रोदन के अतिरिक्त क्या और कुछ भी सर्जन किया है ? पर किशोर होने पर भी हे बेटा ! तू राजा है। राजा कभी भी अपनी पीड़ा से पीड़ित नहीं होते अपितु वे तो अपनी पीड़ा को भूलकर दूसरों की पीड़ा का हरण करते हैं।

हंसते हैं······निमिष में ?

शब्दार्थ—किरीट=ताज, मुकुट। दुर्वह=वहन करने में कठिन। निमिष =क्षण।

अर्थ—जब राजा हंसते हैं तो सबके अधरों पर हास्य की किरण छा जाती है और जब रोते हैं तो सब पुरवासियों के नयन अश्रु-सिक्त हो जाते हैं। इसलिये जिस नृपति के मस्तक पर दुर्वहनीय समाज-शासन का ताज चढ़ गया हो, उसके लिए भला अपनी पीड़ा तथा अपना आनन्द क्या महत्त्व रखता है ? लेकिन हाय, यहां पर तो (उतने बड़े उत्तरदायित्व का यह कार्य) एक ही क्षण में सम्पन्न हो गया।

महामात्य

घटित हुआ······खेला है।

शब्दार्थ—दारु-पुतली सी=काष्ठ की पुतली के समान।

अर्थ—यह काण्ड अचानक इस प्रकार घटित हो गया जैसे यह सभा काष्ठ की पुतली के समान अदृश्य के हाथों में पराधीन होकर नर्तन कर रही हो।

मानो भाग्य ने हम सबकी बुद्धि को कुंठित करके और सबको अपने पाठ से वशीभूत करके अपने आप दुःखान्त नाटक का अभिनय किया हो।

विशेष—उत्प्रेक्षा अलंकार।

कौन जानता······चुका था।

शब्दार्थ—अशनि=बिजली। आसन्न=आने वाली। स्तंभित=अवाक्, विमूढ़। गिरा=वाणी।

अर्थ—महामात्य राजमाता औशीनरी से कहते हैं—हे देवि! कौन जानता था कि बिना घटाओं के ही हम पर यह बिजली टूट पड़ेगी। हमें तो आने वाली इस महान विपत्ति का आभास तक भी नहीं मिला था। (यह सब कुछ देखकर) हम कुछ तो भाग्य के आधीन हो गये और कुछ महाराज के भय से विमूढ़ से हो गए। इससे पहले कि हम अपने मुख से कुछ कहें, महाराज का राज-मुकुट कुमार के मस्तक पर आसीन हो चुका था।

सब कुछ······कहना था।

शब्दार्थ—मरुत=प्राण, वायु (इनकी संख्या सात मानी गई है—उग्र, भीम, धांत, धुनि, सासह्व, अभियुग्व, विक्षिप); देवता।

अर्थ—सब कुछ ऐसे घटित हो गया जैसे आकाश में मरुत दौड़ रहे हों; जैसे कोई शुष्क-कानन में आग लगा रहा हो; जैसे हम आदमी नहीं अपितु पत्थर की मूर्त्तियां हों अथवा जैसे स्वयं कुचक्र हमें आगे की ओर हांक रहा हो (और हम विमूढ़ हुए उसी दिशा में आगे बढ़ते गये)। हे देवि! सम्राट हमें बड़े भारी विस्मय में डाल कर छोड़ गए। अपने दिल के गुबार जो हम निकालना चाहते थे, वे भी हम नहीं निकाल सके।

औशीनरी

कौन कह······रेखा सी?

शब्दार्थ—सरल हैं।

अर्थ—अपने दिल की पीड़ा को आज तक कौन कह सका है? क्या तुम सबने नहीं देखा कि मैं इस कोलाहल के बीच मूकता की अकम्प लौ के समान मेरे जीवन में जो कुछ भी हुआ उसे देखकर भी सदा चुप्पी साधे रही। (अर्थात् मैं यह जानते हुए भी कि मेरे पति तथा उर्वशी के बीच स्थापित प्रेम से मेरा अवश्य कोई अहित होने वाला है, कुछ नहीं बोली)।

वाणी का······बैठी थी।

शब्दार्थ—वर्चस्व=तेज। निर्घोष=शान्तिमय। नीड़=घोंसला।

अर्थ—(मनीषियों का कथन है कि) वाणी का तेज यदि चांदी है तो मौन स्वर्ण है। लेकिन अन्ततोगत्वा मुझे इस स्वर्ण से क्या मिला ? मेरे जिस राष्ट्र में शान्ति एवं मधुरता का निनाद था वह सब इतिहास बन कर रह गया। मैं, जहां अचल एवं शान्त अपने मूक नीड़ में बैठी थी वहां से सभी अपनी छाया बचाकर इस कोलाहलपूर्ण जगत से दूर भाग गए। (किसी ने भी मेरे मौन का मूल्य नहीं आंका। कोई भी मेरे दर्द को सुनने नहीं आया)।

महाराज······होती है।

शब्दार्थ—दानवाकृति=दैत्याकार। धूमिल=धुंधला। पद-चाप=पैरों की आवाज। नीरव=शान्त। व्यग्र=उतावली।

अर्थ—माना कि महाराज बड़े उदार थे, बड़े मृदु एवं भाव-प्रवण थे और मुझ अभागिनी को उन्होंने बड़ा आदर-मान भी दिया था लेकिन ऐसा क्या हुआ कि वे चलते समय मुझ पर अपनी कृपा करनी भी भूल गए ? न जाने उन्हें इस दैत्य के समान भीषण आकार वाले भवन में उपेक्षित, शान्त और धूमिल उस कोने का ध्यान क्यों नहीं आया जहां पर न तो कभी घटनाएं ही भूलकर जाती हैं; अर्थात् कोई भी घटना घटित नहीं होती और न जहां पर इतिहासों के पैरों की आवाज ही सुनाई देती है; अर्थात् कोई भी ऐसी घटना नहीं घटती, जिसका इतिहास में उल्लेख किया जा सके। इस कोने में एक ऐसी प्रणयिनी भी रहती है जिसका प्रेम शान्त और स्थिर है; जिसकी कामना स्निग्ध और शीतल है; जिसकी अभिलाषाएं अपनी ही दहकती हुई वासनाओं से दग्ध नहीं होतीं; जहां पर पैरों के नीचे मूंगों की लाल सेज नहीं है, जहां तरंगों के ऊपर नागनियां नहीं लहरातीं, जहां अधरों की कोमल सुषमा आग बनकर नहीं बरसती और जहां खाल से रह-रहकर चिनगारियाँ नहीं निकलतीं। बल्कि जिस कोने में नारी का शुभेच्छु और विनम्र हृदय समर्पित है, यह वह कोना है जहां उद्वेगों से अधिक आनन्द शान्ति और संयम में मिलता है, जहां एक पात्र में ही दूध और मधुरस दोनों संचित हैं, जहां एक ही हृदय में सूर्य जैसी प्रचण्डता और चन्द्रमा जैसी शीतलता छिपी हुई है। जहां नारी केवल सौन्दर्य-मूर्ति बनकर मनुष्य के मन को मोहित करने वाली नहीं होती, बल्कि उसका माता का रूप भी होता है जो अमृत के समान सुख और बल देने वाली होती है।

भूल गये······प्रियतम को ।

शब्दार्थ—दयित=प्रिय, पति । निभृत=एकान्त । निलय=भवन । समाराधन=पूजा । त्रिलोक-भरण=परमात्मा । अकल्याण=अहित । कंटक=कांटा ।

अर्थ—महारानी औशीनरी महाराज पुरूरवा के विरह में भी उनकी कल्याण-कामना करती हुई कहती है कि हे प्रियतम ! तुम जाते समय यह क्यों भूल गये कि उस शान्त और अकेले महल में कोई नारी अखण्ड व्रत को लेकर तुम्हारी पूजा में बैठी हुई है, जिसकी ओर चलते समय तुमने बिल्कुल भी ध्यान नहीं दिया । मैं त्रिलोकपति परमात्मा से अश्रुमुखी बनकर केवल यही भीख मांगती हूं कि हे प्रभो ! मेरे स्वामी का तनिक भी अहित न हो । उन पर पड़ने वाली जो मुसीबत हों, वे मुझे दे देना, मैं प्रसन्नतापूर्वक उन सबको सहन कर लूंगी; किन्तु हे देव ! मेरे प्रियतम के पैर में छोटे से छोटा कांटा भी न चुभे; उन्हें मामूली-सी भी विपत्ति का सामना न करना पड़े ।

विशेष—इन पंक्तियों में महारानी औशीनरी का चरित्र भारतीय आदर्शों से परिपूर्ण है ।

किन्तु हाय······जाता हूं ।

शब्दार्थ—मृषा=झूठ, निरर्थक । हतभागी=निर्भागी ।

अर्थ—अपनी विरह-वेदना को व्यक्त करती हुई औशीनरी कहती है कि यह बड़े दुःख की बात है कि मेरे जीवन की सारी साधना झूठी सिद्ध हुई, निरर्थक चली गई, क्योंकि मैं तो अपने दोनों हाथों को जोड़े हुए उनके ध्यान में डूब कर बैठी रही और वे मेरे देवता मुझसे बिना कहे ही चले गये । मुझसे इतना भी कहकर नहीं गये कि हे निर्भागी ! उठ और अपनी पूजा को छोड़ कर मुझे अन्तिम बिदाई दे, क्योंकि मैं अब इस भवन को छोड़कर जा रहा हूं ।

विशेष—इन पंक्तियों को पढ़ कर भावसाम्य के कारण गुप्त जी की यह पंक्ति अनायास ही स्मृति-पटल पर थिरकने लगती है—

'सखि ! वे मुझसे कहकर जाते ।'

याग-यज्ञ······मन में ?

शब्दार्थ—वामांक=बाईं दिशा, कान्त ।

अर्थ—अपनी विरह-वेदना को व्यक्त करती हुई औशीनरी कहती है कि मेरे पति कभी भी मुझे नहीं छोड़ते थे; वे याग-यज्ञ, व्रत-धारण या अन्य

किसी भी धर्म-साधन में मेरे बिना, मुझे साथ लिए बिना प्रवृत्त नहीं होते थे, किन्तु अब उन्होंने मुझे बताए बिना ही संन्यास-धर्म का कठोर व्रत धारण कर लिया है। न जाने उनका यह कठोर व्रत किस प्रकार पूरा होगा, क्योंकि उन्होंने मुझ जैसी संन्यासिनी प्रिया को अपनी बाईं दिशा में नहीं बैठाया है? (शास्त्रों के अनुसार पति का यज्ञानुष्ठान तभी पूर्ण होता है, जब उसकी पत्नी भी उसके साथ हो) और यदि उन्हें मुझको त्यागना ही था तो कम से कम जाते समय अपने चरणों की धूल तो मुझे अन्तिम बार ले लेने देते? मुझे बिना बुलाए और दर्शन किए बिना वे न जाने कैसे अचानक चले गये। न जाने मैं अकस्मात् ही अपने पति के मन में क्यों मर गई? अर्थात् जो पति मुझे कभी बहुत अधिक प्यार किया करते थे, उन्होंने मुझे मृत-तुल्य जानकर क्यों त्याग दिया?

शुभे ! गांस······अधिकार नहीं हो।

शब्दार्थ—गांस=तीर का फल।

अर्थ—हे शुभे! प्रियतम की यह उदासीनता मेरे हृदय में तीर के फल की भांति लग गई है और यह तमाम जीवन मेरे हृदय को सालती रहेगी। बड़े दुःख का विषय है कि जो पति कभी मेरा सर्वस्व था, वह मुझे इसी प्रकार छोड़कर चला गया है, मानो उस पर मुझ अभागिनी का कोई अधिकार ही नहीं था।

विशेष—उत्प्रेक्षा अलंकार।

सुकन्या

देवि ! यही है······चुराकर।

शब्दार्थ—पाश=बन्धन। क्षाम=क्षीण। वैराग्योन्मुख=वैराग्य की प्रवृत्ति वाला।

अर्थ—महारानी औशीनरी का विलाप सुनकर उनकी सखी सुकन्या उन्हें समझाती हुई कहती है कि हे देवि! यही नियम है कि जो बन्धन क्षणिक, क्षीण और दुर्बल होता है, वैराग्य की प्रवृत्ति वाला मनुष्य कभी भी उन बन्धनों से नहीं डरा करता; किन्तु जहां पर जन्म-जन्म की अभंग शृंखला होती है, यती उधर से सदा आंखें बचाकर भागा करता है।

सुकन्या का कहने का अभिप्राय यह है कि नारी जीवन की सबसे अधिक सुदृढ़ बेड़ी है, इसलिए यती नारियों से बिना मिले ही गृहत्याग कर देते हैं।

परामर्श क्यों······नहीं गये हैं।

शब्दार्थ— मुक्तिकामी=मुक्ति की इच्छा करने वाले। गेह=घर।

अर्थ—हे देवि ! नारी विश्व का सबसे दृढ़ बन्धन है, इसीलिए जो व्यक्ति मुक्ति की इच्छा करते हैं, वे इस नारी रूपी बन्धन से कभी परामर्श नहीं लेते; क्योंकि यदि कोई नारी की बातें सुनने लगे तो फिर उसका गृह-त्याग करना असम्भव हो जाता है। इसलिए यदि महाराज आपसे कुछ कह कर नहीं गये तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। यहां तो वही हुआ है जो भाग्य को स्वीकार था।

औशीनरी

पतिव्रते··· ··सिर पर।

शब्दार्थ—तिग्म=तीक्ष्ण, प्रखर। अवमानना=अपमान। प्रतारण=वंचना, ठगी। दयित=प्रियतम।

अर्थ—सुकन्या के उत्तर को सुनकर महारानी औशीनरी कहती है कि हे पतिव्रते ! यह सच है कि गृहिणी की बातें सुनकर मुक्तिकामी को घर छोड़ना असम्भव हो जाता है किन्तु बिना कहे-सुने भाग जाना भी बहुत ही प्रखर और विषम चोट होती है; यह विष के समान शूलने वाला अपमान और ठगी है। न जाने प्रियतम ने इस बात को क्यों नहीं सोचा कि मैं अवध्य और निर्दोष हूं। यह भाग्य की कैसी विडम्बना है कि उन्हें छला तो किसी अन्य ने और उनके विरह का वज्र गिरा किसी अन्य के (मेरे) सिर पर।

विशेष—उपमा अलंकार।

गँवा दिया······छिपी हुई थी ?

शब्दार्थ—रसित=आनन्दपूर्ण। पुलिन=किनारा। व्रीडा=लज्जा। प्रमदा=युवती।

अर्थ—हे सुकन्या ! मैंने भूल में रहकर अपना सर्वस्व खो दिया और मैं सब कुछ देखकर भी अनदेखी बनी रही। हे देवि ! मुझे इस बात पर अब बार-बार पछतावा होता है कि मैं तरंगों से आकुल और आनन्द से भरे हुए उस प्रेम के किनारे पर क्यों नहीं गई जहां पर अप्सरायें स्नान करती हैं ? कहने का भाव यह है कि मैं अपनी ही लज्जा में सिमटी रही और खुलकर महाराज से अप्सराओं जैसा प्रेम न कर सकी। अब मैं बार-बार इस घटना को याद करके पछताती हूं कि लज्जा के खूनी आवरण को फाड़कर मैंने क्यों उस युवती (उर्वशी) के प्रेम को स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं होने दिया। वह उर्वशी केवल अप्सरा ही नहीं थी, बल्कि मुझमें भी छिपी हुई थी।

बसी नहीं······धनुष की ?

शब्दार्थ—कुसुम-दाम=पुष्पमाला । पुष्प-स्रज=फूलमाला । उदग्र=उन्नत, विशाल । शिंजिनी=त्वचा, डोरी ।

अर्थ—हे सुकन्या ! मुझे बार-बार यह याद करके पछतावा होता है कि मैं पुष्पमाला बनकर उनकी विशाल बाँहों में क्यों नहीं बस गई ? फूलमाला बनकर उनकी विशाल गर्दन से क्यों नहीं चिमट गई ? जब वे अपना धनुष उठाकर अन्धेरे का हृदय बींध रहे थे तो मैं उनके उस महाधनुष की डोरी क्यों न बन गई ?

कहने का भाव यह है कि यदि मैं उनके उर्वशी के प्रति प्रेम में बाधक न होकर सहायक होती तो वे मुझे इस प्रकार त्याग कर न चले जाते ।

गयी नहीं······रेखाओं में ?

शब्दार्थ—प्राणपति=प्रियतम । आख्यान=कहानी । पर्ण-पर्ण पर=पत्ते-पत्ते पर । जीवन्त=जगमगाती । प्रभा-सी=ज्योति के समान । कृशानु=अग्नि । लोहित=लाल ।

अर्थ—हे सुकन्या ! मुझे अब यह पछतावा हो रहा है कि मैं न प्रियतम के साथ-साथ धरती और आकाश में उस-उस स्थान पर क्यों नहीं गई, जहां-जहां उन्हें घटित हुई महान् घटनाएँ बुला रही थीं । जब वे प्रियतम अपनी विजय की कहानी पत्ते-पत्ते पर, लहर-लहर में और प्रत्येक ऊंचे शिखर पर अंकित कर रहे थे, तब मैं जगमगाती ज्योति के समान उनके बाणों के फलकों पर और बाणों से निकलती हुई आग की लाल लपटों में न जाने क्यों नहीं समा पाई ?

विशेष—वीप्सा और उपमा अलंकार ।

जीत गयीं······गड़ती थी ।

शब्दार्थ—व्रीडा-विकल=लज्जा से दुःखी । दृगों में=आंखों में ।

अर्थ—हे सुकन्या ! लहरों पर मचल-मचल कर चलने वाली अप्सराएं इसीलिए जीत गईं कि वे खुली धूप में और बादलों से भरे हुए आकाश में स्वच्छन्द होकर उड़ सकती थीं और मैं इसीलिए हार गई कि मेरे लज्जा से दुःखी नैनों में खुली धूप की ज्योति और कोलाहल की किरण गड़ती थी, इसलिए मैं होती हुई घटनाओं को स्पष्ट रूप से नहीं देख पाई ।

देखा ही······निहार लेता है ?

शब्दार्थ—अन्तर=हृदय । त्रपा-त्रस्त=लज्जा से डरी हुई । विशिखों के निक्षेपन से=तीरों को चलाने से ।

अर्थ—हे सुकन्या ! मैंने अपने हृदय के छाया-निवास से निकलकर, हृदय के प्रेम-लोक को छोड़कर, देखा ही नहीं कि कहां क्या महिमा बरस रही है ? किन्तु मुझे बहुत ही दुःख है कि मुझे लज्जा से डरी हुई छाया से बाहर खींचकर उस धूप और उस उन्मुक्त भुवन में क्यों नहीं फेंक दिया जहां लहरों से भरा हुआ जीवन का समुद्र लहराता है और जहाँ पुरुष रण के लिए तैयार होकर भी तीरों को चलाने से पहले पास में खड़ी हुई अपनी प्रिया के मुख को देख लेता है।

हाय सती······आवश्यकता थी ।

शब्दार्थ—कदर्य=कायर । मंगलैषा=कल्याण की इच्छा । क्षुधा=भूख ।

अर्थ—हे सती सुकन्या ! इस घटना में सारा मेरा ही दोष है। मैं ही कायर, दोषी, अनुदार और कंजूस हूं, क्योंकि मैं ही पुरुष को वह भावमय भोजन नहीं दे पाई जिसकी उसके मन में भूख भी होती है और जिसकी उसे आवश्यकता भी होती है। इस भावमय आहार के अभाव में पुरुष उदासीन हो जाता है, क्योंकि केवल शुभकामना और कल्याण की इच्छा से कुछ नहीं होता ।

मुझे भ्रान्ति······सुरभि देने से ।

शब्दार्थ—भ्रान्ति=धोखा । पूजा-प्रसून=पूजा का फल। सुरभि= सुगंधि ।

अर्थ—मैं यह मानकर धोखा खाई हुई थी कि मेरा भी कुछ है, लेकिन आज उसे भी चढ़ाकर अपनी भ्रान्ति का निवारण कर चुकी हूं। अब पूजा के फूलों की डाली में देव की अर्चना करने के लिए कुछ भी शेष नहीं रह गया है। किन्तु अब मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जिस बात की प्रियतम को सबसे अधिक चाह थी, वह सुगंधि उन्हें देने से मैं चूक गई हूं; अर्थात् वह वस्तु उन्हें नहीं दे पाई हूं ।

रही समेटे······लगाकर ।

शब्दार्थ—कुट्टमित=नायिका-भेद में माने हुए ११ हावों में से एक हाव जिसमें सुखानुभव के समय बनावटी कष्ट-चेष्टा प्रकट की जाती है। ललित= सुन्दर । लीला=क्रीड़ा । मदिर=मादक ।

अर्थ—हे सुकन्या ! जब प्रियतम मेरे पास थे तो मैं न जाने क्यों लजील वधू की भांति लज्जा का अलंकार समेटे हुए रही। मुझे अब पछतावा हो

रहा है कि तब उस सुन्दर क्रीड़ा में चकित होकर मैंने सुखानुभव के समय कष्ट-चेष्टा को क्यों नहीं प्रकट किया। उस समय मैं प्रसन्न, उद्दाम, तरंगित और मादक मेघमाला के समान घिर कर तथा अपने पति का समस्त अस्तित्व घेरकर क्यों न बरस पड़ी ?

मुझे दुःख है कि मैं जीवन की अद्वितीय और सर्वोत्तम ऋद्धि को हार गई हूं क्योंकि मैं प्राणों के प्रार्थना-भवन में प्रियतम का ध्यान लगाकर बैठी रही।

सुकन्या

देवि ! आपकी……आन मिला है।

शब्दार्थ—दुरन्त=अपार। दुस्सह=असह्य। प्रदाह=जलन। उन्मूलित=उखड़ी हुई। पादप=वृक्ष।

अर्थ—महारानी औशीनरी के दुःख को सुनकर सुकन्या उसे समझाती हुई कहती है कि हे देवि ! आपका दुःख सचमुच ही अपार और असह्य है। वास्तव में यह दुःख आजीवन व्यथा देता रहेगा; किन्तु अब इस ग्लानि जलन और आत्म-पीड़ा से कोई लाभ नहीं है, क्योंकि जो वाटिका उखड़ गई है, वह तो अब फिर दोबारा बसाई नहीं जा सकती। अब तो केवल शांति का यही उपाय है कि तुम्हें जो नया वृक्ष (आयु) मिला है, उसे देखकर ही जीओ और अपने विरह-दुःख को भूलने की कोशिश करो।

जितना भी……यतीत्व-ग्रहण की ?

शब्दार्थ—विच्युति—बिछोह। अचिन्त्य=अपार। विक्रान्त=भयानक। भीम=विशाल। दुर्जय=अजेय। कराल=विकराल। तथ्य=सचाई। अरि=शत्रु। यतीत्व-ग्रहण=संन्यास-ग्रहण करना।

अर्थ—महारानी औशीनरी को सान्त्वना देती हुई सुकन्या कहती है कि हे सुचरिते ! इसमें कोई अपार विस्मय की बात नहीं है कि प्रियतम के बिछोह पर जितना भी अधिक शोक प्रकट किया जाये, उतना ही थोड़ा है, किन्तु तुम्हें यह भी जान लेना चाहिए कि जब पुरुष के सामने सचाई, शत्रु अथवा चट्टानें आ जाती हैं तो वह भयानक, विशाल, अजेय और विकराल रूप धारण कर लेता है, किन्तु इसी व्यक्ति का जब अपने मन की किसी भावना से अथवा अतृप्त इच्छा से युद्ध ठन जाता है तो यह इतना अधिक कायर बन जाता है कि इसके मुकाबले का इस संसार में कोई भी प्राणी कायर नहीं होता। उस समय यह आत्म-हत्या तक करने के लिए उतारू हो जाता है; संन्यास-ग्रहण करने की बात तो बहुत छोटी सी है।

पर के······मिलती है ।

शब्दार्थ—पर के=दूसरे के । पाश=बंधन ।

अर्थ—पर सत्य है कि दूसरे के फेंके हुए बन्धन में मनुष्य कभी भयभीत नहीं होता है और अपने बाहु-बल से वह अवश्य ही उसे काटकर फेंक देता है ; लेकिन वही वीर जब अपने बनाए हुए बन्धन में फंस जाता है तो उसे उससे छूटने के लिए, निकल भागने के लिए राह ही नहीं मिल पाती है ।

इसीलिए······मर्म पीड़ा थी ।

शब्दार्थ—दायित्व=जिम्मेदारी । अनिद्र दृष्टि=सतर्क निगाह ।

अर्थ—हे शुभे ! क्योंकि मनुष्य अपने बन्धन में बंधकर उससे नहीं छूट पाता है, इसलिए गृहस्थ नारी की जिम्मेदारी बहुत ही गहन और दुस्तर बन जाती है, उसे सतर्क निगाह से प्रत्येक क्षण सावधान होकर यह देखना होता है कि युद्ध से लौटे हुए मनुष्य को किस बात के लिए दुःख है, उसे किस चीज़ की सबसे अधिक चाह है और उसके मन में कहां कोई पीड़ा कसक रही है ।

हे महारानी ! यदि आपने यह नहीं देखा कि महाराज के कहां घाव थे, कहाँ जलन थी और कहां मर्म-पीड़ा थी तो आपने बुरा किया ।

कहने का भाव यह कि चतुर नारी को अपने पति के सभी प्रकार के मनोभावों को जानकर उनका उचित उपचार करना चाहिए । यह उसकी बहुत बड़ी जिम्मेदारी होती है ।

यह भी नियम······किए हुए है ।

शब्दार्थ—उद्भट=वीर । पयोधि=सागर । त्रिया=नारी । निस्तल=अत्यधिक गहराई ।

अर्थ—सुकन्या महारानी औशीनरी को समझाती हुई कहती है कि हे महारानी ! प्रकृति का यह नियम भी बड़ा ही विचित्र लगता है कि जो व्यक्ति समर्थ और वीर होते हैं, वे सागर के ऊपर खुले हुए आंगन में घूमते हैं, अर्थात् केवल सुनहली कल्पनाओं के पीछे दौड़ते रहते हैं । इसके विपरीत नारी जिसे अबला और केवल आँसू तथा करुणा की मूर्ति माना जाता है, सृष्टि के महामूल तथा अपार तल में बैठकर सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण करती है और वही अपनी छिगुनी पर समुद्र को रखकर ऊंचा उठाये हुए है ।

कहने का भाव यह है कि जिस पुरुष को वीर माना जाता है वह तो सुनहली कल्पना के पीछे दौड़ता-दौड़ता अपने जीवन को व्यर्थ में ही समाप्त

कर देता है और जिस स्त्री को अबला समझा जाता है, वह सम्पूर्ण सृष्टि की रचना करके इसकी गरिमा को बनाये रहती है।

इसीलिए इतिहास……छाया है।

शब्दार्थ—वरवर्णिनी=श्रेष्ठ का वरण करने वाली। प्रभा=ज्योति। मदनायित=मादक। विक्षोभ=आक्रोश। प्रथित=वर्णित।

अर्थ—सुकन्या महारानी औशीनरी को नारी स्वरूप समझाती हुई कहती है कि नारी अपने अबलापन में सबला और सृष्टि की निर्मात्री है, किन्तु फिर भी इतिहास में इसका कोई उल्लेख नहीं होता। इसका कारण यह है कि इतिहास मनुष्य के तुच्छ प्रकाश का, उसकी हलचल का अनुचर है, इसीलिए उसमें नारी की महती कथा अभी तक अंकित नहीं हो पाई है और न तब तक हो सकेगी जब तक नारी पुरुष की छाया छोड़ कर और श्रेष्ठ का वरण करने वाली ज्योति को लेकर तथा नरक को ग्रहण करके मनुष्य के सिंहासन पर नहीं बैठ जाती; अर्थात् वह नारीत्व को ग्रहण नहीं करती या अपने मादक नयन-शरों की परम्परा को छोड़कर पुरुष का-सा आक्रोश लेकर वह संसार में नहीं छा जाती, तब तक इतिहास में उसका उल्लेख नहीं होगा। हे देवि! यदि इतिहास में हम वर्णित नहीं हैं तो इससे हमें ग्लानि नहीं करनी चाहिए, क्योंकि नारी का स्वाभाविक रूप आक्रोश नहीं, वरन् छाया है जो स्वयं भी शीतल होती है और दूसरों को भी शीतलता प्रदान करती है।

इतिहासों की……कर्म उठते हैं।

शब्दार्थ—उद्गमस्थली=पैदा होने के स्थान। अदृश्य=अगोचर।

अर्थ—इतिहासों की समस्त दृष्टि केवल एक क्रिया पर टिकी हुई होती है और वह क्रिया है पुरुष का अहं से भरा हुआ गौरव, किन्तु नारी क्रिया नहीं, प्रेरणा, प्रीति और करुणा है, यह वह अगोचर उद्गमस्थली है जहां से सभी प्रकार के कर्मों का जन्म होता है।

लिखता है इतिहास……संकेतों में।

शब्दार्थ—जनाकीर्ण=आदमियों से भरे हुए, गहन आबादी वाले। प्रखर=तेज। चान्द्र साम्राज्य=चन्द्रमा के समान शीतलता से ओत-प्रोत राज्य।

अर्थ—इतिहास केवल उस जीवन की कहानी लिखता है जो गहन आबादी वाला है, जिसमें सूर्य के प्रचण्ड ताप की भांति अहं की ज्वाला जलती है और जहां पर भीषण कोलाहल होता रहता है; लेकिन जो राज्य नारी का है

यद्यपि वह मूक है फिर भी वहां चन्द्रमा की चांदनी जैसी शीतलता और स्निग्धता फैली हुई होती है, वह प्रदेश एकान्त होता है और केवल संकेतों से ही अपनी महिमा का ध्यान कराता है।

अन्वेषी इतिहास······कष्ट-सहन है।

शब्दार्थ—अन्वेषी=खोज करने वाला।

अर्थ—सुकन्या महारानी औशीनरी से नारी की महिमा का वर्णन करती हुई कहती है कि इतिहास शूरता का, संघर्ष से उत्पन्न सुयश का खोज करने वाला होता है। नारियों में भी यद्यपि शूरता होती है, किन्तु उनकी शूरता नीरव होती है, अनजान होती है। नारियों की शूरता शब्दाडम्बरों की अपेक्षा नहीं रखती, क्योंकि उसका रूप ममता और कष्ट-सहिष्णुता का है।

सदा दौड़ता······देखा करती है।

शब्दार्थ—व्यग्र=व्याकुल। अचंचल=स्थिर। अनुद्विग्न=व्याकुलता-रहित। अनधीर=धैर्य।

अर्थ—इतिहास सदा इस भय से दौड़ता रहता है कि अनवरत गति से चलता हुआ अवसर उसके हाथ से न निकल जाये किन्तु नारी अपने स्थिर और गम्भीर प्राणों में बैठकर व्याकुलता-रहित होकर धैर्य के साथ समय का मार्ग देखती रहती है।

पर तब भी······मर जाता है?

शब्दार्थ—छिन्न=पृथक्। स्निग्ध=तरल। क्लांति=थकान। पुलकों से=स्फूर्ति से, नवजीवन से।

अर्थ—सुकन्या औशीनरी से नारी की महिमा का वर्णन करती हुई कहती है कि यद्यपि नारी की मौन शूरता इतिहासों में अंकित नहीं होती, तथापि इतिहास ने नारी को एकदम भुला दिया हो, ऐसी बात नहीं है। कौन नहीं जातना कि जब पुरुष कभी युद्ध में थक जाता है तो नारी के ही तरल दृगों का तथा उसके सुन्दर मुख का ध्यान करके वह अपनी थकान को भूलकर फिर से नवजीवन प्राप्त कर लेता है।

और कौन······बहाकर?

शब्दार्थ—ऊर्मि=लहर। प्रणयन में=रचना में। स्मिति-सहित=हंसी के साथ।

अर्थ—और नारी ही प्रातःकाल में मनुष्य को नई लहर और नई आशा तथा उमंग से सुसज्जित करके उस रण के लिए बाहर निकाल देती है जहां पर जीवन और मृत्यु का संघर्ष छिड़ा हुआ होता है, और जहां मनुष्य इतिहासों की रचना में अपना भी योग-दान करता है।

और शाम को जब पुरुष युद्ध से लौट कर आता है तो नारी ही कभी मन्द-मन्द मुस्कराकर और कभी आंसू बहाकर उसका दिन भर का इतिहास सुनती रहती है।

नारी क्रिया······बन जाता है।

शब्दार्थ—क्षान्ति=शांति।

अर्थ—नारी क्रिया नहीं है, बल्कि वह तो केवल क्षमा, शांति और करुणा की साकार मूर्ति है, इसीलिए जब भी इतिहास नारी के निकट पहुंचता है तो वह या तो अचल हो जाता है, या कविता बन जाता है।

हाय भविष्य······भवन-भवन में।

शब्दार्थ—निनद=निनाद, कोलाहल।

अर्थ—रे स्वप्न! न जाने इस पृथ्वी पर वह सुनहला भविष्य कब अवतरित होगा जब यहां पर कोलाहल नहीं,बल्कि शान्ति का राज्य होगा,और दिन भर के संघर्ष में पुरुष जिस इतिहास का निर्माण करेगा, वह सांझ होते ही प्रत्येक भवन में काव्य का रूप धारण करेगा।

कहने का भाव यह है कि काव्य का विषय गरिमा से युक्त होता है, अत: कब मनुष्य ऐसे महान् कार्य करेगा जो काव्य के विषय के उपयुक्त होंगे।

अभी चंड······महिमा से।

शब्दार्थ—चंड=प्रचंड। प्रखर=तीखी। वह्नि=आग। स्यात्=शायद। अशब्द=नीरव। नरेश्वरी=नारी।

अर्थ—अभी तो स्वार्थों के संघर्षण से भीषण दोपहरी आई हुई है, सूर्य अपनी तीखी गर्मी लेकर तप रहा है। दिन आग के अनुकूल तथा पौरुष के गुणों से समन्वित है, किन्तु जब रात आयेगी तो शायद संसार का कोलाहल समाप्त हो जायेगा और तब समूची पृथ्वी महती नारी की शीतलता प्रदान करने वाली महिमा से भीग जायेगी।

और देवि!······त्रिया के।

शब्दार्थ—प्रभुत्व-तृषा से=प्रभुता पाने की इच्छा से।

अर्थ—और देवि! यह भी सुन लो कि जिन दिव्य गुणों के समूह को मानवता कहते हैं, उन गुणों के अधिक निकट पुरुष नहीं नारी है, अर्थात् पुरुष की अपेक्षा नारी में मानवता के गुण अधिक होते हैं। मनुष्य का हृदय जितना अधिक प्रभुता पाने की इच्छा से दु:खी हो रहा है, नारी के जीवन में इतना अधिक कभी नहीं होता, अर्थात् नारी से प्रभुता पाने की इच्छा भी अपेक्षाकृत कम होती है।